श्री मद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर-विरचिता

सूक्त मुक्तावली

सम्पादक

आचार्य देव श्री जयानन्द सूरीश्वरादि मुनिमण्डल :

प्रकाशक

गुरू श्री रामचंद्र प्रकाशन समिति भीनमाल

णमोत्थु णं भगवओ महावीरस्स ।

जगत्पूज्य-गुरुदेव- जैनाचार्य-श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-

श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

श्रीमद्केशरविमलगणिना विरचितभाषाकवितानुसारेण

श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय स्व. पू. पा. साहित्यविशारद-विद्याभूषण-जैनश्वेताम्बराचार्य

श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वर-विरचिता संस्कृतगद्यमयी-

सूक्तमुक्तावली

संशोधका *उपाध्यायश्रीगुलाबविजयादिमुनयः*

: दिव्याशिष :

श्रीविद्याचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

मुनिराजश्रीरामचन्द्रविजयजी म.सा.

: संपादक :

आचार्यदेव श्री जयानंदसूरीश्वरादि मुनिमण्डल

: प्रकाशक :

गुरुश्रीरामचन्द्र प्रकाशन समिति - भीनमाल.

मुख्य संरक्षक

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्रसूरिश्वे. ट्रस्ट कंदुलवारी स्ट्रीट, विजयवाडा.

(२) आचार्यदेव श्री जयानंदसूरीश्वरजीआदि ठाणा की निश्रा में वि. २०६५में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा,

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा.

(३) एक सद्गृहस्थ - भीनमाल

(४) संघवी उत्तमकुमार, सन्तोषदेवी, कुणाल, मेघा बेटा-पोता रीखबचंदजी ताराजी नागोत्रा सोलंकी परिवार, बाकरा-राजस्थान.

R.T. SHAH & Co. *१, सांबयार स्ट्रीट, जार्ज टाऊन-चेन्नई-६०० ००१*

प्राप्ति स्थान

गुरु श्री रामचन्द्र प्रकाशन समिति भीनमाल

C/o शा. देवीचंद छगनलालजी

सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने,

माघ कॉलोनी, भीनमाल-343 029 (राज.) फोन : 02969 - 220 387

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढ़ी

साँथू - 343 026

जिला : जालोर (राज.) फोन : 02973 - 254 221

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड़,

पालीताणा - 364 270 फोन : 02848 - 243 018

श्री विमलनाथ जैन पेढ़ी

बाकरा गाँव - 343 025 (राज.)

फोन : 02973 - 251 122 94 134 65 068

श्री सीमंधर जिन राजेन्द्र सूरि मन्दिर

शंखेश्वर तीर्थ मन्दिरजी के सामने,

शंखेश्वर, जिला पाटण, गुजरात

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक संघ ट्रस्ट

तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड़ - 343 025

जिला - जालोर (राज.)फोन : 02973 251 144

द्रव्य सहायक

श्री गौडी पार्श्वनाथ जैन पेढी

आहोर

श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय
त्रिस्तुतिक संघ, आहोर

संरक्षक

1. सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज. के. एस. नाहर, 201 सुमेर टॉवर्स, लवलेन, मझगांव, मुम्बई-10
2. मीलियन ग्रुप, सूराणा, राज. मुम्बई, दिल्ली, विजयवाडा
3. एम. आर. इम्पेक्स, 16-ए हनुमान टेरेस, दूसरा माला, तारा टेम्पल लेन लेमीग्टन रोड, मुम्बई-7. फोन - 2380 1086
4. श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुम्बई, महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना, 364270
5. संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्री श्रीमाल वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, 305 स्टेशन रोड़, संघवी भवन, ठाणे, मुम्बई।
6. विजुबेन चिमनलाल, शांतिभाई डाहयालाल, मोंघीबेन अमृतलाल दोशी के स्मरणार्थ अनीलभाई, निकिताबेन ए, नैनाबेन डी, शिल्पाबेन एन के मासक्षमण एवं दीपकभाई, निलांगभाई, नैनाबेन, भव्याकुमारी के वर्षीतप अनुमोदनार्थ अमृतलाल चिमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद(मुम्बई)।
7. शत्रुंजय तीर्थ नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचन्द, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म-अरिहन्त नोवेल्हटी, जी. एफ-3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुर टंकशाला रोड़, अहमदाबाद।

8. थराद निवासी भणशाली मधुबेन कांतिलाल अमुलख भाई परिवार।

9. शा कांतिलाल केवलजी गांधी सियाना निवासी द्वारा 2062 में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते।

10. लहेर कुंदन ग्रुप, शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

11. 2063 में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार प्रिन्केश, केनित, दर्शित, चुन्नीलालजी मकाजी कासम गौत्र त्वर परिवार गुड़ा बालोतान् 'जय चिंतामणी' 10-543 संतापेट नेल्लूर (आ.प्र.)

12. पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार अशोक कुमार, मिथुन, संकेश, सोमील बेटा पोता परपोता शा पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुड़ा बालोतान् नाकोड़ा गोल्ड, 70 कंसारा चाल, बीजा माले रूम नं. 67, कालबादेवी मुम्बई।

13. शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड., के. वी. एस. कोम्पलेक्ष, 3/1 अरूंडलपेट, गुन्टूर।

14. एक सद्गृहस्थ, धाणसा।

15. गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखिलकुमार बेटा पोता परपोता छगनलालजी प्रेमाजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.) 4341 स्कैलेन्ड ड्रीव,अट्लांटा, जोर्जीया, यू.एस.ए.-30342, फो. 404-432-3086, 673-521-1150

16. शांतिरूपचंद रवीन्द्रचंन्द्र, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव,

अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी मेहता, जालोर-बेंगलोर।

17. वि. सं. 2063 में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजी मुथा शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एण्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा।

18. बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर बेटा-पोता चंपालालजी सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल, नवकार टाइम, 59, नाकोड़ा स्टेट न्यू बोहरा बिल्डींग, मुम्बई - 3.

19. शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटिंग, पो. बी. नं. 108, विजयवाडा।

20. श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. फर्म : राजेन्द्र ज्वेलर्स, 4 रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुम्बई-34.

21. पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शनकुमार बेटा-पोता सुमेरमल वरदीचंदजी वाणीगोता परिवार आहोर, चेन्नई। जे. जी. इम्पेक्स प्रा. लि. 55 नारायण मुदली स्ट्रीट चेन्नई 79.

22. स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

23. मु. श्री जयानंद विजयजी आदि की निश्रा में चातुर्मास एवं उपधान

शत्रुंजय तीर्थ करवाया लहेर कुंदन ग्रुप श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा निवासी ने उस समय आराधक एवं भक्त जनों की साधारण की राशी में से सवंत 2065.

24. मातुश्री मोहनीदेवी पिताश्री सोवलचन्दजी कि पुण्य स्मृति में शा. पारसमल, सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेष, श्रीकेष, दिक्षित, प्रीष, कबीर बेटा-पोता सोवलचन्दजी कुंदनमलजी मेंगलवा (राज.)। फाईब्रास कुंदन ग्रुप, 35 पेरूमाल मुदाली स्ट्रीट, साहुकारपेट, चैन्नई।

25. शा. सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, मेटल एण्ड मेटल, नं. 136 गोविन्दापा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई।

26. शा दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग 3-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुम्बई-2

27. कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गोतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रवीन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, 11-32-3 ए पार्क रोड़, वियजवाडा, सिकन्द्राबाद।

28. शा नरपतराज, ललीतकुमार महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन अश्वीन,सींकेश, यश बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, 4/2, ब्राडी पेठ, गुन्टूर-2।

29. शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीर कुमार, प्रवीणकुमार,दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया, मोदरा(राज.)गुन्टूर।

30. एक सद्‌गृहस्थ(खाचरौद)

31. श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा, हितेन्द्र मार्केटींग, 11-एक्स-1 काशी चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्पलेक्स, पहला माला, चेन्नई-89।

32. मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा - मुम्बई। पी.टी. जैन, रोयल सम्राट, 406-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुम्बई-62

33. गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुम्बई, विजयवाड़ा दिल्ली जुगराज ओटमलजी, ए 301/302, वास्तु पार्क, मलाड (वे.) मुम्बई।

34. राज राजेन्द्रा टेक्सटाईल्स एक्सपोर्टस लिमिटेड 101, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट) मुम्बई, मोधरा निवासी।

35. प्र. शा. दी. सा. श्री मुक्ति श्रीजी की शिष्या वि. सा. श्री मुक्तिदर्शिता श्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोदेवी की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, ह्रितिक, आहोर (राज.)। कोठारी मार्केटींग 10/11, चितुरी कोम्पलेक्ष, विजयवाडा-1

36. पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई कटारिया संघवी परिवार आयोजित सम्मेत शिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद, उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार बेटा पोता सोनराजजी मेघाजी-धाणसा - पुना। अलका स्टील, 858, भवानी पेठ, पुना-52

37. मु. श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में 2062 में पालीताणा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते श्रीमती हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी, शांतिलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार, विजयकुमार आहोर/बेंगलोर।

38. मु. श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में 2066 में तीर्थेन्द्र नगर बाकरारोड में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते श्रीमती मेतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोधरा/गुन्टूर।

39. संघवी कान्तीलाल, जयंतीलाल, राजकुमार, राहुलकुमार एवं समस्थ श्री श्री श्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण (राज.) संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी 85, नारायण मुदाली स्ट्रीट, चेन्नई - 79

40. संघवी भंवरलाल, मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार, आलासन। राजेश इलेक्ट्रीकल्स, 48 राजा बिल्डींग, तिरूनेलवेली - 627 001

41. शा. कान्तीलालजी मंगलचन्दजी हरण, दाँसपा, सी 103/104, वास्तु पार्क, एवर साइन नगर, मलाड (वे) मुम्बई-64

42. शा. भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा-पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल (राज.) राजरतन इलेक्ट्रीकल्स, के.सी.आई. वायर्स प्रा. लि. 162, गोवीन्दाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई - 600 001

43. शा. समरथमल, सुकराज, मोहनलाल महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.)। अरूण एन्टरप्राईजेस, 4 लेन, ब्राडी पेठ, गुन्टूर-2

44. शा. गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेष, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी

साँथू (राज.)। फूलचंद भंवरलाल, 108 गोवींदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-1

45. भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गोतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सरत। मंगल मोती सेन्डीकेट, 14/15 एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-53 ।

46. बल्लु गगलदास वीरचंदभाई परिवार थराद / मुम्बई।

47. श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा। फेन्सी डाइमण्ड 11, श्रीजी आरकाड, प्रसाद चेम्बर्स नी पाछल टाटा रोड़, नं. 1-2, ओपेरा हाउस, मुम्बई-4 ।

48. देसाई शांतिलाल, उत्तमचंद, विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतिभाई, थराद-मुम्बई।

49. बन्दामुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश बेटा पोता मेघराजजी फूसाजी नं. 43, आइदाप्पा, नायकन स्ट्रीट साहुकारपेट, चेन्नई-79 ।

50. श्रीमती बदामीदेवी दीपचन्दजी गेनाजी मांडवला (राज.)। चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते हस्ते सह परिवार।

51. आहोर से आबू देलवाडा तीर्थ का 6 रि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव बेटा पोता सुगालचन्दजी लालचन्दी लुंकड परिवार, आहोर (राज.)। फर्म : मैसुर पेपर सप्लायर्स, नं. 5, श्रीनाथ बिल्डींग, सुलतानपेट सर्कल, बेंगलोर-53 ।

52. एक सदगृहस्थ, बाकरा(राज.)।

53. स्व. पिताश्री हिराचंदजी स्व. मातुश्री कुसुमबाई स्व. ज्येष्ठ भ्राताश्री पृथ्वीराजजी, श्री तेजराजजी के आत्मश्रेयार्थे मुथा चुन्निलाल, चन्द्रकुमार, किशोरकुमार, पारसमल, प्रकाशकुमार, जितेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विकाशकुमार, कमलेश, राकेश, सन्नि, अशिष, नीलेश, अंकुश, पुनीत, अभिषेक, मोन्टु, नितिन, आतिश, निल, महावीर, जैनम, परम, तनमै, प्रनै बेटा पोता परपोता हिराचन्दजी चमनाजी दांतेवाडिया परिवार, मरूधर में आहोर (राज.)। हीरा नोवेल्टीस, फ्लवर स्ट्रीट, बल्लारी।

54. थराद निवासी मुमुक्षु दिनेश भाई हालचन्द भाई अदाणी ना दीक्षा निमित्ते आवेल बहुमान नी राशी मां थी हस्ते हालचन्द भाई वीरचन्दभाई अदाणी एवं समस्त परिवार।

55. माईनॉक्स मेट्ल प्रा. लि. नं. 7, पी. सी. लेन, एस.पी. रोड क्रॉस, बेंगलोर-मरूधर में सायला (राज.) बेंगलोर, मुम्बई, चेन्नई, अहमदाबाद।

56. श्रीमती प्यारी देवी भेरमलजी जेठाजी श्री श्री श्रीमाल अग्नीगोता परिवार अमरसर (सरत) राज. बाकरा रोड़ में चातुर्मास एवं उपधान तप निमित्ते हस्ते संघवी भंवरलाल, अमीचन्द, अशोककुमार, दिनेशकुमार फर्म : अम्बीका ग्रुप, विजयवाडा (आ.प्र.)

57. सुआबाई ताराचंदजी, वाणीगोता परिवार, बागोडा (राज.)। फर्म : बी-ताराचंद एण्ड को. ए-18, भारत नगर, ग्रान्ट रोड़, मुम्बई-7

58. 2069 में मुनि श्री जयानंद विजयजी की निश्रा में श्री बदामीबाई, तेजराजजी आहोर श्री इन्द्रादेवी रमेशकुमारजी गुडा बालोतान एवं श्री मुलीबाई पूनमचंदजी, साँथू तीनो ने पृथक-पृथक नव्वाणु यात्रा करवायी, उस समय आयोजक एवं आराधकों की ओर से नव्वाणुं यात्रा की राशी में से (पालीताणा)

59. शा जुगराज फुलचंदजी एवं अ. सौ. कमलादेवी जुगराजजी श्री श्री श्रीमाल चंद्रावण गोत्र के जीवित महोत्सव एवं पद्मावती सुनाई के प्रसंगे पुत्र किर्तीकुमार, महेन्द्रकुमार, निरंजनकुमार, राजेशकुमार पौत्र अमित, कलपेश, परेश, मेहुल वंश एवं समस्थ श्री श्री श्रीमाल चंद्रावण परिवार आहोर (राज.)। फर्म : महावीर पेपर एण्ड जनरल स्टोर्स 22-2-6, क्लोथ बाजार, गुन्टूर (ए.पी.)

60. शा जुगराज, छगनलाल, भंवरलाल, दुरगचन्द, घेवरचन्द, दिनेशकुमार, विजयराज, महावीरचंद, विक्रमकुमार, विकाशकुमार, सुरेशकुमार, गौतमचंद, नितेष, विशाल, ध्रुव पुत्र पौत्र प्रपौत्र मातुश्री सुखीबाई मिश्रीमलजी सालेचा परिवार, धाणसा (राज.)। फर्म : श्री राजेन्द्रा होजरी सेन्टर नं. 11, बी. बी. टी. स्ट्रीट, मामुलपेट, बेंगलोर-53

61. श्री तीर्थेन्द्र नगर तीर्थ 2070 वर्ष श्री पंचमंगल महा श्रुत स्कंध उपधान तप आराधना निमित्ते संघवी श्रीमती पातीदेवी भारतमलजी भगाजी वेदमुथा सुपुत्र माँगीलाल, गणपतचन्द, रमेशकुमार, कैलाशकुमार, सुपौत्र ललित, मुकेश, निर्मल, दिनेश, प्रवीण, राजेश, संजय, अरविंद, विक्रम, युवराज, जितेश परिवार, रेवतडा - बेंगलोर। फर्म : शा. सुमेरमल मांगीलाल, मामुलपेट, बेंगलोर - 560 053

62. स्व. सुमटीबाई घेवरचंदजी शेषमलजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोत्र के स्व. द्रव्य से पारणा मन्दिर की प्रतिष्ठा निमित्ते - आहोर (कल्याण)।

63. श्रीमती भवरीबाई एवं कान्तिलालजी शेषमलजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोत्र के जीवित महोत्सव निमित्ते (आहोर)। कान्ति ज्वेलर्स एवं आर. फन. सीटी (कल्याण)

सह संरक्षक

1. शा. तीलोकचंद मयाचंद एण्ड कं. 116, गुलालवाडी, मुम्बई - 4
2. स्व. मातुश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल, जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी, जालोर। प्रविण एण्ड कं. 15-8-110/2, बेगम बाजार, हैदराबाद - 12
3. मेहता सुबोधभाई उत्तमलाल, धानेरा / कोलकत्ता।
4. पूज्य पिताजी ओटमलजी एवं मातुश्री अतीयो बाई एवं धर्मपत्नि पवनीदेवी के आत्म श्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु), अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, डोसी चौपडा परिवार, आहोर फर्म: श्री राजेन्द्र स्टील हाउस-गुन्टूर-ए.पी.
5. पूज्य पिताजी शा प्रेमचन्दजी छोगाजी कि स्मृति में मातृश्री पुष्पादेवी सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा, रेवतडा (राज.)। श्री राजेन्द्र टॉवर्स, नं. 13, समुद्र मुदाली स्ट्रीट, चैन्नई।
6. गाँधी मुथा स्व. मातुश्री पानीबाई एवं पूज्य पिताश्री पुखराजजी की स्मृती में पुत्र गोरमल, भागचन्द, निलेश, महावीर, वीकेन, मिथुन, रिषभ, योनिक बेटा पोता पुखराजजी समनाजी गेनाजी, सायला (राज.)। फर्म : वैभव ए टू जेड डॉलर शॉप, वास्वी महल रोड़, चित्रदुर्गा 577 501 कर्नाटका।
7. शांतीदेवी मोहनलालजी उपधान वर्षीतप आदि तपश्चर्या निमित्ते हस्ते मोहनलाल, विकास, राकेश, धन्या बेटा पोता गणपतचन्दजी सोलंकी जालोर (राज.)। फर्म : शांती इम्पोर्ट्स 11-54-42 नंदी पाटीवारी स्ट्रीट, विजयवाडा (ए.पी.)

8. पूज्य पिताजी मनोहरमलजी के आत्म श्रेयार्थे मातुश्री पानीदेवी के उपधान तप निमित्ते हस्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार श्री श्री श्रीमाल गुडाल गोत्र नेथाजी परिवार आलासन (राज.)। फर्म : एम. के लाईट्स, 897 अविनाशी रोड़, कोईम्बटूर - 641018।

9. स्व. पूज्य पिताजी श्री मानमलजी भीमाजी क्षत्रिया बोहरा कि स्मृति में हस्ते मातुश्री सुआबाई सुपुत्र मदनराज, महेन्द्रकुमार, भरतकुमार, नितिन, श्लोक, संयम, दर्शन एवं समस्त क्षत्रिया बोहरा परिवार, सुराणा (राज.)।कोईम्बटूर/मुम्बई।

10. शा. ताराचन्द भोनाजी आहोर।फर्म: मेहता नरेशकुमार एण्ड कं. पहला भोईवाडा लेन, मुम्बई-400 002

11. 1992 में बस यात्रा प्रवास, 1995 में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष में संघवी भबुतमल, जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकुश, रितेष एवं समस्त नाणेशा परिवार, सियाण (राज.)। फर्म : प्रकाश नोवेल्टीज, सुंदर फर्नीचर्स, नं. 714, सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड़, पूना - 411030

12. स्व. पू पिताजी श्री पीरचंदजी एव स्व. भाई श्री कान्तिलालजी की स्मृति में माताजी पातीदेवी पीरचंदजी पुत्र हस्तीमल, महावीरकुमार, संदीप, प्रदीप, विक्रम, निलेष, अभीषेक, अमीत, हार्दिक, मानू, तनिश, यश, पक्षाल, नीरव बेटा पोता परपोता पीरचंदजी केवलजी भंडारी-बागरा (राज.)।फर्म: पीरचंद महावीरकुमार मैन बाजार गुन्टूर (ए.पी.)

13. सियाणा से बसो द्वारा शत्रुंजय - शंखेश्वर छःरि पालित यात्रा संघ 2065 हस्ते संघवी प्रतापचंद, मूलचंद, दिनेशकुमार, हितेशकुमार, निखील, पक्षाल बेटा पोता पुखराजजी बालगोता सियाण (राज.)।

फर्म: जैन इन्ट्रनेशनल, नं. 95 गोवींदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चैन्नई

14. स्व. पू. पि. शांतिलाल चीमनलाल बलु मातुश्री मधुबेन शांतिलाल, अशोकभाई, सुरेखाबेन आदीकुमार, थराद। अशोकभाई शांतिलाल शाह, नं. 201, कोश मोश एपार्टमेंट, भाटीया स्कूल के सामने साई बाबा नगर, बोरीवली (प) मुम्बई - 400 072

15. शा. जीतमलजी अन्नाजी, मु. पो. नासोली, वाया : भीनमाल, जिला जालोर (राज.) । दादर / मुम्बई। फर्म : अशोका गोल्ड, '7' काका साहेब गाडगील मार्ग, खेड गली, प्रभादेवी, मुम्बई - 400 025

16. हिम्मतराज, सुरेश, अरविन्द, तनेश, दिव्य कटारीया संघवी बेटा पोता गणेशमलजी कनाजी, सांचौर (राज.) । फर्म : एम्पायर मेटल्स इण्डिया, मुम्बई।

17. श्रीमती पूज्य मातुश्री विमलाबाई एवं पिताश्री मिश्रीमलजी की पावन स्मृति में पुत्र राजेशकुमार मिश्रीमलजी मगाजी सालेचा, मोधरा (राज.) फर्म : राजगुरू इन्टरप्राईज, चेन्नई (टी. एन.)।

-:: सादराञ्जलीगुरुस्तुतिः ::-

श्रीराजेन्द्रगुरुर्जनोपकृतिके लीनो ह्यभून्नौमि यं ।
राजेन्द्रेण कृतोऽतिधर्ममहिमा ध्यायन्ति यस्मै समे[1] ॥
राजेन्द्रात्तु जनाः स्वधर्मनिरता यस्यैव निर्देशगा ।
राजेन्द्रे गुरुसद्गुणास्तमभवन् तस्माद्भजन्तेऽखिलाः ॥१॥

सत्कीर्तिर्गुरुणार्जितातिविमला ज्ञानक्रियाभ्यां बुधाः! ।
सञ्जित्याखिलवादिनश्च समितौ[2] विस्तारितः सज्जयः ॥
सच्छास्त्रैः स्वकृतैर्विदामुपकृतं राजेन्द्रकोशादिकै-
श्चक्रे चैवमनेककार्यमवनौ राजेन्द्रसूरीश्वरः ॥२॥



1. सर्वे । 2. सभायाम् ।

जैनाचार्य-श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-गुरुगुणाष्टकम् -
(इन्द्रवज्रावृत्ते)

यस्य स्वरूपं प्रवरं प्रसिद्धं, यो भव्यवृन्देन सदैव मान्यः ।
भट्टारकश्रीविजयादियुक् तं, राजेन्द्रसूरिं सुगुरुं हि वन्दे ॥१॥

आद्यन्तपर्यन्तसुयोगबुद्ध्या, निर्दोषचारित्रविभूषितात्मा ।
शीतादिदुःख्यान्यजयच्च तस्माद्, राजेन्द्रसूरिं जयिनं हि मन्ये ॥२॥

राजेन्द्रकोषाभिधकोशमुख्यो-ऽप्येवञ्च शास्त्राण्यपराण्यकारि ।
ज्ञानं तथा ध्यानममुष्य सत्यं, राजेन्द्रसूरिं विबुधं हि सेवे ॥३॥

यस्योपदेशो हृदयंगमोऽभूद्, भव्यात्मनि द्योतकरप्रदीपः ।
षड्दर्शनानां स्फुटबोधकर्त्ता, राजेन्द्रसूरिं तरणिं हि भेजे ॥४॥

सत्यप्रतिष्ठा महतीह लोके, ज्ञानक्रियाद्यैः सुगुणैस्तु यस्य ।
आबालवृद्धा हि विदन्ति सर्वे, राजेन्द्रसूरिं कृतिनं हि नौमि ॥५॥

अर्हत्प्रतिष्ठाञ्जनकानि हर्षे-णोद्यापनानि व्रतशालिनाञ्च ।
लेभे सुकीर्तिं ह्यति कारयित्वा, राजेन्द्रसूरिं गुणिनं समीडे ॥६॥

सर्वत्र वादे जयमेव लेभे, भूयश्च वर्षर्तुषु धर्मकार्यम् ।
इत्थं विहारेऽपि सुकीर्तिमाप, राजेन्द्रसूरिं प्रवरं हि जाने ॥७॥

जातीयमुद्धारकमत्र चक्रे, चीरोलकादौ सुविदन्ति सर्वे ।
एवं प्रजानामुपकारकोऽभूद्, राजेन्द्रसूरिं सुतरिं हि बुध्ये ॥८॥

लेभे यो जन्म दीक्षां च भरत उदये साऽऽज्ञया हेमपार्श्वे,
चाऽऽहोरेऽस्यां सुपूज्यो व्रतसमितियुतो जावरापत्तनेऽभूत् ।
श्रीमद्राजेन्द्रसूरिस्त्विति विजययुतः ख्यातितामाप सर्वान्,
स स्वर्गी राजदुर्गे दिशतु शमिति मे वक्ति साधुर्गुलाबः ॥९॥

टीकेयमन्तिमस्त्रग्धरापद्यस्य – पूर्णसुन्दरतरे भरतपुरे निवासिन ओसवंशीय–पारिखगोत्रीयश्रेष्ठिवर्य्य–श्रीऋषभदासस्य केसरीनाम्न्या स धर्मचारिण्याः कुक्षितः सुसमये रत्नराजीयं जन्म वैक्रमीयेऽब्दे गुणवसुगजेन्दुवत्सरे १८८३ समजायत ।

तदनु लघुवयस्येव सकुटुम्बमातृपित्रोरनुज्ञामादाय यतिवर्यश्रीप्रमोद–विजयबृहद्गुरुभ्रातृहेमविजयेन वेदाभ्राङ्कभूवत्सरे (१९०४) वैशाखशुक्लपञ्चम्यां भृगुवासरे महता समारोहेणोदयपुरे प्रदीक्ष्य श्रीरत्नविजयनाम्नाऽपप्रथत । पुनस्तत्रैव कालान्तरेण तद्धस्तेनैव गुरुदीक्षाप्यभूत् । तस्यामेव यतिदीक्षायां स्वगुरुश्रीप्रमोदसूरिणा श्रीसङ्घसम्मत्या चतुर्विंशत्यधिकैकोनविंशतिवत्सरे (१९२४) माधवशुभ्रपञ्चम्यां सोत्सवेन श्रीपूज्योपाधिना श्रीरत्नविजयोऽलङ्कृतः सन् *श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिनाम्ना* जगत्प्रख्यातिमाप!

ततो मरुधर–मेवाड़–मालवादिदेशेषु श्रीपूज्यपदवीं प्रकाशयन् क्रमेण जावरापुर्यामाजगाम । तत्र (धरणेन्द्रसूरिनाम्ना) प्राचीन–श्रीपूज्येन गच्छशुद्धिकारकनवनियमान् स्वीकारयित्वा श्रीसङ्घकृतभक्त्युत्सवेन पञ्चविंशत्यधिकैकोनविंशतिवर्षे (१९२५) आषाढकृष्णदशम्यां शनिवासरे श्रीपूज्यं समग्रपरिग्रहं त्यक्त्वा पञ्चसमितित्रिगुप्तियुक्तमहाव्रतधारी प्रसिद्धक्रियोद्धारकः सुगुरुर्जज्ञे ।

तदनन्तरं देशदेशान्तरीयभूमण्डले विहृत्य षष्टिचतुर्मासीं विधाय जिनशासनं समुन्नीय भव्यजीवांश्च समुद्धृत्य त्रिषष्टयधिकैकोन–विंशतिसंवत्सरे (१९६३) पौषसितसप्तम्यां मालवदेशस्थराजगढनगरे स्वर्गसुखं संजगृहे ।

स श्रीगुरुवर्य्योऽखिलान् जीवान्मे च श्रेयो दिशतु, इति श्रीगुलाब–विजयो मुनिः सकलश्रीसङ्घसमक्षे निगदति ।

अथ जैनाचार्य-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरीश्वर-गुरुगुणाष्टकम् - (उपेन्द्रवज्रावृत्ते)

अनेकधर्माकुलविश्वसिन्धोः, सुरत्नवच्छासनमार्हतं सत् ।
प्रपद्य योऽभूत्किल विश्ववन्द्यो, नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥१॥

सदा मदाविष्टधियो द्विषोऽपि, सदागमैर्वर्मितविग्रहं यम् ।
विलोक्य बिभ्युर्विधुतात्मगर्वा, नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥२॥

सुखश्रवां कर्मवितानहन्त्रीं, यदीयवाचं सुनिपीय भव्याः ।
अमर्त्यलोकं कति संप्रयाता, नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥३॥

कुधर्ममार्गे पततां जनानां, शिवाय योऽदात्सुजिनोपदेशम् ।
कषायदोषोज्झितमार्यवेशं[1], नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥४॥

यदीयसौजन्यगुणान्प्रभाते, मुदा सुगायन्ति बुधा हि नित्यम् ।
नितान्तशान्तं द्विजराजकान्तं[2], नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥५॥

परोपकारार्थमलम्भविष्णुः[3], करालकर्मारिकृते च जिष्णुः[4] ।
बभूव यो यै नितरां सहिष्णु-र्नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥६॥

दयामयः सत्कृतसभ्यवर्गः, समस्तभव्यार्चितपादपद्मः ।
ररक्ष यो जन्तुगणान्विपत्ते-र्नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥७॥

यदीयनामस्मरणात्पुनीते, सकिल्बिषोऽपि[5] द्रुतमत्र लोके ।
परत्र सौख्यं च लघु प्रयाति, नमामि तं श्रीधनचन्द्रसूरिम् ॥८॥

दिवामुखे योऽष्टकमेकवारं, पठेन्नरः श्रीधनचन्द्रसूरेः ।
लभेत नूनं स निजात्मबोधं, ब्रवीति हंसो हि हितः समेषाम्[6] ॥९॥

-मुनि-हंसविजयः

---

1. प्रवेशद्वार, आवास । 2. बृहस्पतिप्रिय । 3. समर्थ । 4. इन्द्रसम 5. पापसहित । 6. सर्वेषाम् ।

श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वर-गुरुगुणाष्टकम्

(इन्द्रवज्राछन्दसि)

दुष्प्राप्यमत्रार्यकुले नरत्वं, संप्राप्य चार्हद्वृषमिद्धतत्त्वम् ।[1]
चन्द्रावदातं भुवि सुप्रभातं, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥१॥

विद्योतिता येन धिया धरित्री, पात्रीकृता भूरिजनाः शिवस्य ।
तं सूरिभूपेन्द्रमनन्तकीर्तिं, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥२॥

क्षान्त्या क्षितिं योऽजयदब्धयश्च, गाम्भीर्यतो येन कृता अनुच्चैः ।
शान्त्या च सन्तस्तमनल्पबोधं, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥३॥

यत्कीर्तिमालानिभपाठशाला, -स्तीव्रीनगर्यादिषु जैनबालाः ।
संश्रित्य यच्श्लोकमभिष्टुवन्ति, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥४॥

वाचां विलासैः सुधियां धियोऽपि, चित्रीकृताः संसदि येन भूरि ।
तं लोकमान्यं नितरां वदान्यं, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥५॥

जाज्वल्यमाने महसां सुपुञ्जे, विद्योतते भव्यजनो यदीये ।
दन्दह्यते द्वेषिपतङ्गिका तं, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥६॥

यं कल्पवृक्षाभमुपेत्य भव्याः, श्रेयःफलं प्रापुरमन्दभावैः ।
गेयं सतां सूरिशिरोमणिं तं, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥७॥

यत्स्थापिताश्चैत्यपताकिकास्तं, वातेरिता अङ्गुलिसंज्ञयेव ।
आकारयन्तीव जिनं दिदृक्षून्, भूपेन्द्रसूरिं सुभजन्तु भव्याः! ॥८॥

प्रभाते पठेदष्टकं यः सुभक्त्या, गुरोः श्रीलभूपेन्द्रसूरेश्च नित्यम् ।
इहामुत्र कल्याणसौख्यं प्रयाति, विशालं कुलं स्वर्गलोकञ्च नूनम् ॥

-मुनि-कल्याणविजयः

---

1. इद्धं (प्रकाशितं) तत्त्वं येन स इद्धतत्त्वस्तम् ।

प्राथमिक-वक्तव्य

प्रियपाठकगण ! जैनसाहित्य द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरितानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चार विभागों में विभक्त है । प्रस्तुत ग्रन्थ इन विभागों में से धर्मकथानुयोग का ही एक शुभ ग्रंथ है । इस ग्रंथ का निर्माण विक्रम सं. १७५४ में पं. श्री केशरविमलजी गणिवर ने किया है जो कि- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों विभागों में विभक्त है, ग्रंथप्रणेता ने इस ग्रंथ में हर एक विषय पर भाषा छन्द देकर उसका विवेचन अच्छे ढंग से किया है और प्रत्येक विषय की पुष्टि करने के लिए शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त कथाएं देकर ग्रंथ की उपादेयता और भी बढ़ा दी है । प्रायः यह ग्रंथ मालिनी छन्द में ही विशेष निबद्ध है और अनेक विषय की उपदेशरूप सूक्तोक्ति होने के कारण ग्रंथ का नाम भी 'यथा नाम तथा गुणः' इस कहावत के अनुसार 'सूक्तमुक्तावली' ऐसा यथार्थ नाम रक्खा गया है । यह ग्रंथ भीमसिंह माणक के द्वारा मुद्रित हो चुका है । इस ग्रंथ की भाषा १८वीं शताब्दी में प्रचलित गुर्जर व अन्यदेशीय भाषाओं से मिश्रित है । प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के लिए इस ग्रन्थ का मनन करना अत्यावश्यक है । कर्ता ने हेय उपादेय विषयों का दिग्दर्शन अच्छी शैली से किया है। ऐसे अमूल्य और योग्य ग्रंथ के विषय से संस्कृत के विद्वान् वंचित न रहें, साथ ही साथ व्याख्यान देनेवाले साधु-साध्वियों के लिए भी इस ग्रंथ को अत्युपयोगी समझकर पू. पा. साहित्य विशारद विद्याभूषण आचार्यदेव श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज सा. ने सं. १९८१ में इस ग्रंथ का संस्कृत अनुवाद सरल, मधुर एवं ललित भाषा में किया था । परन्तु आपकी विद्यमानता में यह ग्रंथ कतिपय कारणवश प्रकाशित न हो सका, आप के स्वर्गवास बाद सर्वानुमति से यह प्रस्ताव पास किया गया कि- स्वर्गवासी सूरीश्वरजी के उपदेश द्वारा साहित्य प्रकाशनार्थ जो द्रव्य श्रीसंघ में एकत्रित है, उस

द्रव्य का सदुपयोग आपके बनाये हुए ग्रंथ प्रकाशन व ज्ञानरक्षानिमित्त भंडार में किया जाय। ऐसा निश्चय कर आप की चिरस्मृति में सं. १९९५ चैत्र वदि-२ को आहोर (मारवाड़) में वर्तमानाचार्य व्याख्यान वाचस्पति पू. पा. श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज आदि मुनिमंडल ने मिलकर आप के रचित ग्रंथ प्रकाशन निमित्त 'श्रीभूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य प्रकाशक समिति' कायम की और समिति की आर्थिक व्यवस्था के लिए यहाँ के सद्गृहस्थों की एक संचालक समिति भी स्थापित की गई। समिति के ग्रंथसंशोधन तथा प्रकाशित करने का कार्य पू. पा. उपाध्यायजी श्रीमान् गुलाबविजयजी महाराज, मुनिप्रवर तपस्वी श्रीहर्षविजयजी, शान्तमूर्ति मुनिराज श्रीहंसविजयजी तथा विद्याप्रेमी मुनिश्रीकल्याणविजयजी को दिया गया। उक्त मुनिवरों ने इस ग्रंथ का संशोधन कर मूल ग्रंथ के विषय व संबन्ध आदि में यथोचित सुधाराकार ग्रन्थ को उपादेय बनाने में यथाशक्ति अच्छा प्रयत्न किया है।

ग्रंथान्तर्गत धर्मवर्ग में- देव, गुरु, धर्म का स्वरूप बतलाकर, ज्ञान, मनुष्य जन्मादि ३२ विषय एवं ४८ कथाएँ। अर्थवर्ग में- लक्ष्मी आदि २१ विषय, २२ कथा, कामवर्ग में- कामादि ७ विषय, १३ कथा, और मोक्षवर्ग में- मोक्षादि १० विषय एवं १६ कथाओं का समावेश है। विशेष जिज्ञासुओं को ग्रंथ का विषयानुक्रम अवलोकन करने से स्पष्ट मालूम हो सकेगा। अन्त में ग्रंथकर्ता ने चारों वर्ग का उपसंहार भलीभांति से कर दिखाया है। ग्रंथ के अन्त में मूलकर्ता की प्रशस्ति के साथ २ संस्कृत अनुवादक की भी प्रशस्ति दी गयी है। आशा है कि गुणानुरागी धर्ममार्गानुगामी विद्वज्जन इस ग्रंथ के रचयिता के अमूल्य परिश्रम का यथार्थ सत्कार कर ग्रंथ की उपादेयता को और भी बढ़ायेगें।

निवेदिका :- श्रीभूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य संचालक समिति,
आहोर (राज.)

जैन साहित्यमां कथा साहित्य पण समुद्रनी जेम अगाध-अफाट छे. जैनोनी बे धारा श्वेताम्बर अने दिगम्बर. बन्ने धाराना आचार्योंओ अढलक कथासाहित्य रच्युं छे, संस्कृतमां, प्राकृत-अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनीमां, अपभ्रंश भाषामां, अनर्गल साहित्य रचायुं छे. तो प्रत्यक्ष रीते कथा साहित्य न गणाय तेवो इतर विषयोना शास्त्र ग्रंथोमां मलतुं कथासाहित्य पण अपार छे, स्वाभाविक छे के जुदा-जुदा समयगाळामां रचायेल अने वळी जुदी-जुदी कथा-परंपराने अनुसरता आ साहित्यमां प्रासंगिक फेरफारो थता ज रहे. पात्रोनी वध-घट थाय, पात्रोना नामोमां फेरबदली के उलट-पालट थाय, प्रसंगोना परिवेष बदलतां रहे, संवादोमां शाब्दिक परिवर्तनो आवे, क्यारेक आखा प्रसंगो जे रीते प्रचलित होय ते करतां अलग रीते ज आलेखाय. आवुं बधुं आ कथा साहित्यमां थतु ज रहे छे, बल्के आम थवुं अे सहज गणाय तेम छे. अभ्यासी अध्येता माटे आ एक घणो रसप्रद विषय बने, कथानकनो विकास, कथाघटकोना स्वरूपो तथा परिवर्तनो, कथा प्रसंगोना आलेखनना समयनी सांस्कृतिक-सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिस्थिति, आ बधानुं अध्ययन घणु रसदायक बने.

प्रस्तावना

त्रिषष्टिशलाकापुरुष

संपादक : विजय शीलचन्द्र सूरिजी

जैन रामायण में सुकोशल मुनि की कथा और मण्ह जिणाण आणं के विवेचन ग्रंथ में भावधर्म की व्याख्या के अन्तर्गत सुकोशल मुनि की कथा में महदंतर है । इस सुक्तमुक्तावली में श्री केशरविमलगणि की परंपरा में कथाएँ जिस प्रकार श्रवण में आयी उसी प्रकार कथाओं

का आलेखन किया । और पूज्यपाद श्री भूपेन्द्रसूरीश्वरजी ने उन्हीं कथाओं को संस्कृत में निबद्ध किया है ।

पाठकगण मतांतरों को गौण कर केवल आत्मविकास के शुभ लक्ष्य से ग्रन्थ का रसास्वादन करें ।

शुभं भवतु
– जयानंद

आहोर
मुक्ति विहार प्रतिष्ठा प्रसंगे
२०७१ – वैशाख शुक्ल – ९

साहित्यविशारद-विद्याभूषण-शान्तमूर्ति-आचार्य-श्रीमद्-विजय-भूपेन्द्र-सूरि-परिचयः

अमृतभुजामपि[1] क्रीडास्थली मञ्जुलमालवाभिधजनपदोऽस्ति[2] । तस्मिन् पूर्वरं भोपालनामकं पुटभेदनमस्ति[3], यद् नन्दनवनवदुपवन-विहायश्चुम्बिभवन-नाकि[4]-नाकि[5]नीनिभनरनारीभिश्शोभितमस्ति[6] । तत्र भद्रकपरिणामिनौ धर्मभावनायुक्तौ श्रीमालवंशीयौ सरस्वती-भगवाननामानौ दम्पती ऊषतुः । तयोः कुशल-गङ्गानाम्न्यौ सुत-सुते स्तः स्म ।

एकदा सुप्तसरस्वत्या ब्रह्ममुहूर्ते स्वप्नो दृष्टो यत् "सशृङ्गाराहमुत्तम-पूजासामग्रीं गृहीत्वा देवालयमगममतिहर्षात् पूजां कृत्वाङ्गप्रत्यङ्गाः पुलकिताः।" स्वप्नं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धायास्तस्याः स्वान्त[8]निर्झरादानन्दसलिलस्रोतः प्रवहमान-मासीद् यथा त्रिलोकी[9]सारात्मकवस्तुप्राप्तिरभूत् । शय्यां त्यक्त्वा पूजां कृत्वा कान्त[10]सन्नि[11]धानमागत्य स्वप्नवृत्त[12]मकथयत् । पत्या कथितम्- ते पुत्ररत्नप्राप्ति-र्भविष्यति । पीयूषस[13]धर्मवचनं श्रुत्वानन्दभृता जाता ।

आगर्भधारणात् सरस्वती-हृदये पूजादानादिविविधसुदोहदा उत्पन्नाः। पूर्णे गर्भकाले संवत् १९४० संवत्सरेऽक्षयतृतीयवासरे शुक्तिर्मौक्तिकमिव पुत्ररत्नं प्रासोष्ट । द्वादशदिने समहोत्सवं 'देवीचन्द्र' इति नाम दत्तम् ।

एतत्संसृति[14]स्थप्रत्येकपदार्थो नाशवानस्ति । प्रवहमाना काल-गतिः। अन्त[15]काय कोऽपि प्राणी नागम्यः । रङ्कादापार्थिवं सम[16]वर्तिसमक्षं सर्वे समानाः । न कोऽपि परेतराट्[17]पञ्चशा[18]खाद् मुक्तो मोक्ष्यति वा । देवीचन्द्रोऽपि यदाष्टवर्षीयो जातस्तदा पितरौ काल-कवलितौ । ततोऽधि-

---

1. देवानाम् । 2. मनोहर । 3. नगर । 4. आकाश । 5. देव । 6. देवी । 7. समान । 8. हृदय । 9. तीन लोक का समूह । 10. पति । 11. समीप। 12. वृत्तान्त । 13. समान । 14. संसार । 15-16-17. यमराज 18. हाथ।

देवीचन्द्रं[1] वज्रपातोऽभवत्। मृतिक्रूरताण्डवं[2] प्रपश्य देवीचन्द्रं संसारो निरसः प्रत्यभात्।

एकदा जैसलमेरनिवासि-पारखगोत्रीय-श्रेष्ठि-केसरीमलेन साकं देवीचन्द्रस्य परिचयोऽभवत्। यथाऽयस्कान्तो[3]ऽय आकर्षयति तथैव देवीचन्द्रसौम्याकृतिः प्रथमदृष्टिपाते केसरीमलमाकर्षयत्। उभयसम्बन्धो गाढ-गाढतरोऽभवत्। नित्यं सत्सङ्गो भवितुं लग्नः।

एकदा श्रेष्ठिनोक्तम्- "अहं जैसलमेरं पुनरियर्मि, यदि त्वदाजिगमिषा तर्हि समायाहि। [4]बर्हिणं बलाहक[5]गर्जनया यो हर्षो भवति तथैवेदं श्रुत्वा देवीचन्द्र-मनोमयूरोऽनृत्यत्। स्वसम्मतिमदर्शयत्। सोदर्य[6]-जामि[7]-नियोग[8]ं लात्वा श्रेष्ठिना सह प्रास्थित। किञ्चिद्दिनान्तरं जैसलमेरं प्राप्तौ। तत्र देवीचन्द्रः प्रतिदिनं जिनालयानां दर्शनं पूजनं च तथा ज्ञानालयेऽध्ययनं करोति स्म। तत्रत्यजिनालय-घण्टनादं श्रावं श्रावं[9] तस्यात्मन्यप्यलौकिकान्तर्नादो भवति स्म।

एकदा श्रेष्ठी देवीचन्द्रं लात्वा तीर्थयात्राय निस्सृतः। विविधतीर्थ-दर्शनं कुर्वाणौ निजात्मनं पावयन्तौ राजगढनगरं प्राप्नुताम्। राजगढे केसरीमलगुरुः कलिकालकल्पतरुः क्रियोद्धारकोऽभिधानराजेन्द्रकोषनिर्माता प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरो विराजमान आसीत्। देवीचन्द्रं लात्वा श्रेष्ठी स उपाश्रयं गतः। गुरुदेवं वन्दित्वा तौ संमुखमासाताम्।

[10]प्रत्याग्रास्यं दृष्ट्वा केसरीमलं गुरुदेवस्तत्परिचयमप्राक्षीत्। केसरीमलेन देवीचन्द्रीयसंपूर्णवृत्तान्त ऊदे। सामुद्रिकादिशास्त्रप्रकाण्डविज्ञो राजेन्द्रसूरिस्तस्य दर्शनमात्रेण हीरकपरीक्षक इव हीरकमज्ञासीत्। गुरुदेवो

1. देवीचन्द्र पर। 2. मृत्यु। 3. चुम्बक। 4. मोर। 5. मेघ। 6. भाई। 7. बहन। 8. आज्ञा। 9. श्रुत्वा। 10. नवीनमुख।

व्यागृणाद्–अनागतेऽयं महान् पुरुषो भविष्यति । इयत्श्रवणमात्राद् देवीचन्द्रो गुरुदेवक्रमयोरलुठत्[1] ।

ततो गुरुदेवप्रवाहितवैराग्यदेशनास्रोतसि स्नायं[2] स्नायं देवीचन्द्रात्मा पवित्रतमोऽभूत् । पिपासुचातक इव प्रतिशब्दं पातुं लग्नः । स्वातिभवृष्ट्–[3] जीवनीयं[4] शुक्तौ मुक्ताफलं भवति तथैव गुरुदेवदेशनामृतं वैराग्यमौक्तिके रूपान्तरितम् । पूर्वभवसुसंस्कारबलात् प्रथमदेशनापाथसा[5] एव वैराग्याङ्कुरः प्रकटीभूतः । देवीचन्द्रो गुरुदेवं भवोदधितारिणीं प्रव्रज्यामयाचिष्ट । प्रशस्तदिने भागवतीं दीक्षां दातुं गुरुदेवो निरचिनोत्[6] ।

राजगढाद् विहृत्य गुरुदेवोऽलीराजपुरमागतः । तत्रस्थसङ्घं देवीचन्द्रवृत्तान्तं कथयित्वा दीक्षायोजनं कर्तुमादिदेश । इदं श्रुत्वा श्रीसङ्घोऽत्यन्तं जहर्ष । नन्दूबाईश्राविकया सङ्घाज्ञाया महोत्सवायोजना–नुमतिः प्राप्ता । उल्लासपूर्वकं संवत् १९५२ वत्सरे वैशाखशुक्लतृतीयघस्रे[7] दीक्षितमुनिराजस्य 'मुनि–दीपविजय' इति नाम कृतम् । उपस्थापना च संवत् १९५४ संवत्सरे माघशुक्लपञ्चमीपवित्रदिने जालोरनगरेऽभवत् ।

द्वादशाब्दात्यल्पदीक्षापर्याय एव व्याकरण–काव्य–कोष–न्यायशास्त्राणि कण्ठस्थीकृतानि । योगोद्वहनपूर्वकं दशवैकालिकोत्तराध्य–यनाचाराङ्गप्रमुख– ग्रन्थटीकापठनपाठनं कर्तुं लग्नः । अनारतं ज्ञानपिपासा वृद्धिङ्गतासीत् । गुरुदेवो निजान्तिमावस्थां ज्ञात्वा संवत् १९६३ वर्षे पोषशुक्लतृतीयदिनेऽभिधानराजेन्द्रकोषसम्पादनकार्यं मुनिदीपविजय–मुनियतीन्द्रविजयाभ्यां समर्प्य चिन्तातीतो जातः । *एतत् स्वाभाविकं यत् सुशिष्यो धुरामूढ्वा गुरुं निश्चिन्तं करोति ।* ताभ्यां बृहत्कार्यं समर्प्य संवत्

---

1. चरण । 2. स्नात्वा । 3. नक्षत्र । 4. पानी । 5. पानी से । 6. निश्चित कृत। 7. दिन ।

१९६३ वर्षे पोषशुक्लसप्तमीदिने गुरुदेवो दिवङ्गतः। द्वौ सुशिष्यौ मिलित्वा राजेन्द्रकोषस्य सुषमं[1] सम्पादनमकुर्वातां यस्य फलमद्यापि विश्वविश्व-मास्वादते[2]।

संवत् १९८० वर्षे ज्येष्ठशुक्लाष्टमीशुभदिने जावरानगर आचार्यपदेन विभूषितः। तन्नाम परिवर्त्य "आचार्य-श्रीमद्-विजय-भूपेन्द्र-सूरिः" इति घोषितम्। समस्तत्रिस्तुतिकसङ्घे हर्ष-लहरी प्रसृता। गुरुदेवेन देवीचन्द्रं दृष्ट्वा या भविष्यवाणी कृता सा सत्या जाता। *पूज्यपुरुषवचनानि ब्रह्मास्त्राणीवामोघानि भवन्ति। अत ऐहिकामुष्मिकफलार्थिभिः प्रयत्नपूर्वकं प्रसाद्या गुरवः।*

सुधर्मस्वामिपट्टासीनो भूत्वा गुणान् पराकाष्ठामनयत्। नैकानि शासनप्रभावनाकार्याणि कृतानि। उपधान-सङ्घ-प्रतिष्ठा-दीक्षा-बृहद्दीक्षादि-विविधशासनकार्याणि कृत्वानेकात्मोन्नत्तिसहायको बभूव। ग्रामं ग्रामं धार्मिकपाठशालाः प्रारम्भिताः। अनेकसङ्घभेदं भित्त्वैकता कारिता। एतद्वाणीप्रभावितबहुजैनेतरा अपि क्रव्य[3]-कादम्बरी[4]-खेटक[5]दिव्यसनत्याग-मकुर्वन्त। बागराचातुर्मासि करेणु[6]विनाशं ज्ञापयित्वा स्त्रीषु स्तम्बेरदन्तनिर्मित[7]-वलय[8]-धारण-कुप्रथा त्याजिता। इत्थं ग्राम-नगरेषु शासनप्रभावनां कुर्वदाचार्यस्य यशो दिशोदिशं व्याप्तम्।

संवत् १९८३ वत्सरे थिरपुर (थराद)-चातुर्मासे 'आनन्दजी-कल्याणजी पेढी' द्वारा प्रेषितं पत्रं प्राप्तं, यस्मिन् लिखितम्- "राजकोट-एजन्टेन शत्रुञ्जयतीर्थयात्रा प्रतिबन्धिता।" समाचार-प्राप्त्यनन्तरं कृत्स्न[9]थिर-पुरपुरे शोको व्याप्तः। पूज्याचार्यभगवता तन्निर्णयस्य तीव्रालोचना कृता।

---

1. सुन्दर। 2. संपूर्ण। 3. मांस। 4. मदिरा। 5. शिकार। 6. हाथी। 7. हाथी। 8. कंकण। 9. संपूर्ण।

सिद्धाचलतीर्थं जैनेभ्यः पवित्रतमं तीर्थमस्ति। प्रतिबन्धकानां सद्बुद्धिप्रदानाय यावच्चातुर्मासं शश्वदाचम्लतपो-नमस्कारजापगङ्गा प्रवाहिता।[1]

संवत् १९९० वर्षे राजनगरे मुनिसम्मेलनमभवद् यत् त्रयस्त्रिंशद् दिवसपर्यन्तमजस्रमचलत्।[2] तस्मिन् नवाचार्यसमितिः स्थापिता। तस्मिन् त्रिस्तुतिकसङ्घमुख्यो भूपेन्द्रसूरिरप्येक आसीत्। सम्मेलनेऽनेकसमस्यासु विचारणा जाता। भूपेन्द्रसूरिणापि सुन्दरं स्वयोगदानं दत्तम्। शान्तमूर्ति-भूपेन्द्रसूरेः सर्वेऽत्यन्तप्रसन्ना अभूवन्।

जन्या[3] सह मृतिर्निश्चिता। तीर्थकृच्चक्रवर्तीन्द्रा अपि मृत्योरनपवादाः। कालः कं कदा कथं कवलितं करिष्यति किं कोऽपि कलयेत्। आचार्यवर्योऽपि संवत् १९९३ वर्षे माघशुक्लसप्तमीदिने आहोरनगरे स्वाश्रितान् मुक्त्वा स्वर्गङ्गतः। जैनसङ्घायापूर्णा क्षतिर्जाता। प्रवराचार्यः प्रतिजनानां श्रद्धायाः केन्द्रीभूत आसीत्। शान्तमूर्तिकारणात् सर्वास्वानिते[4] उषितः। गुरुवर्यस्वर्गमनसमाचारप्राप्त्या सर्वे शोकपारावारे[5] ब्रुडिताः। आजीवनं स्वपरोपकृतौ निरतः सन् स्वसाध्यं साधयित्वा सुगतिभाग् भूतः।

आचार्यभगवान् महान् साहित्यकार एवं संस्कृतविदासीत्। अतो विद्वद्भिः 'साहित्यविशारद' उपाध्यालङ्कृतः। संस्कृतगिरायां चन्द्रराजचरित्र-दृष्टान्तशतक-सूक्तमुक्तावली-स्तुतिचैत्यवन्दन-स्तवनादि-विविध साहित्यं रचितम्। संवत् १९७३ वर्षे मन्दसौरनगर एतज्ज्ञानात् प्रभावितविद्वत्पण्डितैः 'विद्याभूषणं' इत्युपाध्यापि विभूषितः। एतावदाचार्यभगवच्चरणयोः कोटिशो वन्दना।

-मुनि-तत्त्वानन्द-विजयः

मुक्तिविहार (आहोर) प्रतिष्ठादिने
संवत् २०७१ वैशाखशुक्ला नवमी

---

1. निरन्तर। 2. निरन्तर। 3. जन्म। 4. हृदय। 5. समुद्र।

विषयानुक्रमः

नंबर	विषय	पृष्ठाङ्क

प्रथमधर्मवर्गो

मंगलाचरणम्

०१ देवतत्त्व विषये- ०३

देवतत्त्वोपरि नमिविनम्योः(१ कथानकम्) ०३

०२ गुरुतत्त्व विषये - ०६

गुरुतत्त्वोपरि-केशिकुमारगणधर-प्रदेशिराजयोः

(२ प्रबन्ध) ०७

०३ धर्मतत्त्व विषये- १८

धर्मतत्त्वोपरि विक्रमार्कनृपस्य (३ कथानकम्) १९

धर्मतत्त्वोपरि शालिवाहननृपस्य (४ कथानकम्) २९

०१ ज्ञानतत्त्व विषये- ३५

साधारणगाथाबोधोपरि यवराजर्षेः (५ कथानकम्) ३७

उपशमाद्युपरि चिलातीपुत्रस्य (६ दृष्टातः) ४३

ज्ञानोपरि रोहिणीयचौरस्य (७ कथानकम्) ४८

ज्ञानोपरि मासतुषयोरुभयोर्भ्रात्रोः (८ कथानकम्) ५८

०२ मनुष्यजन्म विषये- ५९

प्रमादवशदुर्गतिपतनोपरि शशिप्रभराजस्य

(९ कथानकम्) ६१

०१ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये चुल्लिकायाः (१० दृष्टान्तः) ६३

०२ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये पाशकस्य (११ दृष्टान्तः) ७४

०३ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये धान्यस्य (१२ दृष्टान्तः) ८१

०४ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये द्यूतस्य (१३ दृष्टान्तः) ८१

०५ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये रत्नस्य (१४ दृष्टान्तः) ८३

०६ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये स्वप्नस्य (१५ दृष्टान्तः) ८४
०७ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये चक्रस्य (१६ दृष्टान्तः) ८७
०८ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये कूर्मस्य (१७ दृष्टान्तः) ९१
०९ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये युगस्य (१८ दृष्टान्तः) ९२
१० मनुष्यत्वदौर्लभ्ये परमाणोः (१९ दृष्टान्तः)..... ९२
०३ सज्जन विषये- ९२
सज्जनतोपरि द्रौपद्याः (२० प्रबन्धः) ९२
सज्जनतोपरि अञ्जनायाः (२१ प्रबन्धः) ९५
सज्जनगुण विषये- १०१
०४ न्यायधर्म विषये- १०३
अन्यायित्वाद्रावणं त्यजतो विभीषणस्य
(२२ कथानकम्) १०३
०५ प्रतिज्ञा विषये - १०८
०६ क्षमागुणविषये - १०९
क्षमागुण विषये गजसुकुमालमुनेः (२३ कथानकम्)..... १११
०७ त्रिकरणचित्तशुद्धि विषये- ११६
सुशीलविषये-द्रौपद्याः (२४ कथानकम्) ११७
०८ सत्कुलविषये- ११९
०९ सद्विवेकविषये- ११९
१० विनयगुणविषये- १२०
विनयगुणोपरि विक्रमराजस्य (२५ कथानकम्) १२१
विनयेन विद्याग्रहणोपरि श्रेणिकनृपस्य
(२६ कथानकम्) १२५
११ विद्याविषये- १३०
विद्यया भोजनृपं तोषयतोर्बाणमयूरयोः(२७ प्रबंधः) १३१
१२ परोपकारविषये- १३३
१३ उद्यमविषये - १३४
उद्यमोपरि सुबुद्धिनाम्नः प्रधानस्य (२८ प्रबन्धः) १३५

उद्यमोपरि ज्ञानगर्भाभिधप्रधानस्य (२९ प्रबन्धः)..... १३६
१४ दान विषये-..... १३८
दानगुणोपरि कर्णराजस्य (३० कथानकम्) १३९
१५ शील विषये- १३९
शीलपालने सुदर्शनश्रेष्ठिनः (३१ कथानकम्)..... १४०
शीलपालने गाङ्गेयस्य (३२ कथानकम्)..... १४२
१६ तपोविषये-..... १४३
तपःप्रभावोपरि लब्धिमतो गौतमस्वामिनः
(३३ कथानकम्) १४४
तपःप्रभावोपरि नन्दिषेणमुनेः (३४ प्रबन्धः)..... १४६
तपःप्रभावोपरि विष्णुकुमारस्य (३५ कथानकम्) १४९
१७ भावनाविषये- १५२
भावनाफलोपरि भरत चक्रवर्त्तिनः(३६ कथानकम्) १५३
भावनाफलोपरि एलाचीकुमारस्य (३७ प्रबन्धः) १५४
भावनाफलोपरि सुश्रावकस्य जीर्णश्रेष्ठिनः
(३८ कथानकम्) १५६
भावनाफलोपरि वल्कलचीरिणः ३९ प्रबन्धः) १५७
भावनाफलोपरि बलभद्र-मृग-रथकाराणां
(४० कथानकम्) १५८
१८ क्रोधविषये-..... १६०
क्रोधोपरि परशुराम-सुभूमचक्रवर्तिनोः(४१ प्रबन्धः) १६१
१९ मानविषये-..... १६६
मानेन विनाशोपरि दुर्योधनस्य (४२ कथानकम्)..... १६७
२० मायोपरि-सदुपदेशः..... १६८
२१ लोभविषये-
लोभेन क्लिश्यतः सुभूमचक्रवर्तिनः (४३ कथानकम्) १६९
लोभत्यागात्प्राप्तकेवलज्ञानस्य कपिलद्विजस्य
(४४ कथानकम्) १७१

२२ दयाविषये- १७२
कपोतदयापालनोपरि मेघरथराजस्य (४५ प्रबन्धः) १७३
२३ सत्यविषये- १७५
मिथ्यासाक्ष्यदानान्नरकं प्राप्तस्य वसुराजस्य
(४६ प्रबन्धः) १७६
२४ चौर्यविषये- १७८
२५ कुशीलविषये- १७९
२६ परिग्रहविषये १८०
परिग्रहममत्वेन दुर्गतिगतस्य सुभूमचक्रवर्तिनः
(४७ कथानकम्) १८०
२७ सन्तोषगुणविषये- १८१
२८ विषयतृष्णाविषये- १८२
२९ इन्द्रियविषये- १८३
३० प्रमादविषये- १८४
३१ साधुधर्मविषये- १८५
३२ श्रावकधर्मविषये- १८६
श्रावकधर्म दृढ़धर्म कामदेवश्रावकस्य
(४८ कथानकम्) १८७

द्वितीयाऽर्थवर्गे

०१ स्वपरहितचिन्तनविषये १९०
परहितचिन्तकमहावीरस्वामि-क्रूरात्मचंडकौशिकयोः
(१ कथानकम्) १९१
०२ सम्पत्-लक्ष्मीविषये- १९४
संपदाऽऽसासुस्वस्योत्तमकुमारस्य (२ दृष्टातः) १९५
द्रव्यहीनतया वेश्यानिष्कासितस्य कयवन्नाश्रेष्ठिनः
(३ कथानकम्) २१४
धनप्रभावेण रंकश्रेष्ठिजित-शिलादित्यनृपस्य
(४ कथानकम्) २१७

०३ कृपणताविषये- २१७
कार्पण्ये मधुमक्षिकायाः (५ दृष्टान्तः) २१८
०४ अर्थी-याचनाविषये- २१९
०५ निर्धनताविषये- २२०
०६ राजसेवाविषये- २२१
०७ खलता-दुर्जनताविषये- २२२
सरलकपटिमित्रोपरि-कपिमकरयोः (५ कथानकम्) २२३
०८ अविश्वासविषये- २२६
अविश्वासे घूककाकयोः (६ कथानकम्) २२६
०९ मैत्री-मित्रताविषये- २२८
साधुजनमित्रतोपरि सहस्रमल्लसाधोः (७ प्रबन्धः) २२९
मित्रतोपरि कृष्णबलभद्रयोः (८ कथानकम्) २३२
१० कुव्यसनविषये- २३४
११ द्यूतविषये- २३५
द्यूतरमणत्यागात्सुखीभवतः पुण्यसारस्य
(९ कथानकम्) २३५
१२ मांसभक्षणविषये- २४८
मांसमहार्घतासिद्धिं कुर्वतोऽभयकुमारस्य
(१० कथानकम्) २४९
१३ कालिकशूलिकस्य तत्पुत्र-सुलसस्य च
(११ कथानकम्) २५१
चौर्यविषये-मण्डीकचौरस्य (१२ प्रबन्धः) २५४
१४ मद्यपानविषये- जितशत्रुक्षितिपस्य (१३ कथानकम्) .. २५७
मद्यव्यसनादेव द्वारिकापुरी कृष्णसुरक्षितापि
भस्मसादभूत्तस्याः (१४ कथानकम्) २६१
१५ वेश्याव्यसनविषये- २६३
सिंहगुहावासिसाधूपकोशावेश्ययोः (१६ कथानकम्) ... २६३
१६ आखेटकव्यसनविषये- २६९

आखेटकव्यसनत्यागे लब्धमुक्तेः संयतिनृपस्य
(१६ कथानकम्) २७०
१७ परस्त्रीगमनविषये- २७१
१८ कीर्तिविषये-भीमाशाहस्य (१७ कथानकम्) २७२
१९ मंत्रिविषये- २७३
प्रधानपदे धीमतोऽभयकुमारमन्त्रिणः (१८ कथानकम्) २७४
२० कलाविषये- २७९
कलावान्द्रोणाचार्योऽर्जुनभिल्लानां (१९ कथानकम्) ... २७९
२१ मूर्खताविषये- २८१
मूर्खतोपरि वणिक्पुत्रस्य (२० कथानकम्) २८२
मूर्खतोपरि कपिसुगृहिपक्षिणोः (२१ कथानकम्) २८४
२२ लज्जाविषये- २८५
लज्जया प्रव्रजितयोर्भवदेवभावदेवयोर्भ्रात्रोः
(२२ कथानकम्) २८६
लक्ष्म्युपसंहारः- २८७

तृतीयकामवर्गे

कामभोगे-तथा तत्त्योगोपरि नंदिषेणमुनेः
(१ कथानकम्) २९०
०१ कामविषये- २९१
वनेचरीं विलोक्य विषयसुखप्राथयितुः हरस्य
(२ कथानकम्) २९३
कन्दर्पोन्मादविषये- २९३
दमयन्तीविलोकनाच्चलचित्तस्य नलराजर्षेः
(३ कथानकम्) २९४
राजीमतीं कामयमानस्य समुज्झितोत्सर्गध्यानस्य-रथनेमिमुनेः
(४ कथानकम्) २९४
०२ पुरुषगुणदोषोद्भावनविषये- २९६

पुरुषगुणविषये- २९६
परगुणग्रहणोपरि श्रीकृष्णस्य (५ कथानकम्) २९७
पुरुषदोषविषये- २९८
०३ स्त्रीगुणदोषविषये- २९९
सुदर्शनश्रेष्ठिनमभयाराज्ञी कलङ्कयामास तयोः
(६ कथानकम्) ३००
यशोधरनृपघातुकीनयनावल्याः (७ प्रबन्धः) ३०२
जारपल्यङ्के शयानाया नूपुरपण्डितायाः (८ कथानकम्) . ३०४
सुलक्षणस्त्रीणां गुणनामादीनि ३१०
शीलप्रभावान्महाग्निकुण्डोऽपि
जलवदतिशीतलमभूत्तदूपरि सीतायाः (९ कथानकम्) .. ३११
०४ संयोगवियोगविषये- ३१४
०५ मातृकर्तव्यविषये- ३१५
निर्मोहकृताऽनशनस्य मोक्षमधिगतस्याऽरहन्नकमुनेः
(१० कथानकम्) ३१६
०६ पितृवात्सल्यविषये- ३१८
सगरचक्रवर्तिनः षष्टिसहस्रतत्पुत्राणाञ्च
(११ कथानकम्) ३१९
शय्यंभवसूरितत्पुत्रमनकयोः (१२ कथानकम्) ३२१
०७ पुत्रवर्णनविषये- ३२३
सुपुत्रोपरि गांगेयकुमारस्य (१३ कथानकम्) ३२४

चतुर्थमोक्षवर्ग

०१ मोक्षविषये- ३२७
०२ कर्मविषये- ३२८
०३ क्षमागुणविषये- ३२९
क्षमया मुक्तिमधिगतानां पञ्चशतशिष्याणा-
मक्षमया दुःखपारंपर्य मासस्य स्कन्धकसूरेश्च

(१ कथानकम्) ३३०
क्षान्त्या मोक्षमधिगतस्य दृढ़प्रहारिणः(२ कथानकम्) ... ३३३
क्षमागुणेन अधिगतस्य कूरगडुमुनेः (३ कथानकम्) ३३५
क्षमया कर्ममुक्तस्य मेतार्यमुनेः (४ कथानकम्) ३३७
०४ संयमविषये- ३४४
सिंहादिपशूनपि प्रतिबोधयतो बलदेवमुनेः
(५ कथानकम्) ३४५
०५ द्वादशभावनासु १ भावनाविषये- ३४६
संसारमनित्यं स्वप्नवत्तत्र भिक्षोः (६ कथानकम्) ३४७
अनित्यभावनया त्यक्तदेहाभिमानस्य-
भरतचक्रवर्तिनः (७ कथानकम्) ३४८
०६ अशरण २ भावनाविषये- ३५१
अशरणभावनोपरि अनाथिमुनेः (८ कथानकम्) ३५२
संसार ३ भावनाविषये- ३५४
संसारभावनोपरि मङ्गुसूरेः (९ प्रबन्धः) ३५५
एकत्वभावनोपरि नमिराजस्य (१० प्रबन्धः) ३५७
अन्यत्व ५ भावनाविषये- ३६५
अशुचि ६ भावनाविषये- ३६५
एतच्छरीरमशुचि मत्वा तन्ममत्वं विहाय-
प्रव्रजितस्य सनत्कुमारचक्रिणः (११ कथानकम्) ३६६
आश्रव ७ भावनाविषये- ३६९
आश्रवदोषान्नरकमितस्य कण्डरीकनृपस्य (१२ प्रबन्धः) ३७०
संवर ८ भावनाविषये- ३७१
संवरं भजमानस्य वज्रस्वामिनः (१३ प्रबन्धः) ३७१
संवरद्वारमादियमाणस्य पुण्डरीकनृपस्य (१४ प्रबन्धः) .. ३७२
निर्जरा ९ भावनाविषये- ३७२
लोकस्वरूप १० भावनाविषये- ३७३
११ धर्मभावना, १२ बोधिदुर्लभभावनाविषये- ३७४

धर्मभावनया सुखमधिगतस्य सम्प्रतिराजस्य
(१५ कथानकम्) ३७४
०७ रागविषये- ३७६
०८ संतोषविषये- ३७८
०९ सदसद्विवेकविषये- ३७९
१० निर्वेद-वैराग्यविषये- ३८०
निर्वेदाद् गृहीतसंयमस्य भर्तृहरेः (१६ प्रबन्धः) ३८१
११ आत्मबोधविषये- ३८२
उपसंहारः-
मूलग्रन्थव्याख्याकर्त्रोः प्रशस्तिः ३८७

साहित्य-विशारद-विद्याभूषण-
श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वर-विरचिता

।। सूक्त-मुक्तावली ।।

❋

तत्राऽऽदौ मङ्गलाचरणम्

मालिनी-छन्दसि

सकलसुकृतवल्लीवृन्दजीमूतमालां,
निजमनसि निधाय श्रीजिनेन्द्रस्य मूर्तिम् ।
ललितवचनलीलालोकभाषानिबद्धै-
रिह कतिपयपद्यैः सूक्तमालां तनोमि ॥१॥

स्रग्धराछन्दसि-

कैवल्यज्ञानयोगादनुभवनगतान् रूप्यरूप्यादिभावान्,
पश्यन्तं पाणियाताऽऽमलकमिव चरस्थूलसूक्ष्मप्रभेदान् ।
चतुष्षष्टीन्द्रजुष्टं प्रणतसुरनराऽशेषविघ्नोपशामं,
नामं नामं दयाब्धिं भवजलधितरिं त्रैशलेयं जिनेन्द्रम् ॥१॥

गीतिछन्दसि-

ज्ञानावरणकर्माष्ट-निर्मूलकरीं सकलार्थदां वाणीम् ।
श्रुतसागरपारगतां, सकलागमबोधदायिनीं वन्दे ॥२॥

(युग्मम्)

मालिनीछन्दसि-

निखिलनिगमनिष्ठं शब्दशास्त्रे पटिष्ठम्,
स्वपरसमयविज्ञं श्रीलराजेन्द्रसूरिम् ।
सकलसुगमबुद्ध्यै सम्प्रणम्य प्रकुर्वे,
ललितसरलगद्यैः सूक्त-मुक्तावलीं ताम् ॥३॥

विषयक्रमसंग्रहः-शार्दूलविक्रीडितछन्दसि-

तत्त्वज्ञान १ मनुष्य २ सज्जनगुणा ३
न्याय ४ प्रतिज्ञा ५ क्षमाः ६,
चित्ताद्यं ७ च कुलं ८ विवेक ९ विनयौ
१० विद्यो ११ पकारो १२ द्यमाः १३ ।
दान १४ क्रोध १५ दया - १६
दितोष १७ विषयाः १८ त्याज्यप्रमादस्तथा १९,
साधुश्रावकधर्मवर्गविषये ज्ञेयाः प्रसंगादमी २०-२१ ॥२॥

अत्रैतस्याधिकारवाचकस्य पद्यस्य सुगमत्वान्नो टीका कृतेत्यवसेयं विद्वद्वर्यैः ।

धर्मार्थकाममोक्षवर्गचतुष्टयेन समलङ्कृतेयं सूक्त-मूक्तावली भव्यानाम्, मानुष्यत्वसफलीकृते महीयसी साहाय्यभूता वरीवर्तते । यदुक्तम्-

उपजातिछन्दसि-

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण, पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ ॥

इति धर्मस्य प्राधान्यात्, प्रथमं धर्ममुपक्रम्य देवगुरुधर्मतत्त्वादिक्रमेण तदुच्यते ।

अथ प्रथमो धर्मवर्गः प्रारभ्यते ।

१-तत्र देव-तत्त्व-विषये

मालिनीछन्दसि-

सकल करम वारी मोक्षमार्गाधिकारी,
त्रिभुवन उपकारी केवलज्ञानधारी ।
भविजन नित सेवो देव ए भक्तिभावे,
इहिज जिन भजंतां सर्व संपत्ति आवे ॥३॥

भो भव्याः ! सकलकर्म-वारको मुक्ति-मार्गमधिगतः, त्रिभुव-नोपकारकः केवलज्ञानधारको, जिनेन्द्रो भक्तिभरितमानसैर्भवद्भिः नित्यं सेव्यताम् । यतोऽर्हद्भक्तैरत्रैव सर्वसंपत्तिरवाप्यते ॥३॥

जिनवर पद सेवा सर्वसंपत्ति दाई,
निशदिन सुखदाई कल्पवल्ली सहाई ।
नमि विनमि लहीजे सर्वविद्या बडाई,
ऋषभ जिनह सेवा साधतां तेह पाई ॥४॥

जिनचरणकमलसेवा सर्वां समृद्धिं ददाति, अहर्निशं कल्पलतेव सर्वसौख्यञ्च प्रयच्छति, यथा नमिर्विनमिश्चादिनाथभक्त्या सकलविद्या-निष्णातावभूताम् ॥४॥

१-देव-तत्त्वोपरि नमिविनम्योः कथानकम्-

तथाहि- प्रथमतीर्थङ्करस्य भगवतः श्रीमदादीश्वरप्रभोर्नमिविनमि-नामानौ द्वौ पालकपुत्रावभूताम् । यदा स प्रभुः प्रव्रजितुमचीकमत तदा सर्वेभ्यो भरतादिभ्य आत्मनः शतपुत्रेभ्यः प्रत्येकं पृथक् पृथग् राज्यं

दत्त्वा प्रवव्राज। तत्र समये तौ पालकपुत्रौ प्रभोः पार्श्ववर्तिनौ नाऽभूताम्, केनापि कारणेन देशान्तरङ्गतवन्तौ। ततः कियत्कालानन्तरं समागतौ तौ भ्रातरौ तदावासे प्रभुमपश्यन्तौ लोकमेवं पप्रच्छतुः।

किं भोः!जगत्प्रभुं तातचरणं गृहे कथं न पश्यावः ?। किं कुत्राऽपि गतवानस्ति, इति तत्पृच्छामाकर्ण्य लोकैरभाणि-भोः ! प्रभुस्तु भरतादिभ्यः सकलेभ्यो राज्यं दत्त्वा दीक्षामग्रहीत्। ततः पुनरेतौ पप्रच्छतुः-आवयो राज्यं किं कृतम् ? लोकैरूचे-

स भगवान् इदानीं निष्परिग्रहतां दधानो जगत्पुनानो जीवान् परिबोधयन् महीमण्डले विहरति। किञ्च शतेभ्य आत्मपुत्रेभ्यो यदा राज्यं वितितार, तदा युवाभ्यामपि राज्यं दत्तवान् भगवानित्यपि नैव विदाङ्कुर्मो वयम्। साम्प्रतं तु भगवान् न कस्मै किमपि दातुं दापयितुं वा प्रभवति, न करेमीत्यादिशास्त्रप्रतिषेधात्। अतो युवामिदानीं ज्यायांसं बान्धवं भरतम्प्रति गत्वा सर्वं ब्रूताम्। तमेव याचेथाम्। तं विनाऽन्यः कर्तुं न शक्नोति। इत्यादिलोकोक्तिं निशम्य ताभ्यामेव-मुक्तम् !

भो लोका ! आवां तु पितरमेव याचेवहि, तदन्यं कदापि नेति सत्यं जानीत। यर्हि स प्रभू राज्यं दास्यति, तदैव ग्रहीष्याव आवाम्। इत्यवधार्य तौ द्वावपि भ्रातरौ यत्र भगवान् विचरन्नासीत् तत्र ययतुः। तत्र गत्वा प्रभुं भक्त्या वन्दित्वा सविनयं तम्प्रति तौ राज्यं ययाचाते। भगवानपि तयोर्याचनं श्रुत्वा मौनं समाश्रितवान्, तद्विषये मनागपि नोक्तवान्, कुत्राप्यन्यत्र स प्रभुर्विजहार।

तावपि भ्रातरौ श्रीभगवता सहैव चेलतुः। अथ तावुभौ

नमिविनमिनामानौ बान्धवौ येन येन पथा भगवान् विजहार, तत्र तत्र मार्गे कण्टकानि कर्करादीनि च यानि यानि क्लिष्टान्यासन् तत्सर्वाणि दूरे चिक्षिपतुः । तथा यत्र यत्र रजःपुञ्जमासीत् तत्र तत्राऽम्बुना तौ सिषिचतुः । किञ्च श्रीमद्भगवच्चरणयुगलं धूलिधूसरं मा भवत्विति विचिन्तयन्तौ तौ तन्मार्गं सुरभिकुसुमपुञ्जैराकीर्णञ्चक्राते। भगवतामुभय-तस्तौ चामरयुगलं वीजयामासतुः। श्रीमदादीश्वरस्य भगवतो मार्गे गच्छतः पथि पुरतः कण्टकादिना भूशोधनं विदधाते । तथाऽवसर-मासाद्य भक्तिविनयाऽवनतौ तौ प्रभुं राज्याय प्रार्थयामासतुः । इत्थं श्रीमत्प्रभोः सद्भक्तिं विदधतोस्तयोः कियान् कालो यातः ।

अथैकदा सम्प्राप्ते च कस्मिन्नपि प्रस्तावे श्रीमत्प्रभुवन्दनायै धरणेन्द्रस्तत्राऽऽगतवान् । स हि प्रभुसेवातत्परौ तौ बन्धू विलोक्य पप्रच्छ, युवां प्रभोरीदृशीं भक्तिं किमर्थं कुरुथः । तच्छ्रुत्वा तावूचताम्-भो धरणेन्द्र ! आवां राज्याय भगवन्तमादिनाथं सेवावहे । तच्छ्रुत्वा धरणेन्द्रोऽवक्-भो भक्तप्रवरौ ! साम्प्रतमसौ नीरागतामाधत्ते । एनम्प्रभुं राज्यं किमर्थं याचेथे ? तौ तदैवमाचक्षाते स्म-भो देवेन्द्र ! नूनमयमेव भगवान् आवाभ्याम्प्राज्यं राज्यं दाताऽस्ति ।

ततस्तयोरीदृशदृढतरविश्वासेन भगवद्भक्त्यसाधारण्येन च सन्तुष्टो देवस्ताभ्यामष्टचत्वारिंशत्सहस्रविद्या दत्तवान् । तथा तावुभौ भ्रातरौ वैताढ्यपर्वतीयाऽधिपती चक्रिवान् । तत्र वैताढ्यदक्षिणस्यां दिशि एकोनपञ्चाशन्नगराणि, तदुत्तरश्रेण्यामेकोनषष्टिग्रामा जनैरा-कीर्णा आसन् । धरणेन्द्रप्रदत्तविद्याभी राज्येन च तौ भ्रातरौ बभूवतुः । तद्वंशपरम्पराऽपि विद्याधरतामेव लेभे । तयोरेवं प्रभुभक्तिः प्रत्यक्षं

फलति स्म।

इति सर्वैरेव भगवत आदीश्वरजिनेश्वरस्य सेवायां यतितव्यम्। *यतो हि प्रभुसेवा भक्तेभ्यः किङ्किं न प्रयच्छति ? अपि तु सांसारिकमतुलधनपुत्रादिसौख्यं पारलौकिकं स्वराज्यसुखमप्यनन्तकालिकमक्षयं प्रसूते।*



२-गुरुतत्त्वविषये-

स्वपर समय जाने धर्मवाणी वखाणे,
परमगुरु कह्याथी तत्त्व निःशंक माने।
भविककज विकाशे भानु ज्युं तेज भासे,
इहज गुरु भजो जे शुद्धमार्ग प्रकाशे ॥५॥

भो भव्या ! निजाऽन्यसिद्धान्ततत्त्वज्ञस्य धर्मोपदेशकस्य यस्य सद्गुरोरुपदेशाज्जना ये तत्त्वं निःशङ्कं मन्यन्ते। भविकहृत्क[1]-जविकासने भानुसमतेजसा भासमानः शुभ्रमार्गप्रवर्तकः प्रकाशकश्च स गुरुः भवद्भिः पूज्यताम् ॥५॥

सुगुरु वचन संगे निस्तरे जीव रंगे,
निरमल जल थाए जेम गंगा प्रसंगे।
सुणिय सुगुरु केशी वाणी रायप्रदेशी,
लहि सुरभव वासी जे थसे मोक्षवासी ॥६॥

किञ्च-यथा कलुषितमपि जलं गङ्गोदकसंसर्गात्पवित्रं भवति। तथैव सद्गुरूपदेशात् प्राणिनः शुद्धाशयाः सन्तो भवाब्धिं तरन्ति

1. हृदयकमल

यथा केशिकुमारगणधरवचः श्रुत्वा, प्रदेशिराजः प्रतिबोधमवाप्य देवत्वं लेभे। प्रान्ते मोक्षञ्च प्राप्स्यति, अत्र विस्तृतदृष्टान्तोऽग्रे कथ्यते ।।६।।

२-अथ गुरुतत्त्वोपरि-केशिकुमारगणधर-प्रदेशिराजयोः प्रबन्धः-

यथा-इह हि भरतक्षेत्रे केकाख्यदेशे श्वेताम्बिकाऽभिधा नगरी विद्यते। तत्र च प्रदेशी नामा राजा राज्यं शास्ति। असौ राजा नास्तिकमतवादी, अत्यन्ताऽधार्मिको महापापीयान् भक्ष्याऽभक्ष्य-विचारहीनः सदैव हिंसाजन्याऽसृक्प्रदिग्धकरयुगलो वर्तते स्म। किमधिकेन सततं स राजा नरकगतिसाधनायामेव कर्मठ आसीत्।

नास्तिकस्य तस्य राज्ञो मनसि रात्रिन्दिवमीदृशो वितर्को जायमान आसीत्। तमेव विवृणोति-शरीरातिरिक्तो जीवः शुभाऽशुभ-फलभोक्ता कोऽपि नास्ति, किन्तु क्षित्यप्तेजोमरुदाकाशात्मभिरेव पञ्चभिर्भूतैः सम्बद्धो निष्पन्नः शरीरोऽयमात्माऽस्ति। एषु पञ्चभूतेषु विनष्टेषु सर्वे पुद्गलाः स्वत एव नश्यन्तीति निजसिद्धान्तं दृढीकर्तुं स राजा एकदा एकञ्चौरञ्जीवन्तं तोलयित्वा पुनस्तमेव मारयित्वा तच्छरीरं तोलयन् राजा पूर्वमानतः किञ्चिदपि वृद्धिं ह्रासं वा नाऽपश्यत्। पुनरेकदा कमपि स्तेनं धृत्वा हत्वा च तदङ्गं खण्डशः कृत्वा प्रतिखण्डेषु जीवं बहुधा विलोकयामास। परं कुत्राऽपि तत्कायखण्डे जीवो नैव दृष्टस्तेन। पुनरन्यदा स एकं तस्करं गृहीत्वा नीरन्ध्रे लोहपिञ्जरे निक्षिप्य, तदुपरि शीशकावरणमाधाय, तथाऽऽवृणोद्यथा कथमपि कुतश्चिदपि पवनस्य गमागमो न भवेत्। अथ कियद्दिनानन्तरमुद्घाटिते

पिञ्जरे चौरं मृतमदर्शि। जीवस्तु केन मार्गेण निर्गत इति विज्ञातुमभितः शोधितेऽपि कुत्राऽपि रन्ध्रादिकं मनागपि नाऽलोकत। शवे च तस्मिन् सहस्रशः कृमयः समुत्पन्ना दृष्टाः।

अथैतत्प्रपञ्चेन तेन राज्ञा मनस्येवं निश्चितम्- इह खलु देहात्पृथगात्मा नैवाऽस्ति। केवलं पञ्चभूतानां विशिष्टसंयोगो यावद्भवति, तावदेष देहश्चेतनो भवति, संयोगनाशे च नश्यति। किञ्च ततःप्रभृति स राजा लोकानेवमुपदिदेश-भो ! भो लोकाः ! शरीरमेवाऽत्मास्ति एतदन्यः कोऽपि नैवाऽस्ति। तथा पापपुण्ये न स्तः। इहैव यथेष्टं स्वेच्छया विषयसेवनाऽशनपानविविधविलासादिकरणेनैव मनुष्यत्वं सफलं कुरुत। इत्थमनार्यमधर्म्यमुपदिशतस्तस्य राज्ञः कियान् कालो यातः।

अथैकदा प्रदेशिना राज्ञा चित्रसारथिनामा निजप्रधानः कस्याऽपि कार्यस्य हेतोः कौशाम्ब्यां नगर्यां प्रेषितः। तत्र च श्रीपार्श्वनाथप्रभोः शिष्यो महापुरुषश्चतुर्ज्ञानधारी केशिकुमारनामा गणधरः श्रद्धावद्भ्यो भविकजीवेभ्यो धर्मदेशनां ददानः श्राद्धमण्डलमण्डितः सदसि व्यराजत। प्रधानोऽपि तत्र गत्वा तं गणधरं महाराजं विधिवत्प्रणम्य तत्समक्षमुपविश्य धर्मप्रभावमशृणोत्। स च तत्क्षणमेव धर्मदेशनां श्रुत्वैव किञ्चित्क्षीणकर्मा सन् प्रतिबुद्धोऽभवत्। देशनान्ते च समुत्थाय भक्तिनम्रात्म-कन्धरः स प्रधानः प्राञ्जलिरेवं गुरुम्प्रार्थयामास। हे स्वामिन् ! कृपां विधाय श्वेताम्बिकानगरीमागच्छ। श्रीमतां तत्रागमनेन धर्मो नितरां वर्द्धिष्यते। किञ्च चातकगणः स्वातिबिन्दुमिव मयूरश्रेणी मेघपटलमिव भवन्तं वीक्षमाणो लोको भृशं मोदिष्यते च। इत्थं सविनयं साग्रहं प्रधानप्रार्थनामाकर्ण्य गुरुर्जगाद-

भो महाभाग ! लोकास्तु तत्र श्रद्धालवः सन्ति, परं तावकीनो राजा महादुष्टो नास्तिकोऽस्ति । इति तत्रागमनेन लोकानां श्रेयः कथं भविष्यति ? तदा पुनस्तेनोक्तम्- हे सद्गुरो ! भवदागमनेनाऽवश्य-ङ्कल्याणं भविष्यति । पुनरुक्तं गुरुणा- सत्यवसरे भवदुक्तं करिष्यामि। इत्थं गुरुणा साकं प्रश्नोत्तरं विधाय चित्रसारथिर्गुरुं वन्दित्वा ततो निरगात् ।

तदनु ग्रामान्तरमागत्य स्वामिकार्यं सम्पाद्य स प्रधानो निजनगरमागत्य प्रदेशिराजानं नमस्कृत्य निजालये समागतः । गृहागतः प्रधानः स्नानादिभोजनान्तं विधाय वनपालं निजसद्मनि समाहूय रहसि तमेवमादिदेश-

भो वनपाल ! तव वाटिकायां यदा कश्चिन्महात्मा मुनिरागच्छेत्तदा तदागमनं राजानं मा ब्रूहि, प्रथमं ममैव सत्वरं वाच्यम्, इति प्रधानादेशं शिरसाऽवधार्य वनपालो निजधाम समाययौ ।

अथैकदा ग्रामानुग्रामं विहरन् स केशिकुमारो गणधरो मुनिगणैः सह श्वेताम्बिकापुर्यां मनोरमाभिधाने महोद्याने समाययौ । तदानीमेव वनपाल आगत्य राजानमकथयित्वैव मन्त्रिणं गुर्वागमनं विज्ञापयामास। परन्तु महतामागमनमधिग्रामं लोकैरविदितं कथं भवेत् । बहुतरभवि-कनरनारीयूथस्य गुरुवन्दनायै गमागमोऽध्यजायत ।

अथ चित्र-सारथिरपि राजान्तिकं गत्वा तस्मै गुर्वागमनवृत्त-मकथयन्नुद्यानविहाररागिणं नृपं सायन्तनोपवनविहारायैव प्रार्थया-मास । तच्छ्रुत्वा प्रमोदमापन्नस्तत्कालमेव सुसज्जीभूय तदुद्यानं विहाराय मन्त्रिणा सह चचाल ।

एवं स मन्त्री नृपं वनक्रीडाव्याजेन तत्राऽनयत्, यत्र स चतुर्ज्ञानी महामुनिः सकलकलाकुशलो नर-नारीकदम्बमण्डिते सदसि सुकृतिजनसुलभैरितरजनदुरापैरार्हतशास्त्रतधर्मैर्मधुरस्वरैः श्रोतृश्रोत्रा-ह्लादकरैर्भविकानतिगूढमपि तत्त्वं बोधयन्नाऽऽसीत् ।

अथेदृशं मुनिमालोक्य तमुपहसन् राजा मन्त्रिणमेवं वदितुं लग्नः । तद्यथा-अरे चित्रसारथे ! असौ मुण्डी किम्प्रलपति ? असौ श्रोतृजनवसनाञ्चले किमपि बध्नाति किम् ? कोऽयं पाखण्डी दृश्यते ? नृपोक्तमेतदाकर्ण्य प्रधानोऽवदत् । महाराज ! अहमप्येनं न जानामि, यद्येनं ज्ञातुमिच्छसि तर्हि तदन्तिके गन्तव्यम् । ततो ज्ञास्यसि कोऽस्ति कीदृशश्चेत्यादि सर्वम् ।

अथैतन्मन्त्रिवचः सम्यगिति मत्वा मन्त्रिणा सह गुरोः पार्श्वेऽभिमानेन वन्दनादिकमकुर्वाणो नृपस्तत्रोपाविशत् । तदानीं गुरुरपि राज्ञः प्रश्नावसरप्रदानाय जीवविषय एव प्राधान्येन व्याख्यातुं प्रारेभे ।

अथ राजाऽपि वक्तुमवसरमासाद्य गुरुम्प्रत्येवमपृच्छत्- हे स्वामिन्! त्वमेताः सरला मम प्रजा इयतीमसतीं वाणीं मुधा प्रलप्य कथं वञ्चयसि ? तत्राऽपि जीवसत्तां निरूपयसि । जीवो हि गगन-कुसुमायमान एव प्रतिभाति । सत्पदार्थस्याऽवश्यमुपलब्धिरपि भवति। यदि शरीरे कोऽप्यन्यो जीवात्मा भवेत् तर्हि तदुपलब्धिरपि भवेदेव । तथा न भवत्यतो जीवनिरूपणं सर्वथाऽलीकमेव वेद्मि । मया तु बहुधा विलोकितेऽपि समाहूतोऽपि जीवः कुत्राऽपि नैवाऽदर्शि ।

अथ गुरुरवादीत्- भो राजन् ! त्वं प्रत्यक्षमेव प्रमाणं मनुषे । अनुमानादिकं नैव मन्यसे चेदतः पृच्छामि-यथा प्रत्यक्षाऽभावाज्जीव-

सत्त्वाऽभावो निश्चितस्त्वया, तथैव तव पृष्ठभागस्य चाक्षुषं प्रमाणमपि न जायते। इति तदभावोऽपि मन्तव्यः। यदि स्वपृष्ठभागस्य स्वचक्षुषा ग्रहणं न सम्भवति, तथाऽपि निजपृष्ठभागसत्तां स्वीकरोषि तर्हि किमपराद्धं जीवसत्तया। येन तुल्येऽपि कारणे जीवो नास्तीत्यवधारितं त्वया। अतो हे नृपेन्द्र ! नास्तिकतां त्यज। जीवोऽस्तीति जानीहि, मनागपि तत्र न संशयितव्यम्।

इत्थं गुरुवचसा स क्षोणीपतिः किञ्चित्प्रतिबुद्धः। पुनरपि समुत्पन्नसंशयो नृपो गुरुमेवं पप्रच्छ–हे गुरो ! जीवसत्ता तु त्वद्वचसा मयाऽपि स्वीकृता, परं स दृश्यते कथं न ? अहं तु तद्विलोकनार्थं कियतश्चौरान् निहत्य तदङ्गानि सहस्रशश्छित्त्वा विलोकितवान्। कुत्राऽपि कदाचिदपि जीवो नैव दृष्टः, तत्र किङ्कारणम् ?

गुरुः कथयति–हे राजन् ! एकमनाः शृणु, यथा तवेमं सन्देहं छिन्द्याम्। यथा वन्ये शुष्के काष्ठसङ्घाते सन्नपि वह्निश्चक्षुषा न गृह्यते, यथा वा तिलेषु तैलं सदपि लोकैर्न दृश्यते, यथा वा पयस्सु घृतं कुसुमेषु गन्धः तथा शरीरे सन्तमपि जीवं लोका न पश्यन्ति। किञ्च संसारिणः प्राणिनश्चर्मचक्षुषा जीवं न पश्यन्ति सर्वज्ञास्तु पश्यन्त्येव। इयमत्र विचारणा–ये च पदार्था रूपिणः सन्ति, तेऽपि कारणविशेष–संयोगात् प्रकटीभवन्ति। जीवस्त्वरूपी पदार्थः तङ्कथमनेन चर्मचक्षुषा लोकाः पश्येयुः। हे राजन् ! रूपवन्तोऽपि पदार्था घृतादयः स्वकारणे सूक्ष्मतया सन्तोऽपि विशिष्टकारणान्तरसहकारणैवाऽभिव्यज्यन्ते। जीवस्तु निसर्गत एव रूपादिहीनोऽस्ति, तस्य साक्षात्कारस्तु केवलिनामेव जायते। नाऽन्येषामिति जीवसद्भावोऽवश्यमवगन्तव्यः सर्वैः।

ततो जीवसद्भावे सञ्जातदृढमतिको नृपोऽवादीत् – हे अपार-विद्यागुरो ! मयैकदा चौरमेकं लोहपेटिकायाञ्जीवन्तं निक्षिप्य सा पेटिका मुद्रिता, तस्याः सर्वतः शीशकावरणेन वेष्टनञ्च कारितम् । सूच्यग्रमात्रोऽपि तत्प्रदेशोऽनावृतो नाऽकारि । तथापि तस्य तस्करस्य जीवो निरगच्छदेव । तत्राणुमात्रमपि छिद्रं नाऽभूत् । तर्हि केन मार्गेण जीवो निरगादिति महान् मे संशयो जागर्ति । किञ्च तत्र शवे शतशः कृमयोऽपि कथमाजग्मुः । मार्गस्तु नैवाऽऽसीत् । इत्याद्युक्त्वा विरते नृपे, गुरुर्जगाद–

हे क्षितिपाल ! श्रूयताम्, यदा कश्चित् पुमानधिकन्दरं सर्वद्वारं पिधाय मध्ये च स भेर्यादिकं वादयते, तदा तच्छब्दमुपरिस्थिता जनाः शृण्वन्ति न वा ? तथा एव मृदङ्गनादः, एष दुन्दुभिध्वनिः इत्यादि स्पष्टतया ज्ञायते न वा ? राजोवाच–हे स्वामिन् ! सत्यमेतत्शब्दस्तु श्रूयते, ज्ञायते च तद्भेदोऽपि । तर्हि स्वयमेव विचारय । यदवरुद्धे गृहे जातस्य शब्दस्य बहिर्निर्गमस्तथा बहिर्जातस्य नादस्य प्रावृतगृहान्तः प्रवेशश्च छिद्रादिमार्गसद्भावं विना यथा भवति । तद्वदरूपिणो जीवस्याऽपि गमागमौ भवत इति किमाश्चर्यम् ? किञ्च रूपवतो वाद्यस्य नादनिर्गमे यदि गृहकुड्यादौ छिद्रो न जायत इति प्रत्यक्षतया दृश्यते, तर्हि जीवस्य निसर्गतोऽरूपिणो गमनागमनयोर्भित्त्यादयो मनागपि कथं स्फुटेयुः । एतज्जीवद्रव्यं तु सर्वत्र सदैव सूक्ष्मरूपेण व्यापकतया तिष्ठत्येव । इत्याद्यनेकदृष्टान्तदर्शनेन राज्ञः प्रतिबोधो जातः ।

तत्राऽवसरे राजा पुनरेवं मुनिमप्राक्षीत्– हे गुरो ! जीवोऽस्तीति

मयाऽङ्गीक्रियते, परं पाप-पुण्ययोः सद्भावे मनो मे सन्दिग्धमस्ति ।

तदुक्तमाकर्ण्य गुरुरभाणीत् - हे पृथ्वीपते ! यदि जीवस्य धर्माऽधर्मौ न भवेतां, तर्हि संसारे एकः सुखं द्वितीयो दुःखराशिं भुङ्क्ते । एको हस्तिना गच्छति, अपरः पादचारी । कश्चिद्राज्यङ्करोति, कश्चन रङ्कतामुपैति । कियन्तो विद्वांसो दृश्यन्ते, पुनरन्ये मूर्खा इत्यादि जगतो वैचित्र्यङ्कथं स्यादतो धर्माऽधर्मावश्यं स्वीकर्तव्यौ । अमुं दृष्टान्तमाकर्ण्य राज्ञाऽपि पापपुण्ये स्त इति स्वीकृतम् ।

पुनराख्यद्राजा- हे साधो ! मम ज्यायसी पितामही जैनधर्मे भृशं रागवती गुरुसेवनतत्परा सदैव सत्पात्रप्रदानकारिणी समासीत् । तस्याश्च मय्यप्यनुरागो महानासीत् । नित्यं सा मदीयश्रेयसि लीनाऽवर्तत । सा चेदानीं भवन्मते मृत्वा कुत्रचिन्महार्हे देवलोके देवीत्वेनोत्पन्ना सती मामात्मवृत्तं कथयितुमिह कथं न समायाति, इत्यपि महान्मे संशयोऽस्ति । तदा गुरुरेवमाचचक्षे- भो राजन् ! अत्र विषये ममैकं दृष्टान्तं सावधानतया शृणु-

एतल्लोकादूर्ध्वञ्चतुष्पञ्चशतयोजनपर्यन्तं मनुष्यस्य गन्ध उद्गच्छति, तद्भीतिवशादेवा अत्र लोके नाऽऽगच्छन्ति । पुनरेतत्स्फुटार्थद्योतिका गाथाप्येवं-

चत्तारि पंच जोयण-सयाइ गंधो अ मणुअलोगस्स ।
उड्ढं वच्चइ जेणं, न हु देवा तेण आवंति ॥१॥

किञ्च देवा देव्यो वा दासीकृता न सन्ति लोकैः, येन समागत्य तत्रत्यमखिलं वृत्तं लोकान् कथयेयुः ।

अपरमपि दृष्टान्तं प्रमाणतया त्वां दर्शयामि तमपि श्रद्धालुर्भूत्वा

शृणु। हे राजन्! त्वामेव सुस्नातमनुलिप्तसुरभिचन्दनं, रमणीयशुद्ध-कौशेयवसनाभरणैर्मण्डितगात्रं देवपूजायै गच्छन्तम्पथि कश्चिच्चाण्डा-लादिजनो महताप्याग्रहेण यद्येवं ब्रूयात् - हे स्वामिन्! अहं तव दासोऽस्मि सदैव भवदुच्छिष्टमश्नामि, सांप्रतमप्युच्छिष्टमेव शिरसा वहन् व्रजामि। परं मयाऽद्य महाश्चर्यं विलोकितम्। तदिहागत्य मत्तो भवद्भिरवश्यं श्रोतव्यम्। इति तदाहूतस्त्वं तदन्तिकं गमिष्यति न वेति? राजोवाच- हे स्वामिन्! तदानीं नाहं तत्पार्श्वं गच्छानि, तदुक्तं श्रोतुं तत्र क्षणमपि न तिष्ठानि।

इति राज्ञो वचः समाकर्ण्य गुरव ऊचुः हे राजन्! यथा विशिष्टं देवार्चनादिकृत्यं विहाय भवान् नीचजनान्तिकमालपितुं न जिगमिषति। तथैव देवतापि मुनष्यैः सहाऽऽलपितुमिहलोके ना-ऽऽयाति। परन्तु कियन्तो देवा वचनपारवश्यादिकारणेन कदाचिदेवात्र समागच्छन्ति। तत्कारणमेव दर्शयति गाथा-

पंचसु जिणकल्लाणेसु चेव, महरिसितवाणुभावाओ।
जम्मंतरनेहेण य, आगच्छंति सुरा इहयं ॥१॥

व्याख्या-जिनेश्वराणां पञ्चकल्याणके तथैव महर्षीणां तपः-प्रभावाद्देवा अत्र समायान्ति। पुनर्भवान्तर-प्रवरस्नेहप्राचुर्येण श्रीशालिभद्रपितृवत्, द्वेषेणाऽपि च संगमदेववद्देवा मर्त्यलोके समागच्छन्ति, नान्यथेति श्रुत्वा नृप एवमाचष्ट-

प्रभो! गतो मे संशयसकलोऽप्यत्र विषये। परमन्यमेकं पृच्छामि, तमपि युक्त्या निराकरोतु भवान्। तथाहि- हे गुरो! हे सर्वदर्शिन्! मम पिता तु पापीयान् सदैव जीवानां विघातक एवाऽऽ-

सीत्। स च मृत्वा नूनं नारकीगतिमासादितवान्, भवादृशेति[1] तर्कयामि। सोऽप्यत्राऽऽगत्य किमप्यात्मवृत्तमद्यापि मां नाऽवोचत। तत्र किङ्कारणम् ?

एवं नृपेण पृष्टे सति गुरुरुवाच- हे धराधीश ! इहलोके ये पापीयांसो जायन्ते, तेषामवश्यमेव नरके तीव्रतरा महाकष्टदा वेदनाः सदैव भवन्ति। तत्र च समागतांस्तान् जीवान् परमाधर्मिणस्तदधिकारिणो देवा भृशं दुःसहं कष्टं सञ्जनयन्ति, सदा महत्तर-क्लेशराशिमनुभवन्तस्ते जीवा अहर्निशं परतन्त्रा एव तिष्ठन्ति। कदाऽपि कुत्राऽपि गमनलपनादि कर्तुं नैव प्रभवन्ति। किञ्च हे राजन् ! परमाधर्मिणस्तदधिकारिणो देवास्तत्र गतान् प्राणिनो या या वेदना अनुभावयन्ति तास्ता अधुना कथयामि, सावधानीभूय भवता ताः सर्वाः श्रूयन्ताम्।

इह सप्तसु नरकावासभूतपृथिवीषु शीतादिका दशधा क्षेत्रवेदनाः सन्ति। सप्तसु नरकेषु मिथः शस्त्रादिप्रहारं विना सञ्जातवेदनाः समानाः सन्ति। तत्राद्यनरके पञ्चके प्राणिनां परस्परं प्रहारादिवेदना जायन्ते। तथा प्रथमनरकत्रये जीवानां परमाधार्मिकैस्तैर्दैवैर्विहिता दुःसहा महावेदना भवन्ति। ताश्चैताः-यथा-शीतवेदना (१) उष्णवेदना (२) क्षुधावेदना (३) तृषा (४) खर्जू (५) परवश्यता (६) ताप (७) दाह (८) भय (९) शोकवेदना (१०) एतदन्ये दुःसहतराः क्लेशा अपि भुज्यन्ते नरके प्राणिभिः सदैव।

किञ्च हे राजन् ! दृष्टान्तमप्येकमत्र विषये त्वां दर्शयामि। तथाहि-यदा कश्चिच्चपलो धूर्तस्तव प्रेयसीं सूरिकान्ताभिधानां रहसि

1. भवदनुसारेण।

सेवेत। पुनस्तद्विलोक्य गृहीत्वा च तं कृतमहापराधं धूर्तं त्वं हनिष्यसि वा त्यक्ष्यसीति ब्रूहि। ततो राजा न्यगदत् – हे प्रभो! तादृशम्पुमांसन्तु सहस्रखण्डशः कृत्वा चतुर्दिक्षु बलिमेव दास्यामि। कदाचिदपि नैव मोक्ष्यामि। पुनमुर्निना भणितम् – हे राजन्! स वध्यः पुमान् यदि तत्राऽवसरे बहुशस्त्वामनुनयेत् निजकुटुम्बसंमिलनाय गन्तुमिहेत– अर्थात् हे स्वामिन्! निजकुटुम्बं मिलित्वा पुनरधुनैवाऽत्राऽऽगमिष्यामि साम्प्रतं मां मुञ्चेति प्रार्थयेत, तर्हि तं किङ्करिष्यसीति गुरुणा पृष्टे न्यगदद्राजा–हे स्वामिन्! महापराधिनं कदाऽपि न हास्यामि। ततो गुरुः कथयति – भो राजन्! यथा सापराधं नरं निजकुटुम्बादिदर्शनाद्यर्थं त्वं न मोक्तुमर्हसि। तथैव नरकस्थजीवानपि ततोऽन्यत्र गमनाय तदधिकारिणो देवा नैव मुञ्चन्ति। अतो नरकवासिनो जीवा भृशं दुःखसागरे निमग्ना अपि पारतन्त्र्यवशादिहलोके पुत्रादिपरिवारं किमप्यात्मदुःखं सूचयितुं नागच्छन्ति।

इत्थं स केशिकुमारो गणधरो नास्तिकमतिकमपि प्रदेशिराजानं प्रतिबोधयामास। ततस्तत्याज च नास्तिकतामतिं भूपालो गतशङ्कः। समुदपद्यत महती श्रद्धा राज्ञः शाश्वते जैनधर्मे। अङ्गीकृतवांश्च राजा श्रावकस्य द्वादशव्रतानि।

अथ राजा राजद्रव्यस्य चतुर्भागं कृत्वा प्रथमम्भागङ्कोशालये स्थापितवान्। द्वितीयं भागमन्तःपुररक्षणपोषणादिसम्पादनार्थं, तृतीयं भागं धर्म्मार्थं, चतुर्थं भागं सैन्यार्थं विहितवान्। इत्थं शुद्धधर्ममासाद्य धर्म्मे च मतिदार्ढ्यं विधाय चित्रसारथिना प्रधानेन सह गुरुं त्रिकरण–शुद्ध्या वन्दित्वा निजावासम्प्राप्तवान्।

ततःप्रभृति स नृपो विषयवैमुख्यं दधानः सदा पौषधे, प्रतिक्रमणे द्विकालिके, सामायिकादिव्रतप्रत्याख्याने च समासक्तोऽभवत् । मुनिरपि ततोऽन्यत्र विजहार। तदनुस राजा विषयवासनापरित्यक्तः संसारे लौकिकं कृत्यं कुर्वाणः समवर्तत । राज्यं कुर्वतोऽपि तस्य भूपतेर्मनः सदा धर्मकृत्य एवाऽनुरागि बभूव। विषये तु विरक्तमेवा-ऽऽसीत् । किमधिकेन, तस्य राज्ञो याऽतिप्रेयसी श्रेयसी कान्ता सूरिकान्ताभिधानाऽऽसीत् तामपि राजा नितरां विसस्मार ।

अथ राजानं विषयविमुखं शान्तमनसं तपोरागिणं विचिन्तयन्ती सूरिकान्ता वर्धिष्णुकामवासना निजविषयसुखपूरणाय, कमपि तरुणम्पुमांसमन्यं स्वानुरागिणं सेवितुमैच्छत्। ततःप्रभृति सा सूरिकान्ता निजभर्तरि महाद्रोहं विदधती मनस्येवं दध्यौ - एष नितरां विषयवै-मुख्यमुपगतः । मम तु सदैव घृतेन वह्निरिव मदनो भृशं वर्धिष्णुरेव दृश्यते । सति तस्मिन् भर्तरि पुरुषान्तरेणाऽपि मम स्वैरविहारो न स्यादित्यादिचिन्ताकुला यावदासीत् सा, तावदेकदा महीभुजस्तस्य सञ्जातषष्ठोपवासस्य पारणकमागात्, अर्थात्-दिनद्वयमुपोषितस्य महीजानेः पारणादिवसो हि समागतः ।

तत्र दिने पारणायां विषमिश्रमाहारं राजानं भोजयामास, स राजा तस्या महादुष्टायास्तादृशं दुश्चेष्टितं जानन्नपि स्वस्य तथाभवितव्यं मत्वा किञ्चदप्यनूचानस्तद्दत्तमाहारं सुखेन भुक्त्वा सर्वाङ्गरलव्याप्त्या व्याकुलतामधिगच्छन्नचेष्टो जातः । तत्राऽवसरे कुशलं प्रष्टुं सर्वे सामन्ताऽमात्यादयो राजकीयास्तत्राजग्मुः। तस्मिन्नवसरे सूरिकान्तया दुष्टधिया चिन्तितमेवम् - अहो यद्यसौ नरनाथः कमपि मम

चेष्टितङ्कथयेत्तर्हि महदपयशो मे स्यादिति विचिन्तयन्ती सा दुर्धी राज्ञी स्त्रीचरित्रं नाटयन्ती राजान्तिकमागत्य केशपाशमुन्मुच्याऽभितो विलोकयन्ती नृपोपरि पतन्ती राज्ञो नलिकामुच्चैः परिपीड्य राजा ममारेति तत्क्षणमाक्रोष्टुमारेभे । तदाक्रन्दनमाकर्ण्य सर्वेऽपि लोकास्तत्रागता । नृपं मृतम्पश्यन्तो नितरां शुशुचुः, पुनस्ते तदीयोत्तरक्रियां कर्तुम्प्रावर्तिषुः ।

राजा मृत्वा समाधिमरणमाहात्म्येन प्रथमे देवलोके सूर्याभविमाने सूर्याभनामा देवोऽभूत् । तत्र च चतुःपल्योपममायुर्भुक्त्वा ततश्च्युत्वा महाविदेहे क्षेत्रे मानुष्यमासाद्य सद्गुरुसंयोगे चारित्र्यम्परिपाल्य कर्मसन्ततिं क्षपयित्वा मोक्षं प्राप्स्यति । अक्षयं सुखं भोक्ष्यति । अतो हे भव्याः ! परमसुखार्थिनः भवन्तोऽपि यदि मोक्षसाम्राज्यमिच्छेयुस्तर्हि प्रदेशिराजवत् सद्गुरुसमायोगं विधाय धर्मे मतिदार्ढ्यं कुर्वन्तु ।



३-अथ धर्म-तत्त्वविषये-

जलनिधि जलवेला चंद्रथी जेम वाधे,
सकल विभव लीला धर्मथी तेम साधे ।
मनुअ जनम केरो सार ते धर्म जाणी,
भजि भजि भवि भावे धर्म ते सौख्य-खाणी ॥७॥

यथा चन्द्रमसा जलनिधिरेधते, तथा धर्मैराराधितैः संसारे लौकिक्यः सम्पदो नितरामभितो वर्द्धन्ते । अतः हे भव्याः ! इहलोके मनुष्ययोनिमासाद्य सर्वसारं धर्मतत्त्वं सकलसुखनिधानं सादरमा-

राधयत ।।७।।

इह धरम पसाये विक्रमे सत्य साध्यो,
इह धरम पसाये शालिनो साक वाध्यो ।
जस नर गज वाजी मृत्तिकाना जिकेई,
रण समय थया ते जीव सांचा तिकेई ।।८।।

किञ्च हे लोकाः ! पश्यत दुष्करमपि समीहितं धर्मप्रभावतो जायते । तथाहि-विक्रमेण वीरेण धर्मप्रसादादेव सार्वभौमत्वं प्राप्तम् । वीरसंवत्सरवत् निजनाम्ना संवत्सरमस्थापयत । अपि च धर्माराधनेनैव शालिवाहनो धराधीशो निजनाम्ना शकाब्दञ्जगति व्यवहारितवान् । महत्तरमकण्टकं राज्यमलभत । अन्येऽपि बहुशो वीराः सम्यग् धर्ममाराधयन्तो महागजतुरङ्गमादि-दिव्यानि वाहनानि प्रापुः । तथा रणे विजयिनो बभूवुः ।।८।।



३-अथ धर्मतत्त्वोपरि विक्रमार्कस्य कथानकं दर्श्यते-

इह हि मालवदेशे उज्जयिनी पुरी वर्तते, तत्र गन्धर्वसेननामा राजा राज्यङ्करोति । तस्य भूपते रूपलावण्यादिगुणै रम्भोपमा मुक्तावलीनाम्ना प्रेयसी पट्टराज्ञी विद्यते । तयोश्च भर्तृहरि-विक्रमाभिधानौ पुत्रौ बभूवतुः । तावुभौ भ्रातरौ पित्रोः प्रमोदकरौ द्वासप्ततिकलानिधानौ सकलविद्याविशारदौ बलाढ्यौ तेजस्विनौ प्रतापवन्तौ नयादि-सकलगुणसम्पन्नौ यौवनमापतुः । तदा वार्द्धक्यमुपागतो राजा ज्यायांसं भर्तृहरिनामानं पुत्रं प्रधानादिसकलजनानुमत्या राजानं कृतवान् ।

ततः केनचित्कारणेन तन्निजबन्धुनृपकृतापमानासहमानः कनीयान् विक्रमकुमारः कोपाद्देशान्तरं गतवान् । राजा भर्तृहरिर्न्यायमार्गेण राज्यं पालयन्नासीत् ।

तत्रावसरे निर्धन एको ब्राह्मणो निजभार्यया भणितः- हे स्वामिन्! धनैर्विना कुटुम्बपोषणं न सम्भवति, धनमर्जय । ततो भार्यया प्रेरितो ब्राह्मणः प्रचुरतरैश्वर्यं लब्धुकामस्तत्रैव सद्यः फलप्रदां 'हरसिद्धिं' देवीमाराधयितुमारेभे। परिपूर्णे चानुष्ठाने सा देवी प्रत्यक्षीभूय तमेवमवादीत्- हे ब्राह्मण ! तपसाऽनेन तवोपरि तुष्टास्मि । वरं ब्रूहि निजाऽभीष्टञ्च प्रार्थय । तदनु द्विजोऽपि तां प्रणम्य यथामति संस्तुत्य प्रोचे - हे मातः ! यदि तुष्टासि, वरञ्च दित्ससि, तर्हि महच्यमजरामरफलन्देहि । ततः सा देवी तस्मै तत्फलं दत्त्वा निजस्थानङ्गता ।

ततस्तत्फलमादाय द्विज एवमचिन्तयत् । एतत्फलं नूनममुष्मै भर्तृहरिराजाय ददानि, स तुष्टो मे यथेष्टं धनं दास्यति, ततोऽहं सपरिवारः परमं सुखमनुभविष्यामि । इति विचार्य तत्फलं स राज्ञे दत्तवान् । तदीयमाहात्म्यञ्च सविस्तारं प्रोक्तवान् । तन्माहात्म्यं निशम्य विलक्षणमलभ्यञ्च तत्फलं गृहीत्वा नृपस्तमेवमपृच्छत् - हे विप्र ! एतत्फलं त्वया कथं कुत्र च लब्धम् ? नृपोक्तमाकर्ण्य यथा प्राप्तं तदादितः सर्वमपि वृत्तं स राजानमुक्तवान् । अथ सन्तुष्टो नृपस्तस्मै बहुविधं यथेष्टमाजन्मनिर्वाहक्षमं धनं प्रादात् ।

ततो विसृष्टे च विप्रे तत्फलं निजप्रेयस्यै सदा सुस्थिरयौवनस्थितिकामनया राजा ददौ । कथितञ्च-अयि प्रियतमे ! एतत्फलं भुङ्क्ष्व । तथा सति तव सदैव तारुण्यं स्थास्यति, जरा तु कदापि

नागमिष्यति। सापि तदाजरामरकारि फलम्पाण्डवनाम्ने निजजार-पुरुषाय प्रेम्णा दत्तवती। सोऽपि गणिकासमासक्तः शृङ्गारमञ्जरी-वेश्यायै ददाति स्म। तयापि चिन्तितम्- एतत्फलं राजा यदि भोक्ष्यति तर्हि वरं स्यादिति ध्यात्वा तदादाय स्वर्णस्थालके च निधाय निजपरिवारयुता राजसभामागत्य तस्मै भूजानये समर्पयामास।

अथ तत्फलमालोक्य राज्ञो हर्षस्थाने महान् विस्मयो जातः। अहो!!! मयैतत् स्वराज्ञ्यै दत्तम्। तर्हि कथमनया लब्धम्, एवमनेकधा निजमनसि संशयमधिगच्छन् राजा तामेवम्पप्रच्छ। अयि गणिके! त्वयैतत्फलं कुतो लब्धं, सत्यं ब्रूहि। तत्रावसरे सा गणिका तद्विषये किमप्यलीकमेव वक्तुं लग्ना, परं राज्ञा तन्न स्वीकृतम्। पुनः पुनः क्षितिभुजा पुष्टाऽपि यदा सा वेश्या सत्यवृत्तान्तं नाऽवोचत तदा प्रकुपितो राजा तामेवमवदत्- अरे रण्डे! सत्यं वद कुतः प्राप्तमेतदिति, नो चेदधुनैव शूलिकायां त्वामारोपयिष्यामि समादिदेश च मन्त्रिणमेवम्- भोः प्रधान! एनामलीकवादिनीं बद्ध्वा सन्ताडय।

ततस्तां बद्ध्वा ताडयितुं लग्नः कोऽपि प्रतिहारी, ततोऽवादीत् सा-हे स्वामिन्! मा ताडय-ताडय सत्यं कथयामि यथा प्राप्तमिति। तवैव सेवकेन पाण्डवाभिधेन मे दत्तमेतत्। मया तु विशिष्टम्फलमेतदिति ज्ञात्वा भवते समर्पितम्।

अथ पाण्डवमाहूय राजा तत्स्वरूपम्पप्रच्छ। सोऽपि बहुधा ताडितोऽपि बिभीषितोऽपि सत्यं नाख्यत्। परं विचक्षणो भर्तृहरिस्स्व-मत्यैव तत्स्वरूपमवधार्य तत्फलञ्च वस्त्राच्छन्नमादाय राज्ञ्याः पार्श्वमा-गतः।

तामेवमपृच्छत्- भो राज्ञि ! मदत्तमजरामरकारि फलं त्वया भक्षितं किम् ? तयोक्तं - स्वामिन् ! तस्मिन्नेव दिने मया भक्षितम् । तस्मिन्नवसरे भर्तृहरिरेवं निजमनसि निश्चिकाय, यत्खल्वियं राज्ञी पापीयसी जारानुरागिणी वर्तते । अतोऽस्मिन्नसारे संसारे धीराणां का प्रीतिः । अहो कामपारतन्त्र्यमुपागतो लोको ध्रुवमकार्यमपि विधत्ते। इत्थं स नरपतिर्विषयविमुखो भूत्वाऽमुं संसारमसारं जानन् दीक्षामेव निःश्रेयसे स्वीचकार ।

इतश्च नानादेशानटन् बहुशः कौतुकानि विलोकमानः स विक्रमस्तत्रोज्जयिन्यां क्षिप्रातीरे समागत्य तस्थौ । तदा तत्रैकलक्षः पोठीनः[1] सहावतीर्ण आसीत् । विक्रमोऽपि तन्मध्ये निशि चौर्याय प्रविवेश । तत्स्वामी च तस्मिन् समये केनापि मित्रेण सह सारिकापाशकक्रीडनं विदधदासीत् । क्षिप्रायाः पूरोऽपि तत्र समये महानासीत् ।

तत्रावसरे काचिदेका शृगाली जगाद । तच्छ्रुत्वा मित्रम-पृच्छत् - हे श्रेष्ठिन् ! इयं शृगाली किं वक्ति ? पोठस्वामी न्यगदत्- हे मित्र ! शृणु, सम्प्रति क्षिप्राप्रवाह-मध्ये स्त्रीशवो याति तदङ्गे महार्हाणि विविधानि भूषणानि सन्ति । तथा धनमपि प्रचुरं तदङ्गे संबद्धमस्ति । यदीदानीं कश्चन महाशूरो वीरो जलाच्छवमानीय भूषणानि सर्वाणि धनानि च गृहीत्वा तत्कलेवरं भोक्तुं मे समर्पयेत् तर्हि वरम्, इति वदति क्रोष्ट्री ।

अथ तत्पोठमध्ये गुप्तः सर्वमाकर्णयन् विक्रमस्तत्क्षणमेव क्षिप्रान्तः

1. भाषा शब्दः । गठरी वहना करनेवाला ।

पपात । पुनस्तच्छवमानीय तीरे च धृत्वा तदङ्गतः सकलधनादिकं गृहीत्वा, मुक्तः कलेवरस्तस्यै शृगालिकायै भक्षणाय विक्रमार्केण । अथ पुनस्तत्रैवाक्षदेवनस्थाने प्रच्छन्नतया गत्वा तस्थौ । श्रेष्ठ्यपि मित्रेण साकमक्षक्रीडनं कुर्वन्नासीत् ।

सैव क्रोष्ट्री पुनरूचे । भूयोऽपि तद्रावफलं श्रेष्ठिनं सोऽपृच्छत्। अथ श्रेष्ठिनोक्तम्- हे सखे ! इयमधुना यद् ब्रूते तदाकर्ण्यताम्- येन साहसिकशिरोमणिना पुंसा ममाऽर्पितं भक्षणम्, स उज्जयिन्या राजा भविष्यति । विक्रमः सर्वमाकर्णितवान् ।

अत्रान्तरे पुनरुक्तं तया क्रोष्ट्या, तेन मित्रेण तथैव तत्फलमपि श्रेष्ठी पृष्टः । तत्रावसरे प्रच्छन्नं स्थितं विक्रमं स सार्थस्वामी ददर्श । तत्क्षणं स विक्रमो विस्मितो यावदितस्ततो वीक्षमाण आसीत्, तावत्तदग्रे गत्वा श्रेष्ठिनालिङ्गतः । व्यक्तीभूय स विक्रमः सर्वमादितः शिवा-भाषितफलमाकर्ण्य तं श्रेष्ठिनमेवमुवाच- हे महाभाग ! इतःप्रभृति त्वं मम मन्त्री जातोऽसि ।

ततस्तेन मन्त्रिणा साकं विक्रमो बहुविधशुभशकुनैः प्रेरितो हृष्टमना नगरम्प्राविशत् । तदैव कोऽपि राजपुरुषः कस्यचिदेकस्य कुम्भकारस्य गृहे समागत्य तव गृहादेवाद्य केनापि पुरुषेण तत्र भक्ष्याय गन्तव्यमिति वारकपत्रमर्पयित्वा तदीयाऽऽत्मजं गृहीत्वा चचाल । ततस्तदीयौ पितरौ भृशमाक्रोशन्नक्रतुः । विक्रमस्तदालोक्य तावुवाच- अरे ! कथमेवं रुदिथः ? तावक्तां- आवयोरतिवृद्धयोः पुत्रमसौ राजकीयजनो गृहीत्वा याति । अत आवामेवमाक्रन्दावः । पुनरुक्तं विक्रमेण मा रोदिष्टम् । अहमेव त्वत्पुत्रस्थाने गमिष्यामि ।

परन्तु युवां वदतं, किमर्थं कुत्र युवयोः पुत्रं स नयतीति । युवां चिन्तां त्यजतं । यदि दुष्करमपि भविष्यति तथापि युष्मदात्मजं मोचयिष्यामि, तत्स्थाने गमिष्यामि चेति श्रुत्वा तावदताम् ।

हे परोपकारिशिरोमणे ! अत्र नगरे राजा भर्तृहरिः सञ्जात-वैराग्यवशात् प्रव्रजितः । ततःप्रभृति कोऽप्यत्र राजा नास्ति । किञ्चास्वामिकेऽस्मिन्नगरे कोऽप्यग्निवेतालाभिधो वीरो महादुष्टो नागरिकाञ्जनानसह्यैः क्लेशैः समुद्वेजयितुं लग्नः । ततश्च सर्वे राजकीया जना उद्विग्नाः सन्तः प्रत्यहमेकं नरं तस्मै भक्षणार्थं दातुं निश्चिक्युः । ततःप्रभृति प्रतिदिनमेकस्माद् गृहादेको नरो याति तस्य महाराक्षसस्य भक्ष्याय । अद्यावयोरेव पुत्रं तदर्थमसौ राजपुरुषो नीत्वा याति ।

अथैतद्वार्तां श्रुत्वा तं राजकीयं पुरुषमेवमुवाच – भोः पुरुष ! एनं मुञ्च, एतत्स्थानेऽहमेव गच्छामि । ततस्तं कुम्भकारपुत्रं मोचयित्वा स्वयं तेन पुरुषेण सह समन्त्रिको विक्रमो राजसदनमागत्य राजसिंहासनोपरि समुपविष्टो भृशमदीप्यत । तत्रावसरे सकला अमात्यप्रधानादयस्तमुपलक्ष्य प्रमुदितमनसः प्रणेमुः ।

अथ विक्रमेण चिन्तितम्– मया कुम्भकारपुत्रो मोचितः । परं निशि तद्देवता प्रीत्यर्थं कोऽप्युपायस्तु नाऽवधारितः । अथैवं निजमनसि चिन्तयता राज्ञा सर्वे कान्दविकाः समाहूताः । ततस्तानेवमादिशत् – भोः कान्दविकाः ! यूयं नानाजातीयमोदकराशिं कुरुत । नानाविधान् यथेष्टानपूपान् घृतपूरकादीनि च ।

ततस्तत्तद्राशीकृतानि भोज्यानि मोदकादीनि, नानाविधव्यञ्जनानि, भक्तानि, सुस्वादकराणि तत्र स्थाने स्थापयामास । स्थाने

स्थाने दीपावलीश्च कारितवान् । तत्र स्थाने तदर्थं मुखवासकराणि ताम्बूलादीनि लवङ्गैलाकस्तूरिकाकर्पूरादिविमिश्रितानि पुञ्जीकृतानि, तत्स्थाने स्थापितवान् । तथा नानाविधसुरभिघ्राणतर्पणविधायक-द्रव्यराशिभिः परिपूरितम् । तथा नानाजातीयमहामोदकरधूपराशीश्च तत्र कारितवान् ।

इत्थमनेकविधखादिमलेह्यपेय-पदार्थैः निभृतं विधाय निर्गते च लोके निर्जने तद्राजमन्दिरे रात्रौ खड्गपाणिः स विक्रमो राजा समागत्य तस्मिन् राजपल्यङ्के पुरुषाकृतिकङ्काष्ठं स्थापितवान् । पुनस्तं वसनेन समावृणोच्च । स्वयञ्च समुद्यतासिः क्वचिद्रहः स्थितो जातः ।

ततोऽर्धरात्रे मुखेन फुत्कारं विदधत् करेण च डमरुं वादयन् पद्भ्यां घुर्घुरारावं सञ्जनयन् रक्तायतलोचनः पृथ्वीं चरणाघातेन कम्पयन् वृक्षान् शातयन् सोऽ ग्निवेतालस्तत्राऽऽगात् । पुनस्तत्क्षणमेव तत्र पल्यङ्कोपरि सुप्तं नराकारमसिना द्विधा कृतवान् । अथ भग्नङ्काष्ठमालोक्य नरमपश्यन्नभितो वीक्षमाणो यावदासीत् तावत्तत्र तस्याऽभिमुखीभूतो विक्रमस्तं वीरम्प्राणमत् । ततो वेतालस्तमेवमपृच्छत्- भो ! एतत्सर्वं किमर्थमत्र सञ्चितं दृश्यते, राज्ञोक्तम्- भगवन् ! त्वदर्थमेवास्ति । एतानि सर्वाणि गृहाण, सुखेन भुङ्क्ष्व, नरभक्षणं जहि । अथ तत्सर्वं भुक्त्वा सन्तुष्टो वेतालो भूपालमेवमुवाच - हे वीरविक्रम! मया किलैतद्राज्यं तुभ्यम्प्रदत्तम् । परं नित्यमित्थमेतावान् बलिः त्वया प्रदेयः । इत्युदीर्य स वेतालोऽलक्ष्यो जातः । ततो निःशङ्को राजा तस्यामेव शय्यायां सुष्वाप ।

ततो जाते च प्रभाते विनिद्रो राजा स्नानादिकं विधाय विविधानि बहूनि दानानि चक्रे। पौरे च सर्वाः प्रजाः प्रमोदमापुः। तस्मै महीभुजे च सर्वे लोका आशिषो ददुः। इत्थं प्रजापालयतः प्रत्यहं तस्मै तथाविधबलिमर्पयतो राज्ञ एकदा मनस्येवं वितर्को जातः। एतस्मै प्रतिरात्रं बलिमित्थं समर्पयामि, यदा न दास्यामि, तदा पुनरसौ महोपसर्गं विधास्यति। अतः कोऽप्युपायो विधातव्यो येन तस्मै बलिर्दातव्यो न भवेत्।

एवं शोचता विक्रमेणैकदा स वेतालो भणितः- भो देव ! ममायुः कियदस्ति ? तेनोक्तं- त्वदायुः शतवर्षमस्ति। पुनः पृष्टं राज्ञा हे वीर ! एतदङ्कशून्यतया सुन्दरं न प्रतिभाति। अतः शतमध्यात् किञ्चिदधिकं न्यूनं वा विधेहि। तदाकर्ण्य वेतालो वक्ति-हे राजन्! यत्ते षष्ठी दिने विधिना[1] शतमायुः कृतं तन्न्यूनाधिकं कर्तुं विधिरपि न शक्नोति का वार्ता तदितरेषाम्। ततो वेतालो निजधाम गतः।

अथान्यस्यां रात्रौ राज्ञा चिन्तितमेवम् - इह हि सत्यायुषि कमपि कोऽपि न हन्तुं शक्तिमानस्ति, तर्हि वेतालो मे किङ्करिष्यति। इति विश्वस्तेन तदर्थं बलिर्नोपढौकितस्तत्र विक्रमेण।

अथ मध्यरात्रे समागतो वेतालस्तत्र बलिमपश्यन् राज्ञे भृशं चुकोप। ततः कोपादतिभीषणं तमेवं राजाऽवदत् - हे वेताल ! अलमिदानीं कोपेन। यदि शक्तिं बिभर्षि, तर्हि समागच्छतु भवान्, मया सह युध्यताम्। ततो विक्रमस्य साहसं विलोक्य तेनोक्तम् - हे राजन् ! त्वं नूनमेव सर्वेषां साहसिकानां सुभटानाञ्च शिरोमणिरसि।

1. आयुष्यरूपी कर्मेण

अतोऽहं त्वयि सन्तुष्टोऽस्मि । वरं ब्रूहि, इति तदीयं वच आकर्ण्य विक्रमोऽपि तमेवमगदत् । हे देव ! यदि तुष्यसि वरञ्च दित्ससि, तर्हि सर्वास्ववस्थासु त्वं मामव्या इति प्रार्थनैका । तथा स्मृतोऽस्मृतो वाऽवसरे मदन्तिकमागच्छ, इति द्वितीया प्रार्थना । इतोऽन्यत्किमपि न प्रार्थयामि । वेतालोऽपि तत्सर्वमङ्गीकृत्य निजधाम गतः ।

विक्रमोऽपि ततःप्रभृति निर्भीकः प्रजा इव प्रजां पालयन् सुखमनुबभूव । स विक्रमः तत्रोज्जयिन्यामेव काप्येका सिद्धविद्या तैलिककन्या त्रिभुवनजयिनी रूपलावण्यवती तारुण्यलीलावती देवदमन्याख्या समासीत्, तच्छकाशात् पञ्चदण्डात्मकं छत्रं साधयामास । विद्यया च तां विजित्य स्वप्रेयसीञ्चकार । तथा सौधर्म्मेन्द्रोऽपि तदीयगुणगणं समाकर्ण्य विक्रमार्कभूपतेर्वशंवदः समासीत् । विक्रमोपरि महती प्रीतिरासीदिन्द्रस्यापि । किञ्च विक्रमी विक्रमः प्रीतिदत्ते देवेन्द्रेण महासिंहासने समुपविष्टः पञ्चदण्डात्मकच्छत्रेण शोभमानो नितराम-दीप्यत ।

अथैकदा तत्र नगरे श्रीमहाकालेश्वरमन्दिरे राज्ञः प्रतिबोधार्थं [1]कुमुदचन्द्राभिधो जैनाचार्य आगात् । स च महाकालाऽभिमुखं पदं कृत्वा तत्रैव सुप्तः । अथ कियता कालेन समागतोऽर्चकस्तं साधुं सुप्तमालोक्य बभाषे- अरे ! कस्त्वम् एवं किं स्वपिषि ? श्रीमहादेवा-वहेलाकरणेन कथं न बिभेषि ? इत्थमर्चकेन बहुधा निवारितोऽपि स यदा न न्यवर्तत, तदा स देवलस्तत्क्षणमेवैतत्स्वरूपं सर्वं राज्ञे निवेदयामास । तदाकर्ण्य राजापि क्रुद्धः सुभटानैवमादिशत् - भोः सुभटा ! यूयं तत्र यात, तं पाखण्डिनं निहत्य सत्वरं बहिर्निष्काशयत।

1. श्री सिद्धसेन दिनाकरसूरिः

तेऽपि तत्कालमेव तत्र गत्वा तं साधुं पादयोर्धृत्वा निष्क्रष्टुं लग्नाः । तत्रावसरे तदीयौ चरणौ भृशं ववृधाते । ततस्ते तौ हित्वा तद्धस्तौ गृहीत्वा तमुत्थापयितुमैच्छन् । तद्विलोक्य स साधुः करावपि नितरामवर्धयत् । ततस्ते तं ताडयितुं लग्नाः । संताडिते च तत्र मुनौ तत्रान्तःपुरे स्थिता राजदारा एव ताडिता जाताः, ततस्ते तन्नमत्कारिणं ज्ञात्वा सर्वमादितो वृत्तं भूपं कथयामासुः ।

अथ राजा स्वयमेव तत्रागत्य तमवोचत – भो मुनीश्वर ! त्वमित्थं देवदेवं महादेवं कथमवहेलयसि ? तेनोक्तम्– मया नैवाऽव-ज्ञायते । राजा वक्ति– एष तु मम देवः । मुनिर्वक्ति– नहि–नहि एतन्मध्येऽस्मदीयो देवो वर्तते । पुनराचष्टे नृपः – यद्येतन्मध्ये भवदीयो देवोऽस्ति तर्हि नो दर्शय । तच्छ्रुत्वा तेनोक्तम्–हे भूपेन्द्र ! पश्य, अत्रावसरे स 'कल्याणमन्दिरस्तुतिश्लोकेन निजदेवं सम्बोध्य यदाऽऽह्वयत तदैव तल्लिङ्गं भित्त्वा तदाचार्यकरजलसेकप्रभावतो-ऽवन्तीपार्श्वनाथो भगवानाविरासीत् । तदैतच्चमत्कारमालोकयन्, स राजा तं सिद्धमाचार्यं ननाम । पुना राजा शुद्धदेवे गुरौ च सञ्जातश्रद्धः सम्यक्त्वसहितं श्रावकीयं द्वादशव्रतमङ्गीचक्रे ।

ततोऽसौ राजा जैनधर्मप्रभावेण सञ्जातनिजाऽमितपौरुषेण सुवर्णपुरुषसाहाय्येन च सकलवैरिव्रजमवधीत् । ततोऽस्य राज्यं निःसपत्नमासीत् । पुनरसौ विक्रमी विक्रमार्को निजनाम्ना जगति संवत्सरं प्रावर्तयत् । किञ्च तस्य विक्रमभूपेन्द्रस्य शासनमखण्डं जगतः खण्डत्रये मान्यमासीत् । मोक्षङ्गतस्य भगवतो महावीरस्य सप्तत्यधिकचतुःशते वर्षेऽतीते विक्रमार्कीयः संवत्सरः प्रावर्तत ।

इत्थमकण्टकं राज्यं कुर्वन्, अर्हद्भक्तिं विदधत् स्वायुः शतं सम्पूर्णीकृत्य स विक्रमी विक्रमो राजा देवलोकङ्गतवान् । इतोऽधिकं तच्चरित्रं विक्रमचरित्रादितो बोध्यं जिज्ञासावद्भिः ।



४- अथ धर्मतत्त्वोपरि शालिवाहननृपस्य कथानकम्-

तथाहि-इहैव दक्षिणमहाराष्ट्रदेशे प्रतिष्ठानाऽभिधानं नगरं वर्तते । तत्र च शालिवाहनाख्यो राजा विलसति । स चैकदा निजनगरसीम्नि वहन्त्याः क्षिप्रानद्यास्तटे विहरन् नदीशोभाञ्च पश्यन् नितरां जहर्ष । परं तत्रावसरे जलतरङ्गसंयोगादेको महाकायो मीनो नदीतीरमागत्य प्रकटं जहास । तदालोक्य स राजा मनसि क्षोभं कृतवान् । क्षोभस्य तत्रेदं कारणम्-यल्लोकेऽस्मिन् मत्स्यो नैव हसति । परमसौ जहास । तेन कोऽप्युत्पातोऽवश्यं भावीति निश्चित्य विमना इव राजा निजावासमापन्नः ।

ततः सर्वान् दैवज्ञान् नैमित्तिकांश्च समाकार्य तत्कारणं राजा तानपृच्छत् । परं मनःसन्तोषकरमुत्तरं कोऽपि नाऽवक् । ततो विषण्णो राजा ज्ञानसागरनामानं जैनमुनिमपृच्छत् - भो मुने ! मामवलोक्य स मीनः कथं जहास ? इत्थं राज्ञा पृष्टो मुनिरवधिज्ञानयोगेन जन्मान्तरीयं तत्सर्वमालोक्य राजानमेवमवोचत् - हे राजेन्द्र ! सावधानमनसा तत्कारणमाकर्ण्यताम् ।

इहैव नगरे पूर्वजन्मनि भवान् निरपत्यः काष्ठभारविक्रेता महारङ्क आसीत् । काष्ठभारं वनादानीय विक्रीय च नगरे निजात्मान-

मपुषत्। एकदा नदीतीरे शिलोपरिसक्तून् पयसा(वारिणा) पिण्डीकुर्वता कोऽपि मासोपवासी क्षमाश्रमणः पारणार्थं गोचर्यै समागच्छंस्त्वया-ऽऽलोकितः । तत्रावसरे श्रद्धया तमाहूय मुदा तत्सक्तुपिण्डं तस्मै दत्तवान् । तत्सुपात्रदानप्रभावत इह जन्मनि राज्यमीदृशं त्वया लब्धम्। स एव त्वमिह जन्मनि राज्यसौख्यमनुभवसि। स मुनिर्मृत्वा देवोऽजनिष्ट। पूर्वजन्मनि महारङ्कमिह जन्मनि राज्यसुखशालिनं च त्वामवगत्य प्रेम्णा मीनशरीरं प्रविश्य स एव देवो जहास । अत एतद्विषये त्वया किमपि न शोचनीयम्।

इत्याकर्ण्य सञ्जातपूर्वभवजातिस्मृतिः स शालिवाहनो नृपः साधूक्तं सर्वं तथैव मेने । ततस्तस्य राज्ञो जैनधर्म्मे महती श्रद्धा समुत्पन्ना। ततःप्रभृति दानधर्मादिविषये राज्ञो मनो विशेषतः सँल्लग्नम्। धर्मकृत्ये सदैव तत्परोऽभवत् । अस्मिन् भारते तन्नाम्ना प्रवर्तितो वत्सरोऽद्यापि पञ्चाङ्गे ज्योतिर्विद्भिर्विलिख्यत एव। किञ्च विक्रमार्क-नृपतिना सह यथास्य सङ्ग्रामोऽभूत्तथाऽधस्तनप्रदर्शितलेखतो बोध्यः।

तथाहि-प्रतिष्ठानपुरे नगरे कस्यचित् कुम्भकारस्य गृहे त्रयो यात्रार्थिनः समागताः। तत्र द्वौ भ्रातरौ तदीयाऽचिरकालिकी विधवा भगिन्यासीत् । सा च निजश्रियाऽप्सरसोऽप्यधिका, पश्यतां यूनां धैर्यलोपनविधायिनी, महारूपलावण्यशालिनी, किमधिकेन ब्रह्माण्डो-दरमध्यवर्तिकामिनीनामखिलानां सा हि प्रशस्यतमाऽऽसीत्।

सा चैकदा सन्ध्यासमये गोदावर्यां जलाहरणाय नागह्रदं गता। तत्राऽवसरे सैकाकिनी स्वप्सरायमाणा वैधव्यदोषेण मनोहर-कौशेयाऽऽभरणादिहीनापि नैसर्गिकाऽनुपमतनुश्रियैव नितरां शोभमाना

तथा शशिकलेव सर्वतः प्रकाशयन्ती, परिधानवसनं किञ्चिदुच्चैः कृत्वा वारिप्रविष्टा घटं वारिमध्ये यदैव पातयामास तत्रावसरे तस्याः शिरसो वसनं वायुना किञ्चिच्चालितम् । तत्र समये तदीयकुटिला अतिश्यमलाः स्निग्धा लम्बायमानाः कचवरा अंसयोः पतिता नितरामशोभन्त । तथा तडिद्गौरवर्णायास्तस्या अत्युन्नतौ चारू पीवरौ सुकठिनौ पयोधरौ कनकलतायामुदिते सुफले इव शोभेते । तदा जलमध्ये तदूरुयुगं कदलीस्तम्भयुगमिव शुशुभे ।

अथ तामवलोक्य किमियं काचन नागकन्या मां वरितुमिहाऽऽयातेत्यादि नानामनोरथान् कुर्वन् कश्चिन्नागराजो दिव्यमूर्तिधरो जलमध्यादाविर्भूय स्मरशरातिपीडितो विद्युतमिव तस्या मुखारविन्दमवलोक्य नयननिमीलनं कुर्वन् कथमपि साहसमाधाय नेत्रयुगन्नोन्मील्य सादरं तां पश्यन् किञ्चित्तस्थौ । तत्रावसरे सायन्तनं कुसुमसौरभो मन्दपवनो ववौ । तेनाऽतीव प्रवृद्धमदनः सोऽभवत् । ततस्तां सुंदरीं तत्क्षणमेव शीलभ्रष्टां स हठादकरोत् । *हा ! हा ! धिक् कामम्! यदर्दितो ज्ञानवानपि मुह्यति । नैसर्गिकं विवेकं त्यजति ।* अनिच्छन्तीमपि बलादुपभुज्य तामेवमवक् – हे सुभ्रु ! रोषं मा कार्षीः । शोकञ्च त्यज, तव महापराक्रमी यशस्वी राज्यभोक्ता बलीयान् पुत्रो भविष्यति । किञ्च यदा यदा ते काप्यापदागच्छेत्तदा तदा त्वयाऽहं स्मरणीयः । ततोऽहं तवाऽऽपदं संहरिष्यामि । इत्यादि मिष्टैर्वाक्यैस्तां परिभाष्य स नागदेवः स्वस्थानमीयिवान् ।

साऽपि विधवा शोकाकुला जलमादाय स्वस्थाने समागता । तत्स्वरूपं विदित्वा तद्भ्रातरावुभावपि तां तत्रैव परित्यज्य निजदेश–

मागतौ । सा च तत्रैव कुम्भकारगृहे केनापि प्रकारेण दैवं विनिन्दती सगर्भा सती कालं निनाय । अथ परिपूर्णे दशमे मासे सा पुत्रं प्रासोष्ट। अथ नागदेवतेजसः प्रभावेण स बालो महातेजस्वी मनीषी महाप्रतापी समपद्यत । परं कुम्भकारलाटगृहोत्पन्नतया लोके तत्पुत्रत्वेनैव प्रख्यातिमागात् । ततस्तज्जातीयकर्मणि क्रमेण स नैपुण्यमधिगत्य नानाजातीयमृन्मयनरकुञ्जरतुरङ्गोष्ट्ररथादिकं रममाणः स निर्मितवान् । तस्य नाम शातवाहन इति लोके पप्रथे ।

तत्र समये तत्रोज्जयिन्यां महाविक्रमी विक्रमार्को राजाऽऽसीत् । स चैकदाऽऽत्मीयं वार्धक्यमवलोक्य मनस्येवं दध्यौ- मम पश्चादिदमखण्डं राज्यमपहर्तुं कोऽप्युत्पत्स्यते क्षितावीति ?। इत्युत्पन्नविचारे राजा संसदि निपुणतमान् दैवज्ञानाहूय तानेवमपृच्छत् - भो ! भो ! दैवज्ञाः ! ममैतद्राज्यमपहर्ता साम्प्रतमस्ति कोऽपि क्षितितलेऽस्मिन्निति विचार्य कथयत ।

ततः सर्वेऽपि विचारयितुं लग्नाः । तन्मध्यादेको यवीयान् महाविद्वान् सम्यगालोच्य राजानमेवमवोचत - हे राजन् ! प्रतिष्ठानपुरे कुम्भकारगृहे तादृशः पुत्रो जातोऽस्ति । स उज्जयिनीराज्यं करिष्यति। एतदाकर्ण्य राज्ञो महती चिन्ता समुत्पन्ना ।

तत एकदा विक्रमो नराधीशोऽसंख्यचतुरङ्गसैन्यं लात्वा दाक्षिणात्यप्रतिष्ठानपुरमागत्य तस्य कुम्भकारस्य गृहमवरोधयामास । सकुटुम्बं कुम्भकारं निहन्तुं तेन नानोपायाः कारिताः । तत्रावसरे निजपुत्रसम्प्राप्तमहानिष्टभीत्या सा विधवा तत्क्षणमेव तं नागराजं सस्मार । सोऽपि तत्कालमेव तदग्रे प्रकटीभूय निजसूनवे

तस्मै सुधापूर्णमेकं कुम्भं रिपुसैन्यसङ्घातकरीममोघां शक्तिञ्च दत्त्वाऽदृश्यतां गतः ।

अथ शातवाहनोऽपि नागदत्तसुधासेकप्रभावतः पुराकृतमृन्मयमनुष्यादीनि सञ्जीवयामास । ततश्च तानि सर्वाणि नानाशस्त्राऽस्त्रसहितानि मन्त्रमहिम्ना विधाय तैरेव चतुरङ्गसैन्यैः सह विक्रमीयसैन्यानि भङ्क्तुं लग्नः । तस्मिन् युध्यमाने महान्त्यपि विक्रमसैन्यानि महात्रासमापुः । सोऽसंख्यं बलं क्षणादेव नाशयामास ।

ततः पलायमानः ससैन्यो विक्रमभूपतिस्तापिकोत्तरतटमागत्य तस्थौ । तत्रैवञ्चिन्तितं विक्रमार्केण – अहो कीदृशमेतस्य शौर्यम्, येन मदीयमशेषं सैन्यं भग्नीकृतम् । दैवज्ञोक्तमपि सत्यमेव प्रतिभाति । साम्प्रतमेतस्मिन्नवनीतले कोऽप्येतस्य जेता नैवास्ति, साम्प्रतमनेन सह युध्यमानोऽहं नूनं पूर्वोपार्जितामपि जयश्रियं त्यक्ष्याम्येव । अत इदानीमनेन सह सन्धिरेव श्रेयस्कर इति विचार्य तेन सह सन्धिं कृतवान् । तत्र चैवं स्थापितमुभाभ्याम् । तापिकाया नद्या उत्तरतटी विक्रमार्कराज्यसीमास्तु । तस्या दक्षिणतटी तु शालिवाहनस्य राज्यसीमेति । ततो विक्रम उज्जयिनीमागतवान् । शालिवाहनोऽपि तत्र प्रतिष्ठानपुरे समागत्य निजराजधानीं स्थापितवान् । ततश्च लोकेषु शालिवाहननाम्ना प्रसिद्धोऽभवत् ।

अथ राज्यं कुर्वाणः स शालिवाहनो राजा चन्द्रलेखां नाम्नीं कस्यचन राज्ञः पुत्रीमतिरूपलावण्यवतीं पद्मिनीं सकलकलावतीं युवतीं परिणीतवान् ।

इतश्च कश्चिदेको मायासुरनामा दैत्य आसीत्, जगति सर्वातिशयं

विशिष्टं सुखं ममैवास्त्विति बुद्ध्या स दैत्यो वाममार्गीय-विधिना कामपि तामसीं देवीमाराध्य प्रसादयामास । सापि तदाराधनेन तस्योपरि तुतोष । ततश्च मोहनाऽऽकर्षणादिषट्कर्माणि सिद्धानि चक्रे । ततश्चैकदा स दैत्यो मन्त्रबलेन पद्मिनीश्चन्द्रलेखामपहृत्य स्वायत्तां व्यधात् । इतश्च ताम्प्रेयसीमपश्यन् शालिवाहनो महादुःखी बभूव । तां शोधयितुं सर्वासु दिक्षु भृत्यान् समादिशत् । अथ कोपि शुद्रकनामा कोष्ठपालः कथञ्चित्तत्स्वरूपं विज्ञाय तत्र गत्वा राज्ञीश्चन्द्र-लेखां लात्वा राज्ञे समर्पयामास ।

अथ पादलिप्ताचार्यस्य शिष्यो नागार्जुननामाऽऽसीत् । स च कस्याश्चिन्महानद्यास्तीरे निजावासं विहितवान् । तत्र च श्रीपार्श्वनाथप्रभो-र्महाचमत्कारशालिनीं प्रतिमां स्थापितवान् । प्रतिमाग्रे च कोटिवेधिरस-मुत्पादयितुं शालिवाहनस्य राज्ञः पत्नीश्चन्द्रलेखां हृत्वा तत्राऽऽनीय कियत्यामपि रात्रौ तया पुञ्जीकृतं पारदं खलिकायां मर्दयामास । एवमनेकधा स नागार्जुनस्तया पारदमर्दनं कारयामास । कथितञ्च तस्याः, यद्येतत्स्वरूपं कस्यापि पत्यादेरग्रे कदापि वक्ष्यति तर्हि त्वां मारयिष्यामि । तद्भयेन कदापि नाऽवोचत सा । परमेकदा तत्क्लेशमसहमाना सा पद्मिनी कथाप्रसङ्गादेतत्स्वरूपं राज्ञः कथयामास ।

अथैकस्यां रात्रौ शयने निजप्रेयसीमनालोक्य राजा किमिति शङ्कमानः पुत्राभ्यां सह तत्रागतवान् । तां तत्र तथाकुर्वतीमालोक्य बहुशस्तमनुनीय तस्याः स्थाने निजपुत्रौ संस्थाप्य भार्यया सह स्वस्थानमाययौ ।

अथ नागार्जुनोऽपि सम्पादितं कोटिवेधिनो रसमयकूपिकाद्वयं ताभ्यामलक्षिते कुत्रापि गुह्यस्थाने स्थापयामास। परं तत्सर्वं कुमाराभ्यां गुप्तरीत्या दृष्टम्। गते च नागार्जुने ताभ्यां कुमाराभ्यां तत्स्थानतो निशि कुम्पिकाद्वयं गृहीत्वा स्वस्थानम्प्रतिचलितम्। मार्गे च तदधिष्ठात्र्या देव्या तौ कुमारौ तदयोग्यतया निहत्य रसभृतं कूपिकाद्वयमाददे।

यत्र स्तम्भनपुरे नागार्जुनः कान्तिपुरनगरात् पार्श्वनाथप्रभोः प्रतिमामुत्पाट्य समानीय च स्थापितवान्, तत्र च तया पद्मिन्या पारदौघमुपमर्द्य रससिद्धिं कृतवान्। तदिदानीं खंभातनाम्ना प्रसिद्धमस्ति। इह हि नगरे नवाङ्गवृत्तिकर्त्रा श्रीअभयदेवसूरिणा प्रतिष्ठापिता श्रीपार्श्वनाथप्रभोः प्रतिमा जागर्ति।

पादलिप्ताचार्य-नागार्जुन-प्रभृतयो बहुशो विद्वांसः शालिवाहनशासन-कालीना आसन्। एतेषां महोत्तमसत्पुरुषाणामुदारचरितान्यवश्यं ज्ञातव्यानि सन्ति, परमनवसरतया ग्रन्थगौरवभिया चाऽत्र मया न दर्शितानि। जिज्ञासुभिस्तानि प्रबन्धचिन्तामणिप्रमुखग्रन्थतो वेदनीयानि। एताभ्यः कथाभ्यः सारतया यत्फलितं तदाह-ऐहिकाऽऽमुष्मिकश्रेयोऽर्थिभिर्जनैः सदैव धर्मे दार्ढ्यं विधेयम्। यतो हि पूर्वजन्मनि साधुदानमाहात्म्यादिह जन्मनि शालिवाहनविक्रमादे राज्यं, महती निश्चला सुकीर्तिः, पूर्णायुष्यादि महाफलमजनि। एवमितरस्यापि धर्मनिष्ठस्य तत्सर्वम्भवति भविष्यति चेति॥

१-ज्ञानतत्त्व विषये-

तन धन ठकुराई सर्व ए जीवने छे,
पण इक दुहिलं हे ! ज्ञान संसारमां छे।

भवजलनिधि तारे सर्व जे दुःख वारे,
निज परहित हेते ज्ञान ते कां न धारे? ॥९॥

हे भव्या ! इह संसारे लोकैस्तनु-धन-स्वामित्वादयः सुखेन लभ्यन्ते। जीवानामेतानि सुलभानि सन्ति। परमेकं ज्ञानमतिदुष्कर-मस्ति । सुकृतिनामेव तन्मिलति । यज्ज्ञानं जीवान् अपार-भवसागरादुद्धरति । प्राणिनां त्रिविधान्यपि दुःखानि नाशयति । तथाऽहिताद्वारयति। हिते च जनान् योजयति। किञ्च-यद्योगाद्धीरा इमां त्रिलोकीं पदार्थविभूतिं कराऽऽमलकमिव पश्यन्ति। इति सर्वतः श्रेष्ठं ज्ञानमवश्यमेव लौकिकपारलौकिकशिवलिप्सावद्भिरेष्टव्यम् । समाराधनीयञ्च तदेव। तदर्थं सर्वैरपि यतितव्यम् ॥६॥

यवऋषि त्रण गाथा बोधथी भो निवार्यो,
इक पदथि चिलातीपुत्र संसार वार्यो ।
श्रुतथि अभय हाथे रोहिणो चोर नाये,
श्रुत भणत सुज्ञानी मासतूसादि थावे ॥१०॥

अन्यच्च-ज्ञानमाहात्म्यमेव दर्शयति- यथा इहैव लोके कश्चन यवनामा ऋषिरासीत्। स च विद्याहीनोऽभूत्। परं साधारणगाथात्रयस्यैव बोधेन समागतां महतीमापदमनीनशत्। किञ्च चिलातीपुत्रोऽप्येकमेव पदं सम्यगवबुध्य दुस्तरमपि संसारसागरमेनमतरत् । ज्ञानबलादेव रोहिणीयाभिधो महातस्करोऽपि कृतेऽपि नानोपाये श्रीअभयकुमार-ग्राह्यो नाऽभूत्। तथा श्रुतज्ञान-भणनादेव मासतुषादयो महाज्ञान-वन्तोऽभूवन् ॥१०॥



५-साधारण-गाथाबोधोपरि यवराजर्षेः कथानकम्-

यथा वसन्तपुरनामनगरे यवनामा राजा बभूव । तस्य गर्धभीलाऽभिधानः पुत्र आसीत् । अनुलिकाख्या मञ्जुला पुत्री तथा दीर्घपृष्ठनामा मन्त्री तस्यासीत् । अथैकदा समागतं वार्धक्यमालोक्य भवोद्विग्नः पुत्राय राज्यं दत्त्वा चारित्रमग्रहीत् । ततः साधून् पठतो विलोक्य सोऽपि पठितुं लग्नः। परं तस्याक्षरमात्रमपि नाऽऽयातम् । तेन तस्य मनसि महान् खेदोऽभवत् । तं खिन्नमालोक्य गुरुरूचे- भो राजर्षेः ! किं शोचसि ? त्वया भवान्तरे ज्ञानं नाऽर्जितमतोऽस्मिन् भवे तव ज्ञानं नाऽऽयाति । त्वया तदर्थं नैव शोचनीयम् । त्वं केवलं चारित्रमुपार्जय संयमादिव्रतादौ सावधानो भव । ततो गुरुणा प्रतिबोधितो यवराजर्षिस्तथैव कर्तुं लग्नः ।

अथैकदा तस्य यवमुनेर्निजकुटुम्बपुत्रादेर्विवन्दयिषा सञ्जाता। ततो गुरुमेवमुवाच-हे गुरो ! मम निजसंसारिसंबन्धिनो वन्दयितुमिच्छा जायते, यदि ते तत्र गमनायाऽऽज्ञा भवेत्तर्हि तत्राऽहं गच्छेयम् । तच्छ्रुत्वा गुरुणा भणितः सः - हे मुने ! तत्र गमिष्यसि चेत्तर्हि तत्र तानुपदेक्ष्यसि किम् ? यवमुनिरवक् - हे गुरो ! अहमुपदेष्टुं किमपि नैव जानामि नैव तदर्थं तत्र गन्तुमिच्छा । अहन्तु केवलं तेषां मिलनायैव जिगमिषामि । तदाकर्ण्य गुरुस्तं तत्र गन्तुमादिदेश ।

ततो गुर्वादिष्टो यवऋषिस्ततो निर्गतः । मार्गे च तस्य मनस्येवं विचारणा जाता । यदाऽहं तत्र यास्यामि तदा पुत्रादयः समेष्यन्ति मम

वन्दनार्थं कथयिष्यन्ति च – हे गुरो ! किमपि धर्म्ममुपदिश । तर्हि तान् प्रति किमहमुपदेक्ष्यामि । इत्थं विचिन्तयन् स मुनिः फलपुष्पादिभिः परिपूर्णमेकं यवक्षेत्रमपश्यत् । तत्क्षेत्रस्वामी च परितः परिभ्रमन् दण्डपाणिः स्वक्षेत्रं गोपयन्नासीत् । एको गर्दभश्च तत्क्षेत्रस्थयवान् भक्षयितुं तत्समीपे तस्थौ । तस्मिन्नवसरे रासभमालोक्य तेन क्षेत्रस्वामिना काचिदेका गाथा पठिता–

आधावसी पधावसी, ममं चावि णिक्खसी ।
लक्खितो ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दहा! ॥१॥

व्याख्या– रे गर्दभ ! त्वमितस्ततः परिधावसि परितः प्रेक्षसे, क्षेत्रमध्ये प्रवेष्टुमिच्छसि, यवधान्यं चरितुं प्रार्थयसीति च द्वितीयपक्षे तुं यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते ! जानामि तवाशय-महम् । इति गाथानेकधा तेन पठिता । एषा च गाथा तेन यवमुनिना श्रुता यत्नतः समभ्यस्तीकृता ।

ततोऽग्रे गच्छता तेन तामेव गाथां पठता कियद्भिर्दिनैर्वसन्तपुरस्य नगरस्य समीपे कस्मिंश्चिच्चत्वरे समागतम् । तत्र चाऽनेके बालका मोईदण्डाख्यक्रीडनं कुर्वन्तो दृष्टाः । यवराजर्षिरपि तत्रैव कियत्कालं तस्थौ । अत्रान्तरे चैको बालको मोईक्रीडनमुत्क्षिप्तवान् दण्डेन । ततस्तत् क्रीडनकमतिदूरे कुत्रापि गर्ते न्यपतत् । ततो बहुधा शोधितेऽपि तत्क्रीडनकं यदा नाऽमिलत्तदा कश्चन बालक इमां गाथामपठत्–

इओ गया तओ गया, मग्गिज्जंती ण दीसइ ।
अहमेयं विजाणामि, अगडे छूढा अडोलिया ॥२॥

अस्या अर्थः–एतन्मोईक्रीडनकमस्मासु पश्यत्सु गतमितिं

दृष्टम्, परं क्व गतं कूपे वा गर्ते वा तत्तु त्वया मयापि च नैव दृष्टम्। अतोऽन्यद् गृहीत्वा सर्वैः पुरेव क्रीडितव्यम्। इत्यर्थिकामेनाङ्गाथामाकर्ण्य सम्यगभ्यस्तवान् यवमुनिः। इत्थं गाथाद्वयं तेन शिक्षितम्।

इतो वसन्तपुरे नगरे यवाख्ये राजनि दीक्षिते सति तत्पुत्रो गर्दभीलो राजाऽभूत्। तत्पुत्री चाऽनुलिका तारुण्यपूर्णा जाता। तां महारूपवतीं युवतीमालोक्य दीर्घपृष्ठनामा मन्त्री तस्यामनुरागवान् बभूव। ततो मन्त्री युक्त्या तामपहृत्य निजसद्मनि समानीय गुप्तस्थाने स्थापितवान्। गर्दभीलो राजा निजभगिनीमपहृताम्परितो बहुशः शोधयामास, परं कुत्रापि केनापि तस्याः शुद्धिर्नाधिगता। ततस्तस्य राज्ञो मानसे महती चिन्ता समुदपद्यत।

इतश्च स यवराजर्षिः पुरप्रवेशं विधाय कस्यचित् कुम्भकारस्य गृहे समागत्य तस्थौ। स च कुम्भकारो नवीनानि मृन्मयानि भाण्डानि निर्मायैकत्र गृहकोणे सञ्चितान्यकरोत्। तन्मध्ये कस्यचिन्मूषकस्य सञ्चारमालोक्य मूषकप्रतिबोधाय स प्रजापतिरेनाङ्गाथामपाठीत्। यथा-

सुकुमालग ! भद्दलग !, रत्तिं हिंडणसीलग ! ।
भयं ते णत्थि मंमूला, दीहपुट्ठाउ ते भयं ॥३॥

अयमस्या अर्थः- हे मूषक ! त्वमतीव सुकुमारोऽसि, तथा सरलोऽसि, त्वं रात्रौ सञ्चरणशीलोऽसि, तव मत्तो भीतिः कापि नास्ति, किन्तु दीर्घपृष्ठात्सर्पाद्भीतिरस्तीति गाथार्थः। एनामपि गाथां श्रुत्वा तत्क्षणं यवसाधुः शिशिक्षे।

अथाऽभ्यासदार्ढ्याय गाथात्रयमेतद्वारम्वारमभ्यसन् स मुनि-

स्तत्र निजासने समासीत् । इतश्च पौराः सकलास्तदागमनेन प्रमु-मुदिरे । परं दीर्घपृष्ठाख्यमन्त्रिणो मनसि महती चिन्ता जाता । तदा तेनैवश्चिन्तितम् असौ मुनिर्ज्ञानवानस्ति । यद्येनं राजा निजभगिन्या वृत्तान्तं प्रक्ष्यति, तर्ह्यसौ सर्वमेव वृत्तं राजानं कथयिष्यति, ततश्च मदीयङ्गुह्यं सर्वं प्रकटीभविष्यति । अतः प्रथममेव राज्ञः समीपे तथा प्रपञ्चो विधातव्यः, यथाऽनेन मुनिना सह राजा न मिलेत्, नैनमत्र स्थापयेत्, किन्तु तत्कालमेवैनं मुनिं नगरान्निष्काशयेत् । इत्थं मनसि विचार्य तत्कालमेव राजान्तिकङ्गतः ।

तत्र गत्वा राजानं नमस्कृत्य यथोचितस्थाने समुपाविशत् । अथ प्रसङ्गं लात्वा स राजानमेवं व्यजिज्ञपत्- हे पृथ्वीनाथ ! यस्ते पिता प्रव्रजितः स समागतोऽस्ति । राजा वक्ति- तर्हि वरं जातम् । अहमपि तत्पार्श्वङ्गमिष्यामि, तस्य विधिना नमस्कारं करिष्यामि । मानसिकं वृत्तमपि प्रक्ष्यामि । इति राज्ञो वचनं निशम्य पुनरपि प्रधानश्चिन्तासागरे पतितो मनस्येवं दध्यौ- नूनमसौ तदन्तिकं यास्यति प्रक्ष्यति च, ततो मे प्रकटिष्यति कपटमतो मया कर्तव्यः कोऽप्युपाय इति विचिन्त्यामात्येनोक्तम्- हे स्वामिन् ! स साधुः संयमपतितोऽस्ति, तं वन्दित्वा पृष्ट्वा वा किं स्यात् । त्वं सर्वं वृत्तं तदीयं न जानासि, अहं तु जानाम्यतस्त्वामेवं कथयामि । एष तु षण्मासाच्चारित्रभ्रष्टोऽस्ति । असौ महालोभी त्वां कपटजालेन वञ्चित्वा राज्यमिदं पुनर्ग्रहीतुमत्रागतोऽस्ति । ततो राजोवाच - यदि तस्य राज्यलिप्सा वर्त्तते, तर्हि सुखेनैव तद् गृह्णातु, मनागपि मे तेन दुःखं न स्यात् । पुराऽप्येतद्राज्यं तदीयमेवाऽऽसीत् । इत्येवंविधां वाचमाकर्ण्य

ततो दुष्टेन मन्त्रिणा राज्ञो मनसि साधुविषये तथा महती घृणाऽकारि, यथा स राजा निजपितरं तं साधुं हन्तुमियेष। तत्रावसरे दुष्टधीः स मन्त्री नितरां तुतोष।

ततः स राजा निशि कृष्णकम्बलमुपरि निधाय खड्गं गृहीत्वा तं साधुं निहन्तुं निर्ययौ। मार्गे गच्छन् राजा मनस्येवमवधारितवान् – यद्यसौ ज्ञानी मम मानसीं शङ्कामपनेष्यति तर्हि तं न हनिष्यामि, इति निश्चित्य तत्समीपे कुत्राऽप्यलक्षितस्तस्थौ। इतश्च स्वासने समुपविष्टो यवराजर्षिः प्रथमं क्षेत्रस्वामिनोक्ताङ्गाथामपाठीत्। तामाकर्ण्य राजैवमबुध्यत – अहो! साधुर्महाज्ञानवानस्ति, येनाऽमुना ममाऽऽगमनं ज्ञातम्।

परमेवमेव यद्येष मद्भगिन्या विषयेऽप्यपृष्टः सर्वङ्कथयिष्यति तर्ह्येतस्य परिपूर्णज्ञानित्वे निःसंदेहो ममात्मा भविष्यतीत्येवं विचारयन् यावदासीत्, तावन्मुनिर्बालकोक्तां मोईरमणविषयिकां द्वितीयाङ्गाथामपाठीत्। तां श्रुत्वा सर्वथा त्रिकालज्ञानवानयमिति निश्चितवान् राजा। यतो हि–तया गाथया राजैवमबुध्यत यथा–मम भगिन्येतस्मिन्नेव नगरे कुत्रापि गुप्तस्थले तिष्ठतीति।

परमेष मुनिस्तत्स्थानादिकमपि यदि प्रकटयेत्तर्हि कृतकृत्यतां प्राप्नुयामिति चिन्तयन् यावदासीद्राजा तावन्मुनिः कुम्भकारपठितां तृतीयाङ्गाथाम्पाठ तामाकर्ण्य राज्ञा निश्चितम् – अहो! दुष्टो दीर्घपृष्ठप्रधान एव मत्स्वसारमपजह्रे। स एव निजावासे गुप्तस्थितां तामकरोत्। महानर्थो जातः।

तदानीमेव प्रकटीभूय गुरोरन्तिकमुपेत्य भक्त्या निजपितरं

तं यवराजमुनिं ववन्दे । तत्रावसरे गुरुणा पृष्टः। कोऽसि ? राजा वक्ति- स्वामिन् ! तवैव कुपुत्रोऽस्मि । पुनरूचे गुरुः - किमुच्यते 'कुपुत्र' इति । ततो राज्ञा प्रव्रजिते पितरि यथाजातं तदादितः सर्वमप्यावेदितम् । श्रुत्वापि तद् गुरुणा मौनमेवाश्रितम् । राजाऽवक्- हे स्वामिन्! त्वं धन्योऽसि । त्वं सर्वज्ञतामधिगतोऽसि । यस्त्वमधुना मम मानसीञ्चिन्तामशेषामपाकरोत्। तव पुण्यादेव सर्वसिद्धिः सेत्स्यती- त्यादिमिष्टस्निग्धवचसा संस्तुत्य नमस्कृत्य च स राजा निजावा- समाययौ ।

अथ जाते प्रभाते सैन्यैः सह तत्र गत्वा तस्य दुष्टप्रधानस्य गृहमवरोध्य तदन्तर्भूतलगृहान्निजभगिनीमानीतवान् । तस्य गृहे यान्युपकरणान्यासन् तानि सर्वाणि सगृहाणि तदीयग्रामादिकानि च निजायत्तान्यकरोत् । तस्य महानर्थकर्तुश्च शूलिकां दातुमाज्ञप्तम् । तच्छ्रुत्वा दयालुर्यवमुनिर्जीवन्तं तं मोचयामास ।

अथ यवराजर्षिस्ततो विहृत्य कियद्भिर्दिनैः स्वकीयगुर्व- न्तिकमाययौ । तत्रागत्य यवराजर्षिर्विधिवद् गुरुं ववन्दे । गुरुर्वक्ति- राजर्षे ! संसारिणो मिलित्वा सुखेन समागतोऽसि । साधुर्वक्ति- स्वामिन् ! तवानुकम्पातः सर्वं सिद्धम् । पुनर्गुरुणा पृष्टः । राजर्षे ! तेभ्य उपदेशः कीदृशो दत्तः । ततो राजर्षिर्वक्ति- हे गुरो ! मया मार्गमध्ये गाथात्रयमुपलब्धं तदेवोपदिष्टम् । परमर्थस्तासां क इत्यहं न वेद्मि । यथाश्रुतं तथोपदिष्टम् । तेषान्तु ताभिर्गाथाभिर्महान् लाभो जातः । तत्रावसरे गुरुणोक्तम् - हे राजर्षे ! यदि तादृशेनाऽर्थस्तेषां सिद्धस्तर्हि यो हि तत्त्वमुपदिशति, तेन लोकोपकृतिः कथं न स्यात् ।

अपि तु स्यादेव, यदुक्तम्-गाथायाम्-

"सिक्खियंव्वं मणूसेणं, अवि जारिसतारिसं ।
पेच्छ मुद्धसिलोगेहिं, जीवियं परिरक्खियं ॥१॥"

अयमस्या आशयः- पामरोक्तमपि यादृशं तादृशं शिक्षणीयम् । शिक्षितं हि किमपि वृथा न जायते । यस्मात्तादृशशिक्षितगाथाप्रसादेनैव यवराजर्षिर्जीवितोऽभूत् । हे राजर्षे ! ज्ञानमाहात्म्यं कीदृशमिति पश्य, यतस्त्वं ग्राम्योक्तवचनबलादेव जीवन्नत्राऽऽगतोऽसि, परानप्युपचकर्थ । विशिष्टविद्यावाँस्तु स्वस्य परस्य चाधिकमुपकरोति । तत्र किमाश्चर्यं इत्येवं गुरुणा भणितो यवराजर्षिर्गुरूक्तं सर्वमनुमोदयन्चिरञ्चारित्रम्परिपाल्य स्वायुःक्षये मृत्वा वैमानिको देवोऽभूत् । एतेन दृष्टान्तेन भविकजनैरेतज्ज्ञानमवश्यमेव ग्राह्यम् । यर्हि अज्ञोक्तेन पद्येन लोकोपकरणमभूत्, तर्हि येनाधिकं ज्ञानमर्जितमस्ति, स स्वकीयम्परकीयञ्च किलैहिकमामुष्मिकँञ्च श्रेयो विधातुमर्हति । इति हेतोः सर्वैरेव भव्यैर्ज्ञानार्जने यतितव्यम् ।

ज्ञानस्यैकेनापि चरणेन लाभोऽभूत् ।



६-तत्रोपशमाद्युपरि चिलातीपुत्रस्य दृष्टान्तः-

यथा-भवान्तरे चिलातीपुत्रो ब्राह्मणो विद्वानभिमानी जात्यहङ्कारवांश्चासीत् । तेनैकदा राजसभायामीदृशी प्रतिज्ञाऽकारि, यो मां शास्त्रवादे जेष्यति तस्याहं शिष्यो भविष्यामीति । अथान्यदा कश्चिन्महाविद्वान् जैनमुनिस्तत्रागतः। स राजसभाङ्गत्वा तेन सह शास्त्रार्थं कृत्वा पर्यन्ते च तम्पराजितवान् । ततः स प्रतिज्ञानुसारात्तस्य

मुनेः शिष्योऽभवत् । परन्तु ब्राह्मणतया स दीक्षितोऽपि मलादिपरीषहं सोढुं न शक्नुयात् । अपि तु तत्र घृणामकरोत् । लोकसमक्षमेवमवोचच्च-अहो ! कीदृशो धर्मः ? यत्र स्नानादिशुद्धिरपि न विधीयते । इत्थञ्चारित्रम्परिपाल्य स्वायुः सम्पूर्णीकृत्य च मृत्वा स देवो जातः ।

ततश्च्युत्वा पूर्वजन्मनि मलादिपरीषहघृणाकरणोदिताशुभ-कर्मावशेषतया राजगृहनगरे धनावहश्रेष्ठिनो गृहे चिलातीनाम्नी काचन तस्य दासी, तस्याः कुक्षौ पुत्रत्वेनावततार । तस्य नाम लोकैश्चिलातीपुत्र इति धृतम् । या चैतस्य ब्राह्मण-जन्मनि भार्याऽऽसीत्, सा च स्वभर्तारं वशीकर्तुमनेकमुपायमकरोत् । तं मृतमाकर्ण्य वैराग्योदय-वशात्सापि दीक्षिता सती चारित्रं परिपालयन्ती मृत्वा देवी जाता ।

ततश्च्युत्वा तत्रैव नगरे तस्यैव धनावहश्रेष्ठिनो भार्याकुक्षौ पुत्री जाता । सा महासुन्दरी चासीत् । ताञ्च बालिकां चिलातीपुत्रः क्रीडयामास । क्रमशः सा कन्या यौवनमाप । पूर्वभवसंबन्धवशात्तस्यां चिलातीपुत्रस्य महाननुरागो जातः । तस्या अपि तस्मिंस्तथैव रागो बभूव । ततो रहसि तया सह चिलातीपुत्रः प्रत्यहं विषयसुखं भोक्तुं लग्नः ।

अथ तयोस्तमनाचारं विदित्वा श्रेष्ठिना चिलातीपुत्रो गेहान्नि-ष्काशितः । ततः स चिलातीपुत्रश्चौरसमाजे समागत्य तैः सह मैत्रीं विधाय चौर्यकरणे निपुणो जातः । कियत्कालानन्तरं तं साहसिकं महाधीरं ज्ञात्वा सर्वे ते चौराः स्वनायकं चक्रुः ।

अथैकदा स चौरनायकश्चौरानेवमुवाच-अस्यां रात्रौ राजगृहन-गरे धनाढ्यस्य धनावहश्रेष्ठिनो गृहे चौर्याय गन्तव्यम् । तत्र धनादिकं

भवद्भिरेव ग्राह्यम्, या च तस्य सुषमाऽभिधाना कन्यास्ति, तामानीय मह्यमेव भंवद्भिर्दातव्या । इति निश्चित्य तैश्चौरैः सह चिलातीपुत्रो राजगृहे तस्यालये समागत्य खात्रं विधायान्तःप्रविश्य चौरा यथेष्टानि महार्हाणि रत्नादिधनानि ग्रन्थिं बद्ध्वा बहिर्निर्जग्मुः । सुषमामुत्पाट्य चिलातीपुत्रोऽपि बहिर्निरगात् । ततस्तत्कालमेव लोका जागृताश्चौरचौर इति बुम्बारवञ्चक्रुः ।

ततस्तेषां पृष्ठे लोकानां कोलाहलमाकर्ण्य कोष्ठपालो यावत्तत्रागतस्तावच्चौरा नेशुः । इतस्ततो विलोक्य ततः कोष्ठपालेन निजैश्चतुर्भिः पुत्रैः सह श्रेष्ठी चौरानुपदं तस्यामेव दिशि तुरङ्गारूढोऽधावत् । पृष्ठे समागच्छतस्तान् विलोक्य ते चौरा मार्ग एव तानि धनानि त्यक्त्वा कुत्रापि नेशुः । चिलातीपुत्रस्तु मार्गं हित्वोत्पथेन चचाल । तद्धनानि मार्गे पतितानि सर्वाण्यादाय कोष्ठपालस्ततः परावर्तत । श्रेष्ठी तत्पुत्राश्च ततोऽग्रे स्तेनानुपदं विलोकयन्तश्चेलुः ।

अथ पश्चादागच्छतस्तानालोक्य स तस्करधीश एवमचिन्तयत् - अहो ! एषा सुषमा मम प्राणादपि प्रेयसी वर्तते, एते च मां ग्रहीतुं त्वरया समागच्छन्ति, किङ्करोमि ? एनामपि कथं त्यजामि? यदि न त्यजामि, तर्हि मम जीवितमपि यास्यति, एवं ध्यायन् स समीपागतांस्तानालोक्य कोशात् खड्गमाकृष्य तस्याः शिरश्चिच्छेद । तस्याः कबन्धं तत्रैवाऽत्याक्षीत् । केवलं स्रवद्रक्तधारं तस्या मस्तकं करे कृत्वाऽग्रे चचाल । तेऽपि तत्रागत्य तां पुत्रीं तथावस्थामालोक्य भृशं शोचन्तस्ततः परावर्तमाना गृहमाययुः ।

अथाऽग्रे गच्छन् स चिलातीपुत्रः कस्यचन वृक्षस्याऽधः कायोत्सर्गे

स्थितं साधुमेकमपश्यत्। तस्मिन् काले स एकस्मिन्करे क्षरद्रक्तधारं मौलिमपरस्मिन् शोणिताक्तं कृपाणं दधान आसीत् । परमागामिशुभभावोदयात्स चौरनायको दुष्टकर्मापि तम्मुनिमेवमप्राक्षीत्- भो मुने ! मां धर्म्मं वद। तदा स मुनिरेवमचिन्तयत्- अहो ! कोऽप्येष शुभपरिणामको जीवोऽस्ति। यत आत्मकल्याणार्थं धर्म्मं पृच्छति। इति विचिन्त्य स मुनिस्तस्मै 'उपशमविवेकसंवरा धर्माः सन्ति' इत्युपदेशं दत्त्वा गगनमार्गेणाचलत्।

तत्रावसरे तस्य तथाविधञ्चमत्कारं वीक्ष्य मनसि दध्यौ- अहो ! कोऽप्यसौ चमत्कारी महाविद्वान् दृश्यते। यदयमाकाशमार्गेण गच्छति, इतरे तु पृथिव्यामेव चलन्ति। परमनेन ये "उपशमविवेकसंवरा धर्म्मा दर्शिता इति" तदर्थो मया विचारणीय, इति विचारयन् स चौरनायक उपशम इत्यस्य क्रोधो जेतव्यः-यथा क्रोधोपशान्तिर्भवेत्तथा विधेय इति ज्ञातवान्। ततश्च स तदानीमेव मनसि पश्चात्तापमकरोत्। अहो ! क्रोधवशादेवाऽहमीदृशमनाचारं स्त्रीघातात्मकमकार्षम्। यदि मे क्रोधो नाभविष्यत्तर्हि नरकगतिदायिनीयं स्त्रीहत्या कदापि मम नैवाभविष्यत्। अतोऽद्यप्रभृति क्रोधो नैव कर्तव्य इति निश्चितवान्।

तथा विवेकोऽपि मम नास्ति, विवेकहीनो जनः पशुरुच्यते। मयापि पशुवदेव तत्कृतम्। इत्येवं विचारयता तेन चौरेणाऽऽश्रवद्वारोपरोधः, संवरशब्दस्यार्थ इत्यबोधि-अतो मया यावत् संवरो न विहितस्तावन्मे सर्वं विफलमेवास्ति।

अथैवं विचार्य स चिलातीपुत्रः करधृतसुषमामस्तकं तथा शोणिताद्रं कृपाणं भूमौ तत्याज। यावन्मे कृतकर्मक्षयो न स्यात्तावन्मया

कायोत्सर्ग एव स्थातव्यमिति निश्चित्य यत्र स्थले स मुनिः कायोत्सर्गं कृतवान्, तत्रैव गत्वा कायोत्सर्गे निश्चलमनास्तस्थौ । तत्रावसरे तच्छरीरं सुषमाकन्याशिरच्छेदोद्भूतशोणिते लिप्तमासीत् । तेन लोहितगन्धेन वज्रतुण्डाः कीटिकाश्चटिताः, तास्तदङ्गानि क्रमशश्चालनीसन्निभानि कृतवन्त्यः । अत्रार्थे चैषा गाथा-

धीरो चिलाइपुत्तो, मुइंगलिआहि चालिणि व्व कओ ।
जो तहवि खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥१॥

व्याख्या-धीरसत्त्वसंपन्नश्चिलातीपुत्रः (मुइंगलिआहि) कीटिकाभिर्भक्ष्यमाणश्चालनीव कृतस्तथापि खाद्यमानः प्रतिपन्न उत्तममर्थम्, शुभपरिणामापरित्यागादिति हृदयम् । अर्थात् कायोत्सर्ग- स्थितस्य चिलातीपुत्रस्य देहः कीटिकाभिश्चालनीवत्सहस्रशच्छिद्रः कृतस्तथापि तदङ्गं विह्वलतां नाऽऽपत् । मनोऽपि नैव क्षुब्धं, गिरिरिव निश्चलतामेव दधौ । ध्यानं न जहौ । तथा कुर्वन्नेव सद्गतियानलक्षणेन शुभध्यानेन मृत्वा देवगतिं लेभे ।

एतेन दृष्टान्तेन जनैरेतदेव सारतया ग्राह्यम्, यत्किल-स्वल्पेनापि तत्त्वज्ञानेन शुद्धश्रद्धावाँश्चिलातीपुत्रो महाक्रूरकर्मापि देवत्वमधिगतवानिति । किञ्च तत्त्वज्ञानं शुद्धभावेन समाराधयतां मोक्षोऽपि करगतप्रायो भवति । अतो हे लोकाः ! यदि यूयं भवाम्बुधिं तितीर्षथ तर्हि परिपूर्णं ज्ञानं लभध्वं । येन तत्त्वज्ञानमासाद्य दुस्तरममुं संसारसागरमक्लेशेन तरिष्यथ ।

७-अथ ज्ञानोपरि रोहिणीयचौरस्य कथानकम्-

तथाहि-इहैव भरतक्षेत्रे राजगृहनगरे श्रेणिको नाम राजा राज्यं शास्ति । तदीयो महामतिमान् निजपुत्रोऽभयकुमार एव प्रधानोऽस्ति । तस्मिन्नेव नगरे कस्यचित् स्तेनस्य रोहिणीयनामा पुत्रो बभूव । जननान्तरमेव कश्चिन्निमित्तज्ञस्तमालोक्य तस्य मातरमेवमुक्तवान्-असौ ते शिशुश्चारित्रं पालयिष्यति, संसार त्यक्ष्यति तत्र कोऽपि सन्देहो नाऽस्ति ।

ततःप्रभृत्येवं मात्रा शिक्षितः- हे पुत्र ! साधुसविधे कदापि त्वया न गन्तव्यम्, न तत्सन्निधौ स्थातव्यम् । न तेषां वचनादिकं श्रोतव्यम् । यतस्ते बालकान् प्रलोभ्य हठाद् गृह्णन्ति । सोऽपि शिशुर्मातुः शिक्षामवधारितवान् । ततःप्रभृति तथैव कर्तुं लग्नः । किञ्च चौरकुले स एव पुत्रः प्रशस्यो भवति यो हि स्तेनकर्मणि निपुणो लोकानां धनानि चोरयन् कुटुम्बं पुष्णाति । अतो नैमित्तिकोक्तविपरीतलक्षण-लक्षितं पुत्रं बाल्यावस्थायामेव मातापितरौ तथा शिशिक्षाते ।

अथैकदा श्रीमहावीरस्वामी चतुर्दशसहस्रमुनिभिस्तथा षट्त्रिं-शत्सहस्रसाध्वीभिः सह तत्र राजगृहनगरे समवससार । तस्य समवसरणं चतुर्निकायदेवैः पृथिवीतः सार्धकोशद्वयोन्नतं विहितम् । तन्मध्ये देवतानाङ्कोटिर्धर्म्मोपदेशश्रवणेप्सया समागत्य तस्थौ । तथा भव्याशयैर्मनुजादिभिरपि सा परिषद् विभूषिताऽऽसीत् । तत्र द्वादशविधपरिषत्सु शोभिते समवसरणे श्रीमहावीरप्रभुर्धर्मोपदेशं कुर्वन्नवसरप्राप्तदेवाऽधिकारमित्थं वर्णयन्नासीत् । यथा-

अणिमिसनयाणा मणकज्ज-साहणा पुप्फदामअमिलाण ।

चउरंगुलेण भूमिं,न छिवंति सुरा जिणा बिंति ॥१॥

एवमस्या अर्थः–हे भव्याः ! देवानामेतानि लक्षणानि जानीत। तेषां नयनयोर्निमेषोन्मेषौ न भवतः। तथा तेषां मनोवाञ्छितं कार्यं सदैव सिध्यति। तैर्धृताः कुसुमस्रजो म्लाना न भवन्ति । देवा हि पृथिवीस्पृशो न भवन्ति। किन्तु धरातश्चतुरङ्गुलोपर्येव ते तिष्ठन्ति। सर्वसुखर्द्ध्यादिना मनुष्येभ्योऽधिका वर्तन्ते ।

इत्थं देवान् वर्णयन् प्रभुरासीत्। तत्रावसरे कस्यापि सद्मनश्चौर्यं कृत्वा त्वरया समागच्छन् स रौहिणेयः समवसरणमध्यतः पलायमानः साधूनालोक्य मातुः शिक्षणं संस्मृत्य कर्णौ पिधायाऽतित्वरया धावितुं लग्नः । परं भवितव्यतायोगात्तस्य चरणः कण्टकेन विद्धस्तेन बहुदुःखीभूत्वाऽग्रे चलितुं यदा नाशक्नोत्तदा तत्रैवोपविश्य यावत्कण्टकं निष्काशयन्नासीत्, तावता देवताधिकारविषयीमिमां गाथामयीं प्रभोर्देशनां श्रुतवान् । बुद्धितैक्ष्ण्यादेकवारश्रवणेनैव तेन सा गाथा मुखपाठीकृता। यतो हि पुरुषेषु श्रेष्ठानां द्वात्रिंशल्लक्षणानि भवन्ति। चौरास्तु षट्त्रिंशल्लक्षणलक्षिता जायन्ते। अतः स ताङ्गाथामविलम्बेनैवाऽभ्यस्तवान्। तां विस्मर्तुं कृतप्रयत्नोऽपि न विसस्मार ।

अथ कण्टकं निष्काश्य निजालयं द्रुतमागत्य मात्रा मिलितश्चौर्यानीतं धनमपि तस्यै समर्पितवान्। इत्थं मातुरुपदेशात्क्रमेण स चौर्यकर्मणि महानैपुण्यं गतवान्। दिने च महार्हवस्त्राऽऽभरणादिना मण्डितात्मा महाजनैः सङ्गतिं व्यधत्त। महेभ्यानामापणेष्वपि गत्वा तैः सह परिचयं कुर्वाणो रोहिसेति नाम्ना लोकेषु प्रसिद्धोऽभूत्। ततो महताडम्बरेण महाजनवेषं विधाय राजसभायामपि प्रवेष्टुं लग्नः ।

समस्ता अपि महान्तो जनास्तस्य परिचिता आसन् । निजया चातुर्यकलयाऽखिलानपि महतो जनान् स निजमित्राण्यकरोत् । रात्रौ च स क्रमशस्तन्नगरवासिनां सर्वेषां सारभूतानि धनादीनि चोरयित्वा सकलानपि निर्धनानकरोत् । परं कदापि कोऽपि तं नैव जग्राह ।

ततश्च सर्वे महाजना मिलित्वा राजान्तिकङ्गत्वा विज्ञपयामासुः । स्वामिन् ! सर्वे वयं चौरेण निर्धनीकृताः । अधुनापि यदि चौरनिग्रहो न स्यात्तर्हि वयं केऽपि नाऽत्र स्थास्यामः । वयञ्च महाकष्टे पतिताः स्मः । सत्वरं तन्निग्रहोपायं कुरुष्व । नो चेदस्माकं धनभवनादिकं सर्वमपि गृहाण । अस्मभ्यमन्यत्र गन्तुमाज्ञां देहि । इत्यादि तदुक्तमाकर्ण्य चौरनिग्रहार्थं स राजा ताम्बूल-वीटिकाप्रदानपुरस्सरं नगरे पटहं वादयामास- "यः कोपि चौरं ग्रहीष्यति तस्मै यथेष्टं पारितोषिकम्प्रदास्यामीति" वाचितञ्च । परं कोऽपि तन्निग्रहाय ताम्बूलवीटिकां न जग्राह । तदा श्रीअभयकुमार एव तन्निग्रहार्थं तां वीटिकामग्रहीत् । सकलजनसमक्षमुक्तञ्चाहं हि सप्ताहाभ्यन्तरे तञ्चौरमवश्यमेव निग्रहीष्यामि । तत्प्रतिज्ञामाकर्ण्य सर्वे तदार्ता लोकाः स्वस्वसद्मनि गत्वा कार्यमारेभिरे ।

इतश्च महामतिशाली, चतुर्बुद्धिपाली, चतुर्दशविद्यानिष्णातः, द्विसप्ततिकलाकलितः, महासाहसिकः, धीरशिरोमणिर्धर्मध्वजः श्रीमानभयकुमारोऽपि त्रिपथचतुष्पथादिसकलस्थानेषु तन्निग्रहार्थं बभ्राम । परं कुत्रापि चौरशुद्धिं नाऽधिगतवान् ।

एतत्स्वरूपं विदित्वा स चौर एकां पत्रिकामभयकुमाराय

ददौ, यथा-हे प्रधान ! अभयकुमार ! त्वमिदानीं मां ग्रहीतुं भृशं यतसे, परं मम निग्रहणे कस्यापि शक्तिर्नैव दृश्यते। त्वं चतुर्धा सुमतिं धत्से, मम तु पञ्चधा बुद्धिरस्ति। कदापि केनाऽप्यगृहीतो यदि सप्तमे दिवसे त्वामहं न मिलेयं तर्हि चौरो न स्याम्। इति सेवकार्पितां मुद्रितां तत्पत्रिकामुद्घाट्य पठित्वा स कुमारो महदाश्चर्यमध्यगच्छत्। निजचेतसि दध्यौ च- अहो ! मतिमानसौ चौरः। येन ममाशयं ज्ञातम् पत्रञ्च दत्तम्। अतश्चौरशिरोमणिः कोऽपि प्रशस्यतमः प्रतीयते।

अथाऽभयकुमारोऽपि षड्भिर्दिनैश्चौरनिग्रहाय कृतप्रयत्नस्य विफलतां वीक्ष्य सप्तमे दिने तेन चिन्तितम् - नूनमद्य स चौरः समेष्यति। यतस्तेन पुरैवावधिर्दत्तोऽस्ति। ततः स कुमारः सर्वाण्युपकरणानि समादाय पौषधञ्चग्राह। ततः पौषधशालामागत्य दर्भासने समासीनः स्वाध्यायध्यानादिकं कर्तुं लग्नः। तत्रत्यसेवकम्प्रत्युक्तञ्च - भोः सेवक ! यदि कोऽपि मां मिलितुमत्रागच्छेत् स न रोद्धव्यः।

इतः सोऽपि रोहिणीयाख्यतस्करः सप्तमं दिनं प्रतीक्षमाणः सप्तमे दिवसे दिव्यवसनाऽऽभरणादिना विहिताऽपूर्वशोभस्तद्योग्यं प्राभृतमादाय कुमारमिलनाय चचाल। तत्स्थाने समागत्य स्वकीयनियतस्थाने प्रधानमपश्यन् भृशं खेदमावहन् दध्यौ - यद्यहं प्रधानं न मिलिष्यामि, तर्हि प्रतिज्ञा मे विफलीभविष्यति। अतोऽद्य येन केनोपायेन स द्रष्टव्य, इति ध्यात्वा तत्सेवकमपृच्छत्- भोः ! कुत्राऽस्ति प्रधानः ? तेनोक्तम् - सोऽद्य पौषधं लात्वा पौषधालये धर्मध्याने तिष्ठति।

अथ स चौरस्तत्राऽऽगत्य कुमारं नमस्कृत्य तद्योग्यं प्राभृतीकृत्य तदभिमुखमुपाविशत्। तमागतमालोकयन् कुमारो मनसि चिन्तयति-

नूनमयमेव चौरः, अनेनैव पत्रम्प्रेषितम् । यदधुनाऽवधारिते दिवसे सप्तमे स्वप्रतिज्ञापालनार्थमत्राऽऽगतोऽस्ति । परमेष प्रायेण बहुधा राजान्तिके मदन्तिके च समायाति । पूर्वपरिचितस्य लक्षणमन्तरा चौर-कथनमपि नैव संघटते । परं तत्रावसरे तस्य तत्राऽऽगमनादयमेव चौर इति स्वमनसि निश्चितवानपि वेषाडम्बरतया चिरपरिचिततया च तदानीमेष चौर इति व्यक्तीकर्तुं स नाऽशक्नोत् ।

ततश्चौरोऽपि किञ्चित्कालं तत्र स्थित्वा तं नमस्कृत्य गन्तुमैच्छत् । तत्रावसरे कुमारेण स भणितः-हे सज्जन ! प्रभाते पारणासमये त्वया मम गेहे समागन्तव्यमवश्यमेव । सोऽपि सहर्षं बहुमानपुरस्सरं कुमारकृतनिमन्त्रणमुररीचक्रे ।

अथ जाते च प्रभाते कुमारः पौषधं समाप्य स्वावासं समागतः। तत्रैवं दध्यौ-अद्यावश्यमेवात्र निमन्त्रितश्चौरः समेष्यति । तन्मुखादेव चौरोऽहमिति ख्यापनार्थमेकस्मिन् पात्रे चन्द्रहासमद्यमिश्रितं दधि स्थापितमपरस्मिन् पात्रे च निजार्थं शुद्धं दधि स्थापितम् । अथागतस्तत्र चौरः । ततस्तौ रोहिणीयकुमारौ भोक्तुमुपविशतः । भृत्यो हि तस्मै चौराय मद्यमिश्रितं दधि ददौ, कुमाराय च शुद्धं ददौ । ताभ्याम्भुक्तम्, क्षणादेव स चौरो मद्ययोगाद्विकलो जातः ।

ततस्तं प्रमत्तं विज्ञाय तमुत्थाप्य निजशयनस्थाने देवराजमन्दिरोपमे निजदिव्यपल्यङ्कोपरि स्वापितः स चौरः । तत्र च पूर्वमेव दिव्याम्बरा दिव्याऽऽभरणा देवाङ्गनोपमाश्चतस्रो युवत्यश्चामरादिकानि देवसूचकानि करे दधानाः स्थापिता आसन् । कियत्कालानन्तरं स पुमान् यदा स्वास्थ्यं लेभे, तदा दिव्ये भवने रत्नादिजटितं दिव्यविमान-

शोभमानदिव्यशय्योपरि स्थितमात्मानं विलोकयन् तथा ताः कन्याश्च पश्यन् किमहं देवोऽभूवमिति वितर्कयन् ताभिरेकस्वरेण "जय जय नंदा जय जय भद्दा" इत्युच्चरन्तीभिर्भणितः-स्वामिन् ! कामीदृशीं तपस्यामकृथाः, येन त्वमधुना दैवीं समृद्धिं प्राप्तवानसि ।

अभयकुमारोऽपि तत्रावसरे कन्याकृतप्रश्नस्योत्तरं श्रोतुकाम-च्छन्नस्तस्थौ । यतः कुमार इतीच्छया तथाऽकरोत् । यदेवंकृते किलाऽऽश्चर्यलीलां वीक्ष्य नैसर्गिकीमात्मवृत्तिं वक्ष्यति नूनम् । इति हेतोः कुमारः कर्णं ददद् गुप्तः कुत्रापि समीपदेशे स्थितोऽभूत् ।

इतश्च स रोहिणीयः स्वस्थी-भूतो दिव्यं तद्भवनं अप्सरस इवाऽग्रे स्थितास्ताः कन्याश्च तथा तासां भाषणं दिव्यां शय्याञ्च विलोक्य सत्यमेवाहं देवो जातोऽस्मीति यावद्वक्तुं लग्नः, तावद् भगवता महावीरेणोक्तां याङ्गाथां पुरा शुश्राव, तस्याः स्मृतिर्जाता । ततश्च स मनसि दध्यौ-अहो ! किं मे स्वप्नः भ्रमो वा ? यत्प्रभुणोक्तं-देवाः पृथिवीं न स्पृशन्ति, किन्तु पृथिवीतश्चतुरङ्गुलोर्ध्वं तिष्ठन्ति । एतास्तु तथा न दृश्यन्ते, सर्वा भूमिं स्पृशन्ति । देवता निमेषशून्या भवन्ति । एतास्तु सनिमेषोन्मेषा दृश्यन्ते । किञ्चैतासां कण्ठस्थाः कुसुमस्रजो म्लाना भवन्ति । देवानां तु तथा न भवन्ति, तथा देवानामखिलं मनोवाञ्छितं सिद्ध्यति । एतासां तु यानि यानि लक्षणानि भगवान्न-वोचत तेषां सर्वेषां का वार्ता ? किन्तु देवताया एकमपि लक्षणं नैव दृश्यते, नूनमेतत्सर्वं मां वञ्चयित्वा मदीयं सत्यस्वरूपं बोद्धुं कुमार एवं कृतवान् । नैता देव्यः, नैवेदं स्वर्गीयभवनम् । सर्वमिदं मम वञ्चनार्थमेव कुमारेण प्रपञ्चितमस्ति भवतु ।

यदि कुमारो द्वात्रिंशल्लक्षणलक्षितोऽस्ति, तर्ह्यहमपि ततोऽधिकलक्षणचतुष्टयवानस्मि । अत एनमेवानेन प्रपञ्चेन वञ्चयानि तर्हि वरमित्यवधार्य ताः प्रत्यवोचत्- हे देव्यः ! मया बहूनि सत्पात्रदानानि कृतानि, शीलम्पालितम् अनेकधा श्रीसङ्घसार्थीकृत्य यात्रा कृता, सहस्रशः स्वामिवात्सल्यं व्यधात्, तथा पौषधप्रतिक्रमणसामायिकभगवत्पूजनादिकं बहुधा कृतम्, तत्पुण्यपुञ्जप्रभावादेवाहमत्र देवो जातोऽस्मि ।

इत्थं तद्वाचमाकर्ण्य कुमारेणाऽचिन्ति- अहो ! मम चेष्टितमिदमप्यनेनाऽबोधि । एषापि युक्तिर्न सिद्धा । एनं मतिमद्गरिष्ठं महाचौरं कया रीत्या गृह्णामि ?। प्रान्ते कापि युक्तिर्यदा कुमारस्य तन्निग्रहे न मिलिता, तदा तदीयचरणयोर्दण्डवत्पपात स कुमारः । तत्रावसरे पादानतं कुमारं स वक्ति-स्वामिन् ! त्वं कस्माद् बिभेषि, येन मे चरणे पतितोऽसि । प्रधानो वक्ति- हे मतिमन् ! ममेदानीं राज्ञो भीतिर्विद्यते। इत्याकर्ण्य तेनोक्तम्- हे स्वामिन् ! तवापि यदीदृशी भीतिरस्ति, तर्हि मम कीदृशी सा भवेत् ? तदा कुमारेणोक्तम् - भोः ! त्वं मा भैषीः । तव भीतिवारणमहमसंशयङ्करिष्यामि ।

ततस्तं प्रतिबोध्य राजान्तिकं कुमारोऽनयत् । राजोवाच- एनमिदानीमत्र किमर्थमानीतवानसि । अत्रावसरे प्रधानस्तमेवं जगाद- हे महाराजाधिराज! यं निग्रहीतुं भवद्दत्तां ताम्बूलवीटिकामहमग्रहीषम्, तमेवेहानीतवानस्मि, एष त्वां नमस्कर्तुमागतोऽस्ति । एतत्कृतां प्रणतिततिं गृहाण । एतस्मै धन्यवादपुरस्सरं मान्यविशेषं देहि । यतः-परैरगम्यामेनां महतीं नगरीं महर्द्धिशालिनीं शासतः सिंहस्येव तव मुखाद्भक्षणमसौ

गृह्णाति । तथापि न केनापि दृष्टो न वा गृहीतस्तथा कुर्वन्नेतस्य साहसः कीदृगस्ति, कियती चैतस्य बुद्धिरस्तीत्यहं वक्तुं न शक्नोमि। एतत्कर्मनैपुण्यभाजामीदृशः कोऽप्यन्यो धीरो नैव दृश्यते । यदसौ निजपराक्रममहत्त्वं दर्शयन् स्वयमेव भवदग्रे समागतोऽस्ति ।

इत्यादि कुमार-कृततत्प्रशंसामाकर्णयता नृपेणापि तस्मै सम्मानं प्रदत्तम् । तत्रावसरे रोहिणीय उत्थाय कृताञ्जलिर्भूत्वा राजानं प्रणम्योवाच- हे स्वामिन् ! अहं तु महाक्षुद्रोऽस्मि, मयि गुणानां लेशोऽपि न विद्यते । अहं तु तव दासोऽस्मि । यदाज्ञापयिष्यसि तदहं शिरसा ग्रहीष्यामि । तदर्थमेवाऽऽगतोऽस्मि ।

इति श्रुत्वा राज्ञोक्तम्- किं भोः ! अहं तु "कश्चन महान् साधुकारोऽस्त्ययमिति" त्वामवेदिषम् । त्वं तु महापराक्रमी दृश्यसे । इत्युदीर्य स्मयमानो भूपतिः प्रधानम्प्रत्येवमवोचत - भोः! कुमार ! अहमत्र विषये किं वदामि, युवामेव यथा लोकाः सुखिनो भवेयुस्तथा कुरुतम् ।

इति नृपादेशं श्रुत्वा तावुभौ ततो बहिरागत्य क्वचिदेकान्ते समुपाविशताम् । तत्रात्मवृत्तं सर्वमादितः स कुमारं जगाद । पुनः कुमारेण स पृष्टः- किं भोः ! देवतानां लक्षणं तव कथं ज्ञातमभूत् । अथैवं कुमारेण पृष्टे भगवतो महावीरस्य समवसरणमध्ये प्रभुमुखार-विन्दतो यथा प्राप्तं तत्सर्वं तथैव तेनाऽवादि- हे स्वामिन् ! तद्गाथाऽर्थो मम हृदि सम्यग् लग्नस्ततःप्रभृत्येव मे त्वन्मिलने महदौत्सुक्यमासीत्। अत एव पत्रमपि तुभ्यं मया दत्तम् । प्रभूपदेशप्रभावादेव त्वया सह मेलनं जातम् । मनसि शुभभावोऽप्युत्पन्नः । किमधिकं ब्रवीमि, यथा

मत्सदृशो दुराचारी तु कदापि तादृशेन महता जनेन सह सङ्गतिं लब्धुं नाऽर्हति। मम तु भाग्ययोगात् सर्वमपि जातम्।

किञ्च हे स्वामिन्! यथैव मे पुराकृतसुकृतयोगाद्भगवन्मुखारविन्दतस्तादृशोपदेशो यातः, तथैव तव संयोगोऽपि। ईदृशं सुन्दरमवसरमधिगम्य पुनरीदृक्कर्म कर्तुं नैव वाञ्छामि। हे स्वामिन्! त्वयाऽपि मम निग्रहाय महानुपायः प्रपञ्चितः, परं भगवदुपदेशलब्धा गाथैव सेदानीं त्वद्रचितजालतो माममोचयत्।

अत्रान्तरे कुमारेण पुनः पृष्टः - किं भोः! सा गाथा त्वया भावतः शिक्षिता उताभावतः ?। सोऽवक्- हे प्रभो! मम तद्ग्रहणे मनागपि भावो नासीत्। अहं तु समवसरणमध्यतः पलायमानो भवितव्ययोगात्तां प्रभुवदनसुधाकरनिःस्यन्दितां सुधामयीङ्गाथामनिच्छन्नपि श्रोत्राभ्यामपिबम्। तन्माहात्म्यादेव मम सर्वे मनोरथाः सफलीभूताः।

ततस्तमेवं कुमारो जगाद - हे भ्रातः! पश्य कीदृशं धर्ममाहात्म्यमिति। यत्ते कुभावतोऽधीतमपि ज्ञानं महदुपकारि जातम्। तर्हि भावतः शिक्षितं ज्ञानं कथङ्कारं लोकान्नोपकुर्वीत। ततः सोऽवक्- हे पुरुषरत्न! अत्रापि कः सन्देहः। किञ्च-"महतां सङ्गतिकरणाज्जनानां कुमतिर्विलयं याति तोयस्थं लवणमिव। सद्बुद्धिश्चोदेति" तथैव ममेदानीमतिक्रूरकर्म-व्यसनिनोऽपि त्वत्सङ्गत्या सद्बुद्धिरुदपद्यत। अतो हे स्वामिन्! अद्यप्रभृति तथा न कर्तुमिच्छामि। तथा पौराणां यानि यानि वस्तूनि मयाऽपहृतानि तेभ्यः सर्वेभ्यस्तानि समस्तानि मत्तस्त्वं प्रदापय। येन पौराः सुखिनो भवेयुः।

ततोऽभयकुमारः सर्वं राज्ञे व्यजिज्ञपत् । ततो राजा नगरे पटहवादनमकरोत् । यथा- भो लोका ! भवतां यानि यानि चोरितान्यभूवन् तानि तान्यत्राऽऽगत्य परिचीय च गृह्णन्तु इति । अथ पटहवादनेन तत्स्वरूपं विज्ञाय हृष्टाः पौराः सर्वेऽपि तत्रागत्य स्वस्वधनानि समुपलक्ष्य जगृहुः । नगरे चौरोपद्रवोऽपि शान्तो यातः । स चौरोऽप्यभयकुमार-सङ्गत्या शुद्धश्रावकोऽभवत् । ततो द्वादशव्रतधारकः स धर्मध्यानादिकं यावज्जीवं कुर्वन्नन्ते चाऽऽयुषि परिपूर्णे शुभध्यानेन मृत्वा देवगतिं प्राप ।[1]

अस्याः कथायाः सारतया लोकैरयमवश्यमेव सारो ग्राह्यः, यथा नीचजातीयः परमस्तेनः, प्रभूपदिष्टामेकामेव गाथां कुभावतः सञ्जग्राह । तथापि तस्य महोपकारो जातः । यच्चोरयन्नपि कदापि केनापि स न गृहीतः । सत्सङ्गतिः प्राप्ता, अलभ्यञ्चैनधर्ममाप्तवान् । प्रान्ते चैहिकं पारलौकिकञ्च सुखमाप । येऽतः शुद्धभावेन भगवद्वाणीं शृण्वन्ति, तथा ज्ञानमर्जयन्ति, तेऽवश्यमेवात्र लोके महत्तरां सुख-सम्पत्तिमधिगच्छन्ति, परत्र च स्वर्गापवर्गोद्भूतां दिव्यां सम्पदमाप्नु-वन्ति । अतोऽवश्यमेव ज्ञानोपार्जने लोकैः प्रयतितव्यम् ।



1. अन्यकथायां चारित्रं गृहीतम्, इति वर्णनमपि अस्ति ।

८-अथ ज्ञानोपरि मासतुषयोरुभयोर्भ्रात्रोः कथानकम्[1]-

मासतुषनामानावुभौ भ्रातरावभूताम् । तावुभौ विषयविमुखौ समागतवार्धक्यौ कस्यचन मुनेः पार्श्वे दीक्षामग्रहीष्टाम् । प्राक्तनकर्म-दोषवशाच्छ्राम्यतोरपि तयोरेकाक्षरमपि यदा शिक्षितं नाऽभूत्, तदा तयोश्चेतसि महान् खेदोऽजनि । अहो ! ज्ञानसम्पादनाय यतमान-योरप्यावयोरेकपदमपि नैव समायाति । तर्ह्यधिकज्ञानस्य का वार्ता? ज्ञानेन विना किलाऽऽवयोरन्येऽपि गुणा नैव भवितुमर्हन्ति । तद्विहीना मुनयो लोकैरपि नाद्रियन्ते ।

इत्थं खिद्यमानमानसौ समुपविष्टौ तावालोक्य गुरुरूचे-भो मुनी ! युवाञ्चिन्तातुरौ कथं दृश्येथे । तदुक्तिमाकर्ण्य स्वचिन्ताकारणं तौ तमूचतुः । तच्छ्रुत्वा पुनस्तौ गुरुरवादीत् - भो मुनी ! युवाभ्यां सत्यमुक्तम् । परं मुनिभिरखिलैरपि पठितुम्प्रयत्नो यथामति विधातव्यः। यदि कस्यचिज्जन्मान्तरीय-ज्ञानान्तराय-कर्मदोषाद् ज्ञानं नायाति तदा तेन मनसि खेदो न कर्तव्यः । यदुक्तं नीतिशास्त्रे-"यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः" अत्र युवयोः को दोषः । यदि कठिनम्पदं शिक्षितं न शक्यते तर्हि सरलमत्यल्पाक्षरकमपि बह्वर्थकमेव पदं युवामहं पाठयिष्यामि, यावदेव सुखेन युवयोरायाति तावदेव यथामति यत्नतः प्रत्यहं पठनीयम् । अधिकं ज्ञानमावयोर्नाऽऽयातीति मा शोचिष्टम् । इत्थं पठतोर्युवयोरल्पज्ञाननैव कल्याणं भविष्यति ।

ततो गुरुस्तयोः "मा रुष्य-रुष, मा तुष्य-तुष", इत्येतत् पद-

1. अन्य कथानक एकैव श्रमणस्य वर्णनमस्ति ।

द्वयमेव पाठितम् । परन्तु बलवत्तरप्राक्तनज्ञानान्तरायकर्मोदया-देतस्यापि सम्यगुच्चारणं तयोर्नाऽभूत् । तथापि गुरुवचसि कृतविश्वासौ तावुभौ तदेव मुहुर्मुहुर्गच्छन्तौ, स्वपन्तौ, तिष्ठन्तावभ्यसितुं लग्नौ । क्षणमपि तदभ्यासतो न विरेमाते, तन्मुखाच्छृण्वन्तः शिशवोऽपि तत्पदद्वयं मुखपाठञ्चक्रिरे । किन्तु तयोः सम्यगभ्यस्तं तन्नाऽभूत् ।

ततः सर्वदैव तदेवोच्चरन्तौ वीक्ष्य सर्वेऽपि तन्नाम्नैव तावुभौ समाह्वयितुं लग्नाः । यदा तौ गोचर्यादि लातुं नगरं गच्छन्तौ तदा तावालोक्य कियन्तो बालकास्तदीयमोघं-रजोहरणं केचन वस्त्रं केचिच्च कम्बलमन्ये च दण्डं बलादागृह्णन्त आसन् । तथापि बालकृतोपद्रवं सोढुमशक्यमपि सानन्दं सहमानौ तौ मनागपि तदुपरि रोषं न चक्राते । इत्थमल्पतरज्ञानसमावेशाद्धर्षक्रोधौ जित्वा शान्ति-सुधारससागर-मग्नमानसौ तौ शुक्लध्यानं विदधतौ क्रमशः क्षपकश्रेण्यामागतौ, सञ्जातकैवल्यज्ञानौ मोक्षं प्रापतुः ।

भो भो भव्याः ! पश्यत ज्ञानबलम् । यन्मासतुषयोर्महामन्दम-त्योरप्यल्पतरपदद्वयज्ञानमात्रादेव महोपकारोऽभूत् । यदि युष्माकमधिकं ज्ञानं स्यात्तर्हि संसारेऽस्मिञ्जीवन्तो भवन्तः सर्वा अपि सुखसम्पदो भोक्ष्यन्ते, परत्र चाऽतिदुर्लभमपि शाश्वतं शिवसुखं वः करतलाऽधिगतमिव सुकरमेव भवितेति मत्वा सर्वैरपि लौकिकपारलौकिकसुखार्थि-भिज्ञानसम्पादनायाऽवश्यमेव प्रयतितव्यम् ।

२-अथ मनुष्यजन्मविषये-

भवजलधि भमंतां कोई वेला विशेषे,

मनुअ जनम लाधो दुल्लहो रत्न लेखे ।
सफल कर सुधर्मा जन्म ते धर्मयोगे,
परभव सुख्र जेथी मोक्षलक्ष्मी प्रभोगे ॥११॥

हे भव्याः ! इहाऽपारसंसारसागरे निमज्जतां भवतामदृष्टयोगात्कादाचित्कमिदममूल्यरत्नप्रायं मानुषं जन्माऽधिगतमस्ति । अतिदुर्लभमिदमधिगत्य पुण्यवन्तो जनाः सुकृतार्जनेनैव तत्सफलयन्ति । यतो हि सञ्चितो धर्म एव जीवानिह जन्मनि सुखिनः करोति, परत्र मोक्षसुखञ्चाऽनुभावयति । अतो धर्मे सवैरेव प्रमादं विहाय वर्तितव्यम् ॥११॥

मनुज जनम पामी आलसे जे गमे छे,
शशिनृपति परे ते शोचनाथी भमे छे ।
दुलह दश कथा ज्यूं मानुखो जन्म ए छे,
जिनधरम विशेषे जोडतां सार्थ ते छे ॥१२॥

किञ्च ये जीवा ईदृशमधिगतं मनुष्यत्वं प्रमादवशाद्विफलयन्ति, धर्मं हित्वा पापानि कुर्वन्ति । ते शशिप्रभराजवत्पश्चात्तापं कुर्वन्तः संसाराऽपारकाननमध्य एव बहुशो भ्राम्यन्ति, कदापि तस्य संसारस्य परम्पारमधिगन्तुं नार्हन्ति । किञ्चैतन्मनुष्यत्वं दश दृष्टान्तश्रवणात्प्राणिनामतिदुर्लभमस्ति । तथापि ये प्राणिनो वीतरागाऽऽर्हतप्ररूपितशुद्धजैनधर्मं यथावत् पालयन्ति, तेषामेव विशुद्धो धर्मो भवकान्तारोल्लङ्घने सार्थवाहतुल्यो भवति ॥१२॥

९-प्रमादवशादुर्गतिपतनोपरि शशिप्रभराजस्य कथानकम्-

तथाहि-इहैव भरतक्षेत्रे श्रावस्तिका नाम महती नगर्यस्ति। तत्र सुरप्रभनामा राजास्ति। तदीयो भ्राता कनीयान् शशिप्रभो युवराजपदं भजते। तत्रैकदा धर्मघोषसूरिः कतिपयमुनिगणैः सहोद्याने समायातः। तदा झटिति वनपालः साधुसमागमनवर्धापनं राज्ञे ददौ। तदा हृष्टो राजा तस्मै यथेष्टं तुष्टिदानं दत्तवान्।

ततो लघुबन्धुना सह महता राजकीयेनाऽऽडम्बरेण राजा गुरुवन्दनार्थं तस्मिन्नुद्याने यत्र गुरवस्तस्थुस्तत्राऽऽगतः। गुरून् विधिवन्नमस्कृत्य यथोचितस्थाने सर्वे लोका उपाविशन्। गुरवो हि भवभयहरीं धर्मदेशनां ददुः। गुरुमुखाद्धर्ममाकर्ण्य राज्ञः प्रतिबोधो जातः।

अथ देशनान्ते गृहाऽऽगतो राजा संसारममुमसारं मन्यमानः सञ्जातविषयवैराग्यस्तदैव शशिप्रभाभिधं कनिष्ठबन्धुं जगाद- हे भ्रातः! इदं राज्यं गृहाण। यदिदं जनान् महाघोरनरके पातयति। ममेदानीमपारसंसारसागरतरी दीक्षैव रोचते। अलं मे राज्यादिना। इत्याकर्ण्य शशिप्रभस्तमेवमगदत्- हे राजन्! कोऽयमकाण्डे प्रचण्डचित्तभ्रमो जातोऽस्ति। यदेवमकाले ब्रूषे। नेदानीं तवेदं यौवने वयसि वक्तुमपि युज्यते। यदि संसारादुद्विग्नोऽसि तर्हि समागते चरमे वयसि त्वया दीक्षा ग्राह्या, नेदानीमित्येव मे श्रेयस्करं प्रतिभाति। परं स्वमनसि सुविचार्य यत्करणीयं तत्करोतु। ततो वक्ति राजा-हे भ्रातः! नाऽहं भ्रान्तोऽस्मि, तवैव मतिर्विभ्रान्ता दृश्यते, यत्त्वं

मां राज्यं स्थापयितुमिच्छसि । अरे ! किमिति नीतिं न स्मरसि "गृहीत इव केशेषु, मृत्युना धर्ममाचरेदिति"। अतस्त्वं राज्यं गृहाण। इत्युदीर्य तस्मै राज्यं दत्त्वा स्वयमेव गुर्वन्तिकं गत्वा प्रव्रज्याञ्जग्राह।

अथ सुरप्रभो राजर्षि सम्यक् संयमं समाराधयन् महता तपसा जपादिना च कर्म्माणि निर्जरयन्नन्तेऽनशनं विधाय मृत्वा पञ्चमे ब्रह्मदेवलोके देवोऽभूत् । इतश्च शशिप्रभो राजा धर्म्मविमुखो भूत्वा सप्तव्यसनाऽऽसेवी मृत्वा तृतीयनरके समुदपद्यत । तत्र तस्य महान्ति दुःखानि सोढव्यानि बभूवुः ।

तत्रावसरेऽवधिज्ञानेन महाक्लेशमनुभवन्तं निजबान्धवमालोक्य स्नेहवशात् स सुरप्रभो देवस्तदन्तिकमाजगाम । तत्र तथावस्थं तं वीक्ष्य मोहवशात्तं तत उद्धर्तुकामेन प्रयतितेऽपि तस्य प्रत्युत क्लेशाधिक्यमेव जज्ञे । तदा देवस्तमेवमुवाच-हे भ्रातः ! मया बहुधा वारितोऽपि त्वं पापान्न न्यवर्तथाः । अत एवंविधं महाक्लेशमत्राऽनुभवसि । इदानीं किं क्रियते ? । ततो नारकेयेणोक्तम्- भो देव ! मम दुःखादीदृशं विषादं मा गाः । *लोकैर्यथा क्रियते तथाऽवश्यमेव परत्र भुज्यते, मयाऽपि यथाऽर्जितं कर्म भवान्तरे तथाऽत्र भुज्यते, भोगं विना कस्यापि जीवस्य शुभाऽशुभकर्माणि न क्षयन्ति ।* अथ स देवः स्वस्थानमाययौ । शशिप्रभश्च तत्रैव भृशमसह्यानि दुःखान्यनुभवन् कुर्वंश्च पश्चात्तापमासीत् । अनया कथया लोकैः सारतया ग्राह्यमवश्यमेतत्-

तथाहि- यथा सुरप्रभो राजाऽसारमेनं संसारं हेयमिति ज्ञातवान्, ततो दुर्लभमेतन्मनुष्यत्वं धर्माराधनेन सफलीकुर्वन्

देवगतिमाप्तवान् । अधर्मसेवनाच्च शशिप्रभो राजा नारकीं महतीं वेदनां चिरमन्वभूत्, अतः सर्वैरपि सुरप्रभवद्धर्ममर्जयद्भिर्मनुष्यत्वमतिदुरापमिदं सफलं कर्तव्यम् । तथा शशिप्रभस्य नारकीं वेदनामाकर्ण्य सावद्यानि सर्वाणि कर्माणि हेयानि ।

अथ मनुष्यजन्मनि दशभिर्दृष्टान्तैरतिदौर्लभ्यं दर्शयन्नाह गाथा-

चुल्लगपासगधन्ने, जूए रयणे य सुमिणचक्के अ ।
चम्मयुगे परमाणू, दस दिट्ठंता मणुअलंभे ॥१॥

चुल्लिका १ पाशक २ धान्य ३ द्यूत ४ रत्न ५ स्वप्न ६ चक्र ७ चर्म-कूर्म ८ युग ९ परमाणु-दृष्टान्ता १० दश वर्तन्ते । एते च विस्तरतया ग्रन्थान्तरेण ज्ञातव्याः । इह तु ग्रन्थगौरवभिया संक्षिप्तास्ते दर्श्यन्ते ।

१०-तत्रादौ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये चुल्लिकायाः दृष्टान्तः (प्रथमः)-

यथा काम्पिल्यपुरे ब्रह्माख्यो राजा वर्तते । तस्य महारूपलावण्यवती रम्भासमाना चुलनीनाम्नी राज्यस्ति । तस्या गर्भे चतुर्दशस्वप्नसूचितो ब्रह्मदत्तनामा चक्रवर्ती पुत्र उदपद्यत । तस्य च बाल्यावस्थायामेव तत्पिता ब्रह्मराजा ममार । ततःप्रभृति तद्राज्यं ब्रह्मराज्ञः सुहृदश्चत्वारो नृपा अनुक्रमेण रक्षितुं लग्नाः । प्रथमं सर्वेषामाज्ञया दीर्घपृष्ठनामा कश्चिन्नृपस्तद्राज्यरक्षायै सर्वैः स्थापितः ।

तदनु सोऽन्तःपुरे गमागमं विदधत्, तारुण्यमञ्जरीमतिसुन्दरीमप्सरसमिव तां चुलनीं राज्ञीमलोकत । ततस्तस्यां स महानुरागी

जातः । साऽपि तस्मिन् रागवती बभूव । द्वयोश्च परस्पराऽवलोकनसरसभाषणादिना मदनो नितरामवर्धत । तयोर्मिथस्तथा रागोऽवर्धत, यथा तावुभौ क्षणमपि विश्लेषं सोढुं नाऽशक्नुताम् । ततोऽचिरादेव तयोः कुत्सिताऽऽचरणं सर्वैरपि ज्ञातम् ।

यतः- *चौर्यं मासचतुष्टयेन, पारदारिकं षड्भिर्मासैरुद्घटं भवत्येव गुप्तमपि पापाऽऽचरणं जले तैलमिव बहिरायात्येव ।* तदितरेऽपि राज्ञः सखायस्तत्स्वरूपं ज्ञात्वा भृशमकुप्यन् निनिन्दुश्च । परं दीर्घपृष्ठस्य तत्र सञ्जातगाढाऽऽधिपत्यतया ततस्तमपसारयितुं निरोद्धुं वा न प्रबभूवुः । दीर्घपृष्ठनृपोऽपि तां राज्ञीं निःशङ्कमनाः स्वकीयामिव सेवमानस्तद्राज्यस्याऽऽधिपत्यमपि स्वस्मिन् दर्शयन् राज्यकार्यमकरोत् ।

अथैतत्स्वरूपमतिप्राचीनो धनुनामा मन्त्री ज्ञात्वा वरधनुनामाभिधं स्वपुत्रमब्रवीत् - हे पुत्र ! ब्रह्मदत्तकुमारस्याऽतिप्रेयान् सखा त्वमसि । अत एकान्ते दीर्घपृष्ठनृपस्तन्मातरि यदनाचारं करोति तत्सर्वं यथावत्तं सूचय । ततो यथादिष्टं पित्रा तथैव तत्स्वरूपं सर्वं ब्रह्मदत्तकुमारं व्यजिज्ञपत् स वरधनुनामा मन्त्रिपुत्रः । तच्छ्रुत्वा कुमारस्य कोपानलो नितरां प्रजज्वाल ।

अथैकदा कञ्चन वायसं हंस्या सङ्गतमालोक्य राजसभां तौ समानीय सकलजनसमक्षं कुमारोऽवादीत् - भो भो लोकाः! पश्यत पश्यत यदयमधमः काक उत्तमामिमां हंसीं निषेवते, इत्येनं दुराचारिणं हन्मीति निगदन् दीर्घपृष्ठ-समक्षमसौ कुमारस्तङ्काकञ्चघान । सूचितश्चाऽनेन, यः कोऽप्यस्मद्राज्ये दुराचारमीदृशङ्करिष्यति तमित्थमेव हनिष्यामीति ।

एवं कुमारचरित्रं वीक्ष्य भयकातरो दीर्घपृष्ठो नृपो गत्वा चुलनीमवादीदेतत्सर्वम्। तेन कर्मणाऽतिरुष्टा दुष्टा सा राज्ञी मनस्येवं दध्यौ- अमुना दुष्टपुत्रेण किम् ? यो ह्येवं मम सुखे विघ्नायते। तत्रावसरे दीर्घेणोक्तम्-अयि ! प्रिये ! असौ कुमार आवयोश्चरितं सर्वं विदितवानस्ति। अतोऽसौ कुत्रचिद्दिने त्वां मां वा द्वयं वा मारयिष्यति। अतोऽहं त्वया सहैतत्कर्म्मकरणे बिभेमि। अथैतदाकर्ण्य साऽवादीत्- हे स्वामिन् ! त्वमेतेनाऽधीरतां मा गाः। स हि बालत्वादेवमकरोत्। ततो भीतिः कापि कदाचिदपि तव न सम्भाव्यते। त्वमुदासीनो मा भूः। सत्यवसरेऽहमस्योपायङ्करिष्यामि। इत्थं तया प्रोत्साहितः स दुष्टः पुरेव तया सह रन्तुं पुनर्लग्नः।

पुनरेकदा बह्मदत्तकुमारो वने कस्यान्चित्कोकिलायां मैथुनं विदधदेकं काकमालोक्य, पुरेव तं राजसभामानीय पूर्ववज्जघान। पुनर्द्वितीयवारमेतत्कुमारचरित्रं दृष्ट्वा दीर्घो नितरामभैषीत्। एतसर्वं सविस्तारं राज्यै गदित्वा कथयितुं लग्नः यथा- अयि प्राणेश्वरि ! अद्यप्रभृति त्वत्सङ्गतिं त्यजामि, नो चेदवश्यमसौ ते पुत्रो मां मारयिष्यति। तदा सोवाच- हे प्राणनाथ ! अहं त्वां कदाचिदपि त्यक्तुं नेच्छामि। त्वां विना क्षणमप्यहं जीवितं धर्तुं न शक्नोमि। मां विसृज्य कथङ्गन्तुमिच्छसि ?। तदा दीर्घेण दुष्टेन पुनरुक्तम्-तर्हि सत्वरं निजपुत्रं मारय, येनाऽऽवयोः सुखञ्चिरस्थायि भवेत्। इत्याकर्ण्य सञ्जातहर्षया विषयसुखलोभेन निजपुत्रमारणमङ्गीकृतं तया चुलन्या। ततः पुनरसौ दीर्घपृष्ठराजा पुरेव स्वैरं तया सह क्रीडितुं लग्नः।

इतश्च झटिति पुत्रं निहन्तुमिच्छन्ती सा दुष्टा कस्यचित्कण-

यरदत्तस्य राज्ञः कुमार्या सह निजपुत्रस्य ब्रह्मदत्तकुमारस्य विवाहाऽवधारणं निश्चिक्ये। तत एकं लाक्षागृहं निर्माप्य निजपुत्रमवोचत - हे पुत्र! अस्मत्कुले चैषा रीतिरस्ति यः पाणिग्रहणं कुरुते, स वध्वा सह प्रथमदिने लाक्षागृह एव स्वपिति। सरलाशयः कुमारः सनातनीं कुलपद्धतिं मत्वा तयोक्तं सहर्षमुररीचक्रे।

एतत्स्वरूपं धनुनामाऽतिवृद्धो मन्त्री विदित्वा मनसि दध्यौ - अहो! मया कदाप्येषा रीतिरेतत्कुले न श्रुता नैव दृष्टास्ति। नूनमनया दुराशया राज्ञ्या कुमारमारणायैष प्रपञ्चो विहितः। इत्यवधार्य तेन वृद्धमन्त्रिणा कणयराजानमेवं सूचितम्- यथा- भो राजन्! विवाहानन्तरं ब्रह्मदत्तकुमारेण सह निजपुत्रीं मा प्रैषीः। काचन दासी तद्वेषभूषिता तेन सह प्रेषणीया। अन्यथा तवापि पश्चात्तापो महान् भविष्यति। तत्कारणं पश्चाद् बोधयिष्यामि। कणयरराजा मन्त्रिवचनानुसारेण तथा कर्तुं मनस्यवधारितवान्।

पुनरसौ मन्त्री निजपुत्रं वरधनुमेवमशिक्षयत्- भोः पुत्र! कुमारविघाताय दुष्टया राज्ञ्या लाक्षागृहं निर्म्मापितम्। तत्र मातुराज्ञया कुमारः राजकन्यां परिणीय शयिष्यते तया सह। ततः कुमारस्तत्र गृहे धक्ष्यति। अतः कुमाररक्षाकृते त्वामहं यथा शिक्षयामि त्वया तथैव सावधानमनसा विधातव्यम्। त्वया सर्वदा दिवानिशं कुमारसमीप एव स्थातव्यम्। कदाप्यन्यत्र न गन्तव्यम्। तां परिणीयाऽत्राऽऽगत्य कुमारो यदा लाक्षागृहे शयितुं गच्छेत्तदा त्वयाऽपि तेन सहैव तत्र गन्तव्यम्। यद्येवं कुमारः कथयेत् - भोः! त्वमधुना गृहं याहि इत्यादि। तदा कथनीयम्- हे स्वामिन्! अहं ते दासोऽस्मि। सदैव तव समीप

एव् स्थातव्यम् । इति पितुः शिक्षाङ्गीकृता वरधनुनापि ।

ततः प्रधानो दीर्घपृष्ठराजान्तिकमागत्य तमुवाच – भोः स्वामिन्! अहमतिवृद्धो जातोऽस्मि । अतस्तवाऽऽदेशं लात्वा तीर्थयात्रां विधातुमिच्छामि । इति तत्प्रार्थनामाकर्ण्य दीर्घेणैवमचिन्ति – नूनमसौ बहिः कुत्रापि गत्वा कामप्युपाधिङ्करिष्यत्यतोऽस्य बहिर्गन्तुमाज्ञामिदानीं नैव दद्यामिति विचार्य दीर्घेण स भणितः– भो मन्त्रिन् ! इदानीं राजकार्यं महदस्ति । अतस्तीर्थयात्रामिदानीं मा कुरु । अत्रैव स्थित्वा दानादिधर्म्मं कुरु ।

ततः स प्रधानस्तत्रैव गङ्गातटे दानशालां निर्माप्य तस्थौ । पुनर्दानशालातो लाक्षामयगृहाऽवधिर्गुप्ता सुरङ्गा तेन खानिता । सोऽवदच्च निजपुत्रम्– भोः पुत्र ! यदा ब्रह्मदत्तकुमारो वध्वा सह लाक्षागृहे गच्छेत्तदा तेन सह त्वयापि तत्र गन्तव्यम् । तेन हठान्निवारितोऽपि त्वया ततो नैव निवर्तितव्यम् । पुनस्तत्र यदा कोऽप्युत्पातो भवेत्तदा व्याकुलीभूतङ्कुमारम्प्रत्येवं वाच्यम्– भोः स्वामिन् ! अत्र स्थले द्रुतं पादाघातं कुरु, यथा प्राणरक्षणोपायः शीघ्रं प्रकटः स्यात् । तथा कृत्वा सुरङ्गमार्गेण युवां दानशालान्तिकमागत्य तत्र स्थापितावश्वावारुह्य देशान्तरं गच्छेतम् । तत्राऽवसरे यदि कुमारो वधूमानेतुमिच्छेत्, तदा स निरोधनीयः। तां त्यक्त्वैव युवाभ्यामागन्तव्यम् ।

इतश्च पाणिपीडनानन्तरं प्रधानोक्तरीत्या राजकुमारीवसनाभरणैर्विभूषितया दास्या वध्वा सह निजाऽऽवासमागतो ब्रह्मदत्तः कुमारः स्वमातुरादेशात्तत्र लाक्षागृहे वधूयुतः शयितुं गतवान् । तदा प्रधानपुत्रोऽपि सहैवाऽऽगतः । तमालोक्य कुमारस्तं साऽऽग्रहमुवाच–

अस्मिन्नवसरे त्वमत्र किं तिष्ठसि । निजसदनं याहीति । सोऽवक्-भोः कुमार ! तवाऽहं दासोऽस्मि । त्वां विहाय क्षणमपि मनो मे कुत्राप्यन्यत्र नैव लगति । अहमत्रैव तव चरणोपान्ते स्वप्स्यामि । इत्थं कुमारमभ्यर्थ्य सोऽपि तत्रैवाऽधःस्थितः । ततः कुमारीरूपमधिगता दासी वधूरपि तद्गृहे समागता सुष्वाप । ब्रह्मदत्तो वरधनुश्च परस्परमालपन्तौ जागृतावेवाऽभूताम् ।

इतश्च मध्यरात्रे जाते निद्रिते च समस्तलोके सैका दुष्टा दुराचाररता राज्ञी तत्राऽऽगत्य तत्र लाक्षागृहे वह्निममुञ्चत् । तदनु किञ्चित्प्रदीप्तप्रायेऽग्नौ स्वस्थानमागत्य महता स्वरेण पूच्चक्रे । तथाहि-भो भो रक्षकाः ! जागृत जागृत, धावत धावत यत्र लाक्षामन्दिरे मम पुत्रो वध्वा सह सुप्तस्तज्ज्वलति । हा दैव ! किं कृतम्, केन पापीयसा कृतमेवम्, हा हा !! मम पुत्रो दह्यते, किङ्करोमि ? अरे ! लोकाः ! सत्वरं कुमारं तद्गृहान्निष्काशयत, नो चेदहमपि न जीविष्यामि, हा हा !!! किञ्जातम् ?, यावदेवमाक्रोशमकरोत्, तावत्तत्राऽग्निः कल्पान्तकाल इव वर्धमानः परितः प्रससार ।

गृहमध्ये च यदा ज्वलद् मन्दिरं कुमारेण दृष्टम्, तदा भयातुरः कुमारो वदति-अहो ! इदमकस्मात् किं जातम् ?, वरधनुर्वक्ति-भोः कुमार ! यज्जातं तत्पश्चात्कथयिष्यामि । पुनर्वक्ति कुमारः-तर्हीदानीं किङ्कर्तव्यम्, सत्वरं वद, नो चेत्त्रयोऽपि मरिष्यामः । वरधनुर्वक्ति- मा भैषीः, अस्त्युपायः । अत्र स्थले दक्षिणचरणाघातं महता बलेन देहि । यदत्र कृतसुरङ्गाया मुखमस्ति ततो मार्गं लब्ध्वा निर्गमिष्यावः । कुमारस्तथा कृत्वा सुरङ्गद्वारमुद्घाट्य तेन मार्गेण मित्रेण सह

चचाल। तस्मिन्नवसरे कुमारेण कथितम्- भो मित्र! मम वधूमप्यानय नो चेन्मरिष्यति सा। वरधनुनोक्तम्- स्वामिन्! समयो नास्ति। जीविष्यसि चेदन्या बहव्यो मिलिष्यन्ति। एतस्मिन्नवसरे स्वरक्षणमेव विधातव्यम्।

ततस्तावुभौ सत्वरं सुरङ्गमार्गेण दानशालान्तिके समायातौ। तत्र च तयोरर्थे पूर्वमेव वरधनुपित्राऽश्वद्वयमस्थाप्ययत्। तौ तावारुह्य तत्कालमेव देशान्तरं प्रययतुः। क्रमेण गच्छतोस्तयोः शतयोजनेऽतिक्रान्ते द्वावप्यश्वौ मम्रतुः। ततस्तौ पद्भ्यामेवाग्रे चेलतुः। एवं दीर्घपृष्ठनृपभयान्नश्यन्तौ गच्छन्तौ तौ कियदकालानन्तरं भवितव्ययोगान्मिथो वियुक्तौ बभूवतुः। तत्कथा चाऽत्र महत्त्वादनवसरत्वाच्च न दर्श्यते, किन्तु संक्षेपेण किञ्चिद्दर्श्यते।

इत्थं ब्रह्मदत्तकुमारः शतवर्षाणि पर्यटत्। क्लेशाश्च सोढुमशक्या अनेके महान्त आपुः। अनेके दाराश्च बभूवुस्तैः सह सुखं स्वैरं भुञ्जानः स कालं व्यतीयाय। सर्वमेतद् ब्रह्मदत्तचरित्रे विस्तरं विलसति। तत एवैतदधिकजिज्ञासावद्भिर्बोध्यम्।

अथ वियुक्ते च वरधनुनाग्नि मित्रे कुमार एकाकी पर्यटन्नष्टचत्वारिंशत्क्रोशान्तमरण्यम्प्राप्तवान्। तच्च श्वापदादिदुष्टजीवैराकीर्णमतिभयास्पदमासीत्। तस्मिन् निर्जने वने चैकाकी गन्तुमशक्नुवन् किङ्कर्तव्यतामूढः स कुमारः कमपि सार्थवाहं प्रतीक्षमाण एकं ब्राह्मणमपश्यत्। तेन सह कुमारस्तत्र महाकानने चचाल। मध्याह्ने च कुत्राऽपि जलाशये समुपविश्य ब्राह्मणः स्वयं सक्तूनखादत्। कुमारस्य तु किञ्चिदपि न दत्तम्। सोऽपि तस्मात्तन्न ययाचे।

इत्थं तृतीये दिवसे समुल्लङ्घितमहावनं कुमारमेवमूचे द्विजः- भो बालक ! तव दिनत्रयमशनादिकं विना यातम् । अत इदानीमनेन मार्गेण सुखेन समीपवर्ति नगरं याहि । तत्र गत्वा सुखी भविष्यसि । इति निगद्य ब्राह्मणश्चचाल । तत्राऽवसरे ब्रह्मदत्तेन स भणितः। भो ब्राह्मण ! त्वया ममोपकारो महान् कृतः । यस्य स्मृतिराजन्म मम स्थास्यति, अतोऽहमिदानीं तत्प्रतिक्रियाङ्कर्तुं नार्हामि । यदा त्वं ब्रह्मदत्तञ्चक्रवर्तिनं शृणुयास्तदा त्वमवश्यमस्मत्पार्श्वमागन्तासि । अहं क्षत्रियपुत्रोऽस्मि, तदा ते मनोऽभीष्टमहं पूरयिष्यामि ।

इति कुमारोक्तं श्रुत्वा ब्राह्मणो मनसि चिन्तयति - एतादृशा रङ्कजना बहुधा मे मिलितास्सन्ति । अतः कथमसौ चक्रवर्ती भविष्यति । भवतु, तथाऽपि योग्याशीर्देया, इति विचिन्त्य स वक्ति- हे महाभाग्यशालिन् ! त्वं भाग्यवानसि, तव मनोरथः सर्वः परिपूर्तामुपैतु । इत्याशिषा कुमारमभिनन्द्य ब्राह्मणश्चचाल ।

ब्रह्मदत्तोऽपि द्विजादिष्टपथेन नगराऽभिमुखञ्चचाल, इत्थं ग्रामानुग्रामकाननादिषु पर्यटन् कुमारः शतवर्षाणि निनाय । मध्ये च स राज्ञां विद्याधराणांञ्च द्विनवतिसहस्राधिकलक्षङ्कन्या अप्युदवोढ । षट्खण्डायाः पृथिव्याश्चक्रवर्ती राजा जातः। तस्य षण्णवतिकोटिग्रामा अभूवन् । महानगराणां द्विसप्ततिसहस्रमासीत् । पट्टनमष्टचत्वारिंशत्सहस्रं बभूव । लघुग्रामादयस्त्वसंख्याता आसन् । द्रोणादयो नवनिधयोऽपि तदायत्ता बभूवुः । रत्नानां चतुर्दशाऽऽसन् । किञ्चषण्णवतिकोटिपदातयः । गजेन्द्राश्चतुरशीतिलक्षाः, तावन्तोऽश्वाश्च, एतावन्तो रथाश्चाऽभूवन् । एवञ्चतुरङ्गसेनया शोभमानः पञ्चविंशतिसह-

सदेवैः संसेव्यमानो द्विनवतिसहस्राधिकलक्षदाराभिः सह सुखं भुञ्जानो ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती महत्या समृद्ध्या तां काम्पिल्यपुरीमाजगाम ।

तत्कालमेव महादुष्टं तं दीर्घपृष्ठनृपं यमराजसदनाऽतिथिं व्यधात् । साऽपि चुलनी राज्ञी त्रस्ता सती नष्ट्वा दीक्षामग्रहीत् । शुद्धसंयमं परिपालयन्ती कृतकर्माणि क्षपयन्ती तस्मिन्नेव भवे मृत्वा मोक्षमाप । इत्थं ब्रह्मदत्तसार्वभौमः प्रजाः पालयन् सुखेन षट्खण्डां महीं शशास, वरधनुः प्रधानपदे तिष्ठन् न्यायेन सर्वं राज्यकार्यङ्करोति स्म ।

अथैकदा येन ब्राह्मणेन सार्धमष्टचत्वारिंशत्क्रोशपर्यन्ताऽटवीमुल्लङ्घितवान्, ब्रह्मदत्तश्चक्रवर्तिनमाकर्ण्य "काम्पिल्यपुरे त्वयाऽवश्यमागन्तव्यमिति" वचनञ्च यस्मै पुरा दत्तवान् स ब्राह्मणो, ब्रह्मदत्तश्चक्रवर्ती जात इत्याकर्ण्य तद्दत्तवचनञ्च संस्मृत्य तत्राऽऽगतः । ततस्तं मिलित्वा पूर्ववृत्तं निगदितवान् । चक्रवर्तिनाऽपि स समुपलक्षितः। कथितञ्च- हे भट्टराज ! मम सर्वमपि स्मृतिपथमारोहति । अहं तवोपरि तुष्टोऽस्मि । अत इदानीमीप्सितं दानमहं तुभ्यं किं ददामीति ब्रूहि ? तत्राऽवसरे तेनोक्तं - हे राजराजेश्वर! अहं भार्यामापृच्छ्य पुनरिहागत्य यथेष्टं याचिष्ये । राज्ञोक्तं - तथाऽस्तु याहि ।

ततः स गृहमागत्य पत्नीमतिहृष्टो जगाद - अयि प्रिये ! स ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती काम्पिल्यपुरे मिलितः, मयि प्रसन्नो भूत्वा वक्ति-हे भट्ट ! तव यदीप्सितं भवेत्तन्मार्गय तत्ते दास्यामीति । अतोऽहं त्वां प्रष्टुमिहागतोऽस्मि, ततः किं मार्गणीयमिति विचार्य सत्वरं ब्रूहि यस्मिँल्लब्धे यावज्जीवमहं सुखी स्याम् । इति श्रुत्वा मनसि चिन्तयति

समुत्पन्नबुद्धिशालिनी सा-

प्रवर्धमानः पुरुषस्त्रयाणामुपघातकः ।
पूर्वोपार्जितमित्राणां, दाराणामथ वेश्मनां ॥१॥

यद्यसौ चक्रवर्तिन एकदैव प्रचुरं धनं ग्रामादिकं राज्यं वा लप्स्यते, तदाऽसौ धनमदादन्यां काञ्चन रूपलावण्यवतीं युवतीं परिणीय मां हास्यति। ततोऽहं दुःखभागिनी भविष्यामीत्यादि विचार्य, तयैवं भणितो द्विजः - हे नाथ ! मम राज्यं न रोचते, यतस्तस्मिन् बहुशो विपद आपतन्ति । धनादिमार्गणे दिवानिशं चौरादिचिन्ता भविष्यति। मम तु तदेव रोचते येन निर्विघ्नतयाऽऽवयोः पुत्रपौत्राद्यनेककुलपर्यन्तं सुखं स्यात्। एतादृशङ्किमस्ति, यत्त्वं प्रसन्नञ्चक्रवर्तिनं याचिष्यसे; तदाकर्ण्यताम्- हे नाथ ! त्वं याहि चक्रवर्तिनमेवं वद, हे चक्रवर्तिन् ! तव राज्ये ! सर्वे लोकाः प्रतिदिनमनुक्रमेण यथारुचि भोजनं सकृद्दीनारदक्षिणाप्रदानपुरस्सरं मे तवाऽऽदेशाद्ददतु, एतावतैव मे सन्तुष्टिरस्ति। इतोऽन्यत्किमपि सुखदं न वेद्मि।

तदा ब्राह्मणेन तत्र गत्वा यथा पत्न्या कथितं तथैव याचितम्। चक्रवर्तिनोक्तम्- हे ब्राह्मण ! मयि प्रसन्नेऽभीष्टं ददमाने राज्यादिकं त्यक्त्वा तुच्छमिदङ्किं याचसे ?। राज्यं ते दित्सामि, तत्किमिति न गृह्णासि। द्विजो वक्ति- हे पृथ्वीनाथ ! राज्यम्प्रचुरन्धनादिकं वा यदि मे दास्यसि, तदा मे दुःखान्यनेकानि तथा ब्राह्मण्यकर्मावरोधश्च सम्भविष्यति, अत इदं मत्प्रार्थितमेव देहि। चक्रिणा विचारितम् -

जो जत्तिअस्स अत्थस्स, भायणं तस्स तत्तिअं होइ ।
वुट्ठे वि दोणमेहे, न डुंगरे पाणियं ठाइ ॥२॥

ततस्तेन ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना तस्मै ब्राह्मणाय "अस्मद्राज्ये सर्वे लोका अस्मै ब्राह्मणाय प्रतिदिनमेतदिच्छानुसारेण भोजनमेकं दीनारं दक्षिणाञ्च क्रमशः प्रयच्छन्तु" इति राजमुद्रादिनाङ्कितं प्रमाणपत्रं दत्तम्। तत्प्रमाणपत्रं लात्वा स ब्राह्मणः स्वसद्माऽऽगतः।

प्रथमे दिने चक्रवर्तिगृह एवातिस्वादिष्ठं भोजनं भुक्तम्। ततःप्रभृति स प्रत्यहं तथैव भुञ्जान एकैकदीनारदक्षिणाञ्चगृहे। इत्थङ्कुर्वतस्तस्य द्विजस्य (सत्यामिच्छायामपि) चक्रवर्तिगृहे पुनर्भोक्तुं समयो यथा नाऽयासीत्। यतस्तस्य चक्रवर्तिनो द्विनवति-सहस्रोत्तरलक्षपत्नीनामावासादयस्तावन्तः पृथक् पृथगेवाऽऽसन्। पुनस्तस्य महानगराणां द्विसप्ततिसहस्राण्यासन्। एकैकस्मिन् सहस्राणि लक्षाणि च गृहाण्यासन्। एवं ग्राम-कर्बटमण्डपद्रोणादयस्तस्याऽऽसन्, एतेषां मध्ये तस्मै चक्रवर्तिगृहे पुनर्भोजनाऽवसरो यथा दुर्लभो दृश्यते, तथैवाऽमीषां प्राणिनां महता यत्नेन सुकृतशतयोगेनैकदा लब्धमिदं मानुष्यञ्जन्म प्रमादादिवशाद् गतं सत् पुनर्लभ्यं कदाऽपि न भवितुमर्हति। अतः प्रमादादिकं विहाय सर्वैरप्येतदतिदुर्लभं लब्धं मनुष्यत्वं धर्माराधनेन साफल्यमवश्यमेव नेयमिति।



११-अथ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये पाशकस्य-दृष्टान्तः (द्वितीयः)

तथाहि-अस्मिन्नेव भरतक्षेत्रे गोलकदेशे चणकाख्यपुरे चणकाभिधः कश्चिदेको ब्राह्मणो निवसति स्म। तस्य चणेश्वरी नाम्नी भार्याऽऽसीत्। तौ दम्पती जैनधर्मानुरागिणावभूताम्। चणेश्वर्याः कुक्षौ सदन्तः पुत्र उदपद्यत। जातं तथाभूतमालोक्याऽनिष्टशङ्कया सा शिशोर्दन्तमत्रोटयत्।

एकदा तद्गृहे कश्चन साधुराययौ। सा तं साधुं निजसदन्तपुत्रजन्मफलमपृच्छत्। तन्निशम्य साधुना तत्फलमित्याख्यातम्-असौ जातको राज्यं भोक्ष्यति। तच्छ्रुत्वाऽतिहृष्टा माता पृच्छति- हे मुने! मयाऽनिष्टशङ्कयाऽस्य गर्भानुगो दन्तस्त्रोटितः। ततो मुनिरवादीत्- हे सुभगे! दन्तघर्षणादसौ स्वयं राज्यभोक्ता न स्यात्, किन्त्वन्यङ्कश्चन राज्यासने संस्थाप्य राज्यभोगी भविष्यति। तत्फलाऽऽकर्णनेन तौ नितरां जहृषतुः। ततस्ताभ्यां तस्य शिशोश्चाणक्येति नाम चक्रेते।

अथ स शिशुः क्रमेण सकलशास्त्रकलाविज्ञाननिपुणोऽभूत्। महाजैनधर्मानुरागी जातः। ततोऽसौ सुरूपलावण्यादिगुणविशिष्टया कन्यया सह पितृभ्यां परिणायितः।

अथैतस्य चाणक्यस्य भार्या पित्रालयं विवाहोत्सवे समाहूता ययौ। तत्राऽन्याप्यस्या भगिनी समागताऽऽसीत्। तस्याश्च धनादिसमृद्धतया मातापित्रादिकः सर्वोऽपि परिवारो बह्वादरं ददौ। चाणक्यपत्नी तादृशी धनवती श्रीमती नाऽऽसीदतोऽस्याः सत्कृतिस्तथा नाऽकारि पित्रादिभिः।

अथ विवाहोत्सवानन्तरं सा निजालयमागत्य प्रसङ्गवशात्पित्रादिविहिताऽपमानं भर्तारमाख्यत्। तदाकर्ण्य किञ्चिद्विदूनमनाश्चाणक्यश्चिन्तयति-

वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, यदपूज्योऽपि पूज्यते।
गम्यते यदगम्योऽपि, स प्रभावो धनस्य तु ॥१॥
यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥२॥

ततः प्रचुरलक्ष्मीसमर्जनाय विदेशयात्रामकरोत्। स मार्गं व्रजन्नेवं प्रतिज्ञातवान्। यदि प्रचुरधनप्रदानेन निजप्रेयसीमनःसन्तुष्टिं न कुर्यां तर्हि मम जीवितमपि मुधैव। अत्राऽन्तरे कश्चिद् ब्राह्मणो मार्गे मिलितः। तमेवमपृच्छदसौ- भो ब्राह्मण! कुतः समागतोऽसि? तेनोक्तम् - पाटलिपुत्रे नगरे नन्दनामा राजा प्रतिवर्षं मे दक्षिणां दत्ते। तां लातुं तत्राऽहं गतवान्। परन्तु स इदानीमन्तःपुराद् बहिर्नायाति। अतः परावर्तमानो निजगृहं व्रजामि। तन्मुखादित्याकर्ण्य चाणक्यः पाटलिपुत्रपुरमागतः।

ततो राजसदसि समागत्य शून्यं नृपासनमालोक्य तदुपरि समुपाविशत्। तत्रोपविष्टं तमालोक्य कयाचिद्राजदास्या भणितः- हे द्विज! राज-सिंहासनं त्यक्त्वाऽन्यस्मिन्नासने समुपविशेति कथिते तेनोक्तम् - हे दासि! अन्यदासनं दर्शय। दास्या पार्श्वस्थमेकमासनं दर्शितम्। तदुपरि स कमण्डलुं स्थापितवान्। पुनस्तया तृतीयमासनं

दर्शितं, तत्राऽपि तेन पवित्री स्थापिता, ततस्तया चतुर्थमासनं दर्शितं, तत्र दण्डस्तेन स्थापितः । इत्थं तया यद्यदासनं दर्शितं तदखिल-मायत्तीकृतवान् । इत्यालोच्य सञ्जातरोषया दास्या बलादुत्थाप्य निष्काशितः स बहिः । तत्राऽवसरे तेनैवं सा निगदिता-

कोशेन भृत्यैश्च निबद्धमूलं, पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम् ।
उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि, महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः ॥१॥

हे दासि ! मां तदैव ज्ञास्यसि । यदा ते नन्दराजस्येदं राज्यं ग्रहीष्यामीति । दास्योक्तम्- गच्छ गच्छ, सत्वरमितोऽपसर । त्वादृशो रङ्कः प्रत्यहमत्र द्वित्रिरायात्येव । अथ चाणक्योऽपि दास्या तिरस्कृतः साधुभाषितं राज्यमन्त्री भविष्यत्यसाविति स्मृत्वा कस्यचिद्राज्य-कारिलक्षणाङ्कितस्य पुंसः शोधनायाऽग्रे चचाल । नन्दनृपाश्रितमयूर-पालस्य राज्ञो नगरे समागत्य तापसवेषं विधाय भिक्षितुं लग्नः ।

इतश्च मयूरपालराज्ञ्याः पूर्णचन्द्रपिपासालक्षणो दोहदः समुदपद्यत, परन्तु तस्य पूर्तिः केनाऽपि कथमपि नाऽकारि । अतः सा तद्दुःखेनाऽन्वहं कृशतरा जाता । तां तथावस्थामालोक्य राजाऽपृच्छत्- अयि प्रिये ! तव किं भवति ? येनेदृक् काश्यं तव वपुषि दृश्यते । ततः सा निजदोहदं तादृशमगदत् । कथितञ्च- हे स्वामिन्! यद्येष दोहदो मे पूर्णो न भविष्यति, तर्हि मरिष्यामि । अत्र सन्देहं मा कार्षीः । इति श्रुत्वा राज्ञो मनसि महती चिन्तोत्पन्ना ।

तत्राऽवसरे तापसवेषी चाणक्यो भिक्षार्थं राजद्वारमागत्य तस्थौ । तं वीक्ष्य राजा तं प्राणमत् । तेनाऽपि पृष्टः- हे राजन् ! तव कीदृशी चिन्ता जाता, येन विच्छायवदनः प्रतिभासि ?। तदा राजा तत्कारणं

राज्ञ्या दोहदमाख्यात्। तच्छ्रुत्वा तापसेनोक्तम्- राजन्! यद्यसौ न पूर्येत तर्हि जीवद्वयस्य हानिर्भविता। राजा वक्ति - तत्तु स्यादेव, परन्तु यथा दोहदस्य पूर्णतां विधाय जीवद्वयस्य रक्षणं भवेत् तादृगुपायः कोऽप्यस्ति चेद्वद। तदाकर्ण्य तापसो वक्ति- भो राजन्! उपायो वर्तते, परं तथा करणे मे किं दास्यसि? राजा ब्रूते - हे तापस! यत्त्वं प्रार्थयिष्यसि तद्दास्यामि। पुनस्तापसेनोक्तम्- हे राजन्! एनं गर्भस्थं बालकं यदि मे दद्यास्तर्हि तं दोहदं पूरयित्वा जीवद्वयं रक्षामि। राजाऽप्येतदङ्गीकृतवान्। एतच्च तत्रत्यकियत्प्रधानजनसमक्षे तापसो राज्ञा स्वीकारितवान्, ततः सकाशात्प्रमाणपत्रमपि लेखयित्वा स्वयं गृहीतवान्।

अथैष तापसो राज्ञ्या दोहदपूरणाय तृणमयमेकं सद्म निर्मापितवान्, तदुपरि चन्द्रांशुपाति गुप्तं छिद्रं विधाय गृहान्तर्मध्यभागे च रजतस्थालकं क्षीरभृतं विहितवान्। पौर्णमास्या रात्रौ षोडशकला-पूर्णचन्द्रमसः प्रतिबिम्बो यदा कृतच्छिद्रद्वारा तत्र स्थालके पपात। तदा तत्र सुप्तां राज्ञीमुत्थाप्य राजा जगाद- हे प्रिये! तव भाग्ययोगा-त्पूर्णचन्द्र इहागतोऽस्ति, तमधुना यथेष्टं पिब। राज्ञ्यपि दोहदानुसारेण तथा स्थितं सुधांशुं वीक्ष्य पातुं लग्ना, सा च यथा यथा क्षीरम्पपौ, तथा तथा गृहोपरि कृतविवरमावृणोत्। ततः स्थालस्थे क्षीरे निःपीते विवरस्य पिधानेन प्रतिबिम्बितश्चन्द्रोऽप्यदृश्यो जातः। निःशङ्कं मया चन्द्रः पीत इति सा राज्ञी प्रमुदिताऽभूत्। इत्थं बुद्धिचातुर्येण मयूरपालराजपत्न्या ईदृशो दोहदस्तेनाऽपूरि।

ततो दशमे मासे शुभमुहूर्तेऽनेकोच्चगे शुभग्रहे राज्ययोगलग्ने

सा पुत्रमसोष्ट । तस्मिञ्जाते राज्ञा महामहश्चक्रे । ततो द्वादशेऽहनि पिता तस्य दोहदानुसारेण चन्द्रगुप्त इति नाम धृतवान् ।

इतश्च चाणक्यस्तापसवेषी नानादेशम्पर्यटन् स्वर्णादिसिद्धिकरीं विद्यामधिगतवान् । अथाऽन्यदा तस्मिन् मयूरपालराजनगरे पुनरागतवान् सः । तत्र चाऽनेकान् बालकानेकीकृत्य बालक्रीडां कुर्वन् स्वयं राजा भूत्वा कञ्चन प्रधानं कृत्वा कस्मैचिद् ग्रामं ददते, कस्मैचन नगरं ददाति । कयोश्चिद्वादिप्रतिवादिनोर्न्यायं करोति । कञ्चन कोष्ठपालपदे नियुङ्क्ते । इत्थं रममाणञ्चन्द्रगुप्तं वीक्ष्य चमत्कृतश्चाणक्यतापसः कञ्चिदपृच्छत् – भो ! अयं कस्य पुत्रोऽस्ति ? एषः शिशुस्तस्य तापसस्याऽस्ति, येन राज्ञ्याश्चन्द्रपानदोहदः समपूरि । तच्छ्रुत्वा चाणक्यो जहर्ष । तस्मिन्नवसरे तत्रागच्छद्गोवृन्दमालोक्य चाणक्यश्चन्द्रगुप्तमगदत् – महाराज ! त्वमधुनाऽनेकेभ्यो ग्रामनगरादि दत्तवानसि । अहमपि तव शुभेच्छुर्ब्राह्मणोऽस्मि, मह्यमपि किमपि देहि । तच्छ्रुत्वा तस्मै चन्द्रगुप्तस्तद्गोवृन्दं ददौ जगाद च वीरभोग्या वसुन्धरेति । ततस्तं सोऽवक्–हे वीरशिशो! त्वमेहि मया सह, ते राज्यं ददामि । इत्युक्त्वा तं सार्थं नीत्वा स ततोऽग्रे चचाल ।

अथ स चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं बालराजं विधाय स्वर्णसिद्ध्युपार्जितधनेन सैन्यानि च कृत्वा तस्मिन् पाटलिपुत्रे पुरे नन्दराजेन सह योद्धमुपागतः। सोऽपि ससैन्यस्तदभिमुखमाययौ । जाते च मिथो युद्धे नन्दराजस्तत्सैन्यं लीलया क्षणेनैव जिगाय । ततो नष्टे सैन्ये चन्द्रगुप्तबालकेन सह सोऽपि पराजितः कथमपि कान्दिशीकमनाः पलायितः । कियद्दूरं पृष्ठानुगाद्धननाय नन्दराजतो मार्गे कुत्राऽपि

गुप्तस्थले चन्द्रगुप्तं संस्थाप्य स्वयं तापसवेषं विधाय चाणक्यो जीवितं रक्षितवान् ।

पुनस्तद्वेषेण तत्र नगरे भिक्षामिषेण मयि पराजिते नगरे के किं वदन्तीति ज्ञातुमिच्छुः समागत्य पर्यटितुं लग्नः । अथैवं कुर्वन्नेकस्या वृद्धाया गृहाग्रे तस्थौ । तत्रावसरे तद्गृहे द्वित्राः शिशवः खादितुमुपविष्टाः । सा च वृद्धा तेभ्यस्तत्कालकृतमत्युष्णं भोजनं दत्तवती । ते च तन्मध्ये ग्रहीतुं करान्ददुस्तदा सन्तप्तकरास्ते भृशञ्चक्रन्दुः । तत्राऽवसरे तानूचे सा – रे शिशवः ! यूयमपि चाणक्यवन्मूर्खा एव भाथ । तदाकर्ण्य स तामपृच्छत्–हे मातः ! चाणक्यः किमकरोत्, येन तं मूर्खं भणसि । सा कथयति– हे तापस ! स पुराऽत्रागतो राजसिंहासनमाक्रामत्, दास्या कुट्टितो भर्त्सितश्च । पुनरागतो राज्ञा युद्ध्यमानः पराजितो भूत्वा पलायनमकरोत् । यदि पाटलिपुत्र–सीमान्तवर्तिनृपान् वशीकुर्यादादौ तर्हि नैवंविद्यावस्था भवेत् । इत्यविमृश्यकारित्वात्स मूर्खो जातः । एतेऽपि शिशवस्तथाऽऽचेरुः । यद्येते प्रान्ततः शीतं शीतं समादाय भुञ्जीरन् तर्हि करा नैव दग्धा भवेयुः ।

ततश्चाणक्योऽपि तद्वाक्यात्प्रबुद्धः पर्वतनामानं राजानं ससैन्यं सार्थीकृत्य चन्द्रगुप्तेन सह प्रचुरसैन्यसमन्वितः प्रान्तिकग्रामाननेकाञ्जित्वा स्वायत्तीकृतवान् । पश्चात्पाटलिपुत्रे समागत्य तेन सहाऽयुध्यत । तुमुलं रणं कृत्वा तम्पराजितमकरोत् । पश्चाद्दयया नन्दञ्जीवन्तमेव राज्यान्निष्काश्य चन्द्रगुप्तपर्वतराजाभ्यां सह चाणक्यो नगरम्प्राविशत् । तत्राऽवसरे निर्गच्छतो नन्दस्य रथे तत्पुत्रीमतिरूपवतीं तरुणीमालोक्य स चन्द्रगुप्तः स्मरातुरो नितरां मुमोह । ततः साऽपि कन्या तद्रथादवतीर्य

चन्द्रगुप्तरथे समागताऽभूत् ।

ततो महता महेन पुरं प्रविश्य राज्यसिंहासनारूढश्चन्द्रगुप्तः सुखेन राज्यमकरोत् । ततोऽन्तःपुरे काचन विषकन्याऽऽसीत् तान्च पर्वतराजः परिणीतवान् । तस्याः करस्पर्शमात्रेण पर्वतस्य सर्वाङ्गं विषं व्याप्तम् । ततः स व्याकुलो जातः । म्रियमाणं तमालोक्य चाणक्यश्चन्द्रगुप्तोऽवदत् – हे पितः ! मित्रं म्रियेत चिकित्सां कुरु । तेनोक्तम् – वत्स ! मौनमाश्रय, अस्य चिकित्सा नाऽस्ति । यतः–

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं, मर्मज्ञं व्यवसायिनम् ।
अर्धराज्यहरं मित्रं, यो न हन्यात्स हन्यते ॥१॥

ततः पर्वते मृते सति निष्कण्टकं राज्यं तस्य जातम् । ततोऽन्यदा धीमान् स चाणक्यो देवतामाराध्य स्वानुकूलपातुकान् पाशकानग्रहीत् । ततः पौरान् धनवतो जनान् सभायामाहूय रत्नैर्भृतं स्थालं पणीकृत्य स गदितवान् – भो भो लोकाः ! शृणुत । अस्यां द्यूतक्रीडायां यो जेष्यति स इदं रत्नभृतं स्थालं ग्रहीष्यति, पराजितस्तु एकं रत्नं दास्यति, इति तन्निगदितमाकर्ण्य हृष्ट्वा धनाढ्या द्यूतनिपुणा लोकास्तेन सह देवितुं लग्नाः । सोऽपि रत्नभृतस्थालं लोकसमक्षं मध्ये निधाय तैः सहाऽदीव्यत् । देवाऽधिष्ठितास्ते पाशकाः सदैव स्वानुकूला एव पतितुं लग्नाः । इत्थं क्रीडता तेन चाणक्येन कियद्भिरेव दिनैः सर्वेषां गृहस्थानि रत्नानि जग्राह । कोऽपि तस्मिन्देवने तञ्जेतुं न शशाक । सर्वेऽपि हारितरत्नाः शोचितुं लग्नाः । हे भव्याः ! पश्यत, यथा गतानि तानि रत्नानि तेषां पुनरधिगतानि न भवितुमर्हन्ति । कदाचित्ते हारिता जना देवसाहाय्यतया तञ्जित्वा गतानि निजरत्नानि

तच्छकाशात्पुनर्लप्स्यन्ते । परन्त्वेतन्मनुष्यत्वं महता कष्टेनाऽधिगतं यद्यास्यति तर्हि तत्पुनर्नैव मिलिष्यति । अतो धर्मे यतितव्यं सवैर्भव्यजनैः।



१२-मनुष्यत्वदौर्लभ्ये धान्यस्य दृष्टान्तमाह (तृतीयः)-

तथाहि-यथा कश्चिद्राजा भरतक्षेत्रीयचतुर्विंशजातीयानि धान्यानि परस्परमिश्रितानि कृत्वा ततस्तेषामेकराशिं विहितवान् । ततस्तेन राज्ञा काचिदतिवृद्धा कम्पिताऽखिलगात्रा गतशक्तिका दृष्टिहीना एकपदमपि गन्तुमशक्ता सदैव लालयितवक्त्रा जर्जरीभूता स्त्री भणिता - भो ! एतस्माद्राशेः सर्वजातीयधान्यानि पृथक् पृथक् कुरु । एवं प्रोक्ता साऽतिवृद्धा स्त्री तथा कर्तुं नैव शक्नोति । तथा ये प्रमादवशाद्धर्मविमुखा मनुष्यत्वमेतद् गमयन्ति, तेषां पुनरेतत्प्राप्ति-रतिदुष्करेति ज्ञात्वा सर्वैरेव धर्म आराधनीयः।



१३-अथ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये द्यूतस्य दृष्टान्तं दर्शयति (चतुर्थः)-

तथाहि-जितशत्रो राज्ञो बहवः पुत्रा आसन् । ते सर्वे सुखमनुभवन्तः पितुरादेशकारिणो बभूवुः । तस्य राजसभासदन-मतिरमणीयं महत्तरमासीत् । तत्र स्तम्भानामष्टोत्तरशतं नानाचित्रैश्चि-त्रितमासीत् । प्रतिस्तम्भे चाऽष्टोत्तरशतसंख्यावन्तो हंसा व्यराजन्त ।

अथैकदा राज्ञो ज्यायान् पुत्रो दध्यौ- यथा ममाऽपि वार्धक्य-मागतम्, अतिवृद्धोऽप्यसौ मे पिताऽद्यापि जीवति, राज्यं च भुनक्ति ।

जीवत्यस्मिन्नहं राज्यसुखमनुभवितुं नार्हामीति केनाऽपि व्याजेनैनम-मारयिष्यं तर्ह्यहं राज्यमकरिष्यमिति स्थिरीकृत्य स पितरं घातयितुम्प्रयतमानोऽभूत् । एतत्स्वरूपङ्कथमपि ज्ञात्वा राजानं मन्त्री व्यजिज्ञपत् । तद्यथा- हे राजन् ! अतः कमप्युपायं कुरु, येन राजकुमारस्य तवापि च जीवितं तिष्ठेत् ।

ततो राज्ञा सदसि तमाहूय स कथितः - हे पुत्र ! अहं वृद्धो जातोऽस्मि । यथावद्राज्यकार्यमपि कर्तुं न शक्नोमि । अतः परं तथा कर्तुमिच्छाऽपि मम नास्ति । अतस्त्वामिदानीमेव राज्येऽभिषेक्तु-मिच्छामि । परमस्मत्कुले सनातनी किलैषा पद्धतिर्वर्तते तां शृणु । एतद्राजभवनेऽष्टोत्तरशतस्तम्भेष्वेकैकस्मिन् स्तम्भे येऽष्टोत्तरशतहंसा विद्यन्ते, तानैकैकशोऽष्टोत्तरशतवारं द्यूतक्रीडया यो जयति, स राज्यसिंहासनमारोहति । नो चेत्तस्य विघ्नानि जायन्ते । उक्तसंख्याया अपूर्तौ मध्ये पाशकानां विपरीतपाते तु पूर्वजितान्यखिलान्यपि यास्य-न्ति । उक्ता तावती संख्या पुनरादितः पूरणीया भविष्यति, इत्थमेतत्कृत्यं सत्वरं विधाय राज्यमिदं गृहाण ।

परमेवं कृत्वा राज्यप्राप्तिरतिदुष्करा वर्तते । कदाचित्कोऽपि देवसाहाय्ययोगेन तांस्तावद्वारं विजित्य राज्यमाप्नुयादपि, धर्मेष्वनु-पार्जितेषु यो हि महता यत्नेन प्राप्तमिदं मनुष्यत्वं गमयति तस्य जन्म-शतैरपि कोटियत्नैरपि पुनर्लब्धुं तन्नैव भवतीति मत्वा भव्यजीवैर्ध-र्मोपार्जनमवश्यमेव कर्तव्यम् । प्रमादो हि तत्र मनागपि न विधातव्यः ।



१४-अथ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये रत्नस्य दृष्टान्तमाह (पञ्चमः)-

यथा-तत्र वसन्तपुरनगरे धनाढ्यो धनाऽभिधो व्यवहारी निवसति स्म। तस्य पञ्च पुत्रा आसन्। रत्नपरीक्षणशास्त्रे च तस्य धनश्रेष्ठिनो महान् परिश्रम आसीत्। अतस्तत्परीक्षाकरणे-ऽसावद्वितीयोऽभूत्। धनाऽऽधिक्यादसौ महार्हाणि रत्नान्यनेकानि क्रीत्वा गृहे रक्षितवान्। अत एनं सर्वे लोका *रत्नसार* इति कथयन्ति स्म। यानि यानि दिव्यानि रत्नानि यस्य कस्यचित्पार्श्वे सोऽपश्यत्तानि सर्वाण्यक्रीणात्। तदर्थमस्योपरि स्त्रीपुत्रा भृशं कुप्यन्ति स्म, तथाऽपि सुरत्नक्रयणात्स नैव विरराम। तानि रत्नानि लोहमय्यां पेटिकायां निक्षिप्य साऽपि पेटिका कोशालये सुरक्षिताऽकारि। तत्रैव स सदा सुष्वाप। कस्याऽपि तस्य विश्वासो नाऽऽसीत्। तत्रालये पुत्रादीनामपि गमनाऽऽगमने न भवतः। कदाऽपि तदालयं स नाऽमुञ्चत्।

अथैकदाऽत्यावश्यककार्यवशादन्यत्र गतवन्तं तं ज्ञात्वा तत्सुतास्तानि सर्वाणि सुरत्नानि विचिक्रियुः। तानि लात्वा तेऽपि वैदेशिका नानादिशासु गतवन्तः। गृहागतः स तत्रालये कपाटोद्घाटन-मालोक्य खिद्यन् भार्यामपृच्छत् - भो भार्ये! रत्नानि कथं न दृश्यन्ते? तयोक्तम्- पुत्रैस्तानि वैदेशिकानां हस्ते विक्रीतानि। तदाकर्ण्य स भृशं पश्चात्तापमकरोत्। तेन किं स्यात्। नानादिक्षु गतानि तानि रत्नान्यस्य पुनरधिगताणि दुष्कराणि सन्ति। कदाचिद् दैवयोगेन देवसहाय्यादिना तानि रत्नान्यपि तेन पुनरधिगन्तुं शक्यन्ते, परं धर्मं विना यस्याऽ-तिदुर्लब्धमिदं मनुष्यत्वं गच्छति तेन पश्चात्तापं शतशः कुर्वता यतमानेनाऽपि

तत्पुनर्लब्धुं नैव शक्यते । अतो धर्मे समुद्यतितव्यं भव्यैः सदैव ।

१५-अथ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये स्वप्नस्य दृष्टान्तो दर्श्यते (षष्ठः)-

तथाहि- पाटलिपुरात्कलाकुशलो मूलदेवो राजपुत्रो द्यूतव्यसनात्पित्रा पराभूतो निर्गतो गुटिकाकृतवामनरूपोऽस्यामवन्ति पुर्यां निवसति स्म । स च द्विसप्ततिकलाविज्ञानवानस्ति । तथा सकलजनचित्ताह्लादनकरोऽस्ति । तत्रैव नगरे देवदत्ताऽभिधाना गणिका रूपलावण्यतारुण्याऽऽदिगुणयोगादद्वितीया वर्तते । तस्यां स कुमारो रागीभूय दिवाऽनिशं तदन्तिक एव तिष्ठति । क्षणमपि सुधारसभृत्कुम्पिकां स्वादिष्ठमिव तां कुशीलामपि न जहाति । यतः-

या विचित्रविटकोटिनिघृष्टा,
मद्यमांसनिरतातिनिकृष्टा ।
कोमला वचसि चेतसि दुष्टा,
तां भजन्ति गणिकां न विशिष्टाः ॥१॥

अथैकदा तस्या गृहे कश्चिदचलाऽभिधो व्यवहारी समागत्य कुमारं तत्राऽऽसीनमपश्यत् । तत्राऽवसरे द्वयोरपि व्यवहारिकुमारयोर्मिथो वादप्रतिवादो जज्ञे । तदनु स मूलदेवो द्यूतव्यसनीबभूव । तेन तन्मात्राङ्कया स मूलदेवो निष्कासितः। ततो भिक्षुवेषं विधाय स देशान्तरमचलत् । ग्रामानुग्रामं पर्यटन् स दिनत्रयानन्तरं कस्यचित्तटाकोपकण्ठमेकं संन्यासिनो मठमपश्यत् । तत्रैव गत्वा रात्रौ शिष्ये।

तत्राऽर्धनिद्रितः स रात्रिशेषे षोडशकलापूर्णं चन्द्रम्पीतवानिति

स्वप्नं दृष्टवान्, पश्चाज्जागृतः स तादृशस्वप्नेन मनसा जहर्ष। तत्रैव तत्पार्श्वे सुप्तः कश्चन तन्मठपतिशिष्योऽपि तदा तादृशमेव स्वप्नमपश्यत्। प्रभाते च शिष्यस्तत्स्वप्नफलं गुरुमपृच्छत्। गुरुणोक्तम्- ईदृशस्वप्नदर्शनादद्य ते गोधूमस्थूलरोटिका घृताक्ता सगुडा मिलिष्यति। तदाकर्ण्य मूलदेवो दध्यौ, मम तु विशिष्टमेव तत्फलं किमपि भविष्यति।

तत उत्थाय स शिष्यो भिक्षायै नगरान्तः प्राविशत्। तत्र च कस्याश्चित् स्त्रिया मृतवत्सायाः सन्ततिजीवातवे कश्चिद्भिक्षुको मान्त्रिकोऽवदत्- हे मृतवत्से! त्वमेतदर्धं गोधूमचूर्णकृतां करपट्टिकां निर्माय ताञ्च घृताभ्यक्तां विधाय तां सगुडां भिक्षवे देहि, ततस्ते सन्ततिर्जीविष्यति। तद्दिने सा मृतवत्सादोषापनोदनकृते तथा कृतवती, पुनः कस्यचिद्भिक्षोरागमनं प्रतीक्षमाणाऽऽसीत्। दैवयोगात्स शिष्यस्तद्गृहं गतवान्। तदा सा तस्मै तां घृतपूर्णां गोधूमस्थूलकरपट्टिकां सगुडां ददौ। तद्दिने यथा कथितं गुरुणा तथैव तेनापि लब्धमतो हृष्टो गुरोर्माहात्म्यं लोके जल्पन् गुर्वान्तिकमागात्।

इतश्च सोऽपि मूलदेवस्तन्मठान्निर्गत्य कस्यचन मालाकारस्य वाटिकामागत्य तत्र प्रसाद्य तत्प्रदत्तफलपुष्पादिकमादाय नैमित्तिकालयमासाद्य तैश्च फलपुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य निजस्वप्नफलमप्राक्षीत्। नैमित्तिको वक्ति- हे भाग्यशालिन्! अद्यतनाद्दिवसात्सप्तमेऽहनि तव राज्यं मिलिष्यति, तत्राऽसंशयं विद्धि। एतत्स्वप्नस्यैतदेव फलं भावीति तथ्यं वच्मि। तदाकर्ण्य स जहर्ष।

ततो दिनत्रयादभुक्तस्य तस्य बुभुक्षा जाता। तेन स ग्राममध्ये

भिक्षार्थं प्रविष्टः । केनचिच्छ्रद्धावता तस्मै योग्यम्प्रचुरम्भोज्यं दत्तम् । तदादाय तटाकोपरि स्नानादिकं विधाय यावद्भोक्तुमैच्छत् तावत्तत्र तद्भाग्ययोगान्मासक्षपणः कश्चिन्मुनिः पारणायै समायातः । ततो महता हर्षेण स तस्मै तत्प्रासुकं भोज्यं ददौ । गते च तस्मिन् स्वं सत्पात्रदानेन धन्यममन्यत । पश्चात्स्वयमपि तदभुङ्क्त । तत्राऽवसरे वनदेवता प्रत्यक्षीभूय तमवोचत - हे भव्य ! त्वयाऽद्य साधवे दानं दत्तम्, अनुमोदितञ्च, अतस्तुष्टाऽहं ते वरं दातुमिहागताऽस्मि । अत ईप्सितङ्किमपि याचस्व, यत्ते ददामि, तेनोक्तम्- हे देवते ! यदि तुष्टा किमपि मे दातुमीहसे तर्हि राज्यादिकं देहि । तदेवं-

धन्नाणं खु नराणं, कुम्मासा हुंति साहुपारणए ।
गणिअं च देवदत्तं, रज्जं च सहस्सं च हत्थीणं ॥१॥

तयोक्तम्- हे भद्र ! मया तत्ते दत्तम् । इत्युक्त्वा साऽदृष्टाऽभूत ।

इतश्च सप्तमे दिवसे संजाते तत्रत्यराज्ञोऽपुत्रस्य मरणे प्रधानैर्विहितानि पञ्चदिव्यानि गज-तुरग-छत्र-चामर-कलश-लक्षणानि सञ्जातगीतनृत्यादिमहोत्सवपुरःसराणि सकलं पुरं भ्रान्त्वा यत्र मूलदेवः सुप्त आसीत्तत्रागत्य गजराजस्तत्कण्ठे मालां न्यधात् । अश्वेन हेषितम्, छत्रं तदुपरि धारितम्, चामरो वीजितः, कलशस्तमभिषिक्तवान् । ततः सर्वे लोका जयजयशब्दं कुर्वन्तस्तं गजारूढं कृत्वा राजमन्दिर-मानीय राज्यसिंहासने स्थापयामासुः ।

अथ मूलदेवो राजा तं शिष्यमाकार्य पप्रच्छ - किं भोः ! तदेव स्वप्नं दृष्ट्वा मया राज्यं लब्धम् । त्वया पुनः कथं रोटिकामात्र-म्प्राप्तम् ?। शिष्येणोक्तम्- राजन् ! स्वप्नैक्ये फलभेदः कथमभूदाव-

योरित्यहं नो वेद्मि । स वक्ति- साधो ! *स्वप्नैक्ये सत्यपि गुरुभेदात्फलभिन्नताऽभूत् । यतो हि लोको गुर्वनुसारि ज्ञान-मधिगच्छति, फलञ्च भक्त्यनुसारि लभते ।*

इति मूलदेवराज्ञो वाक्यमाकर्ण्य तत्स्वप्नं पुनर्लब्धुकामेन स संन्यासिशिष्योऽनेकवारं तत्रैव सुष्वाप । पुनर्यदि मे तादृशः स्वप्नो भविष्यति तदा तत्फलं तमेव निमित्तज्ञं पृष्ट्वाहमपि राज्यं लप्स्य इति धिया, परन्तु तत्स्वप्नस्तस्य बहुधा यतमानस्याऽपि पुनर्नैवाऽभूत् । सर्वथा दुष्प्रापोऽपि तादृशः स्वप्नो देवताद्यनुकम्पनवशाल्लोके प्राप्तुं शक्यते, किन्तु यदिदं मानुष्यं महता पुण्यनिचयेनाऽधिगतं भूत्वा मुधा गच्छति तत्पुनः सहस्रशो यत्ने कृतेऽपि पुनर्लब्धं न भवितुमर्हतीति विचिन्त्य भव्यैर्जनैर्धर्मे प्रमादं विहाय सदैव यतितव्यमिति ।



१६-मनुष्यत्वदौर्लभ्ये चक्रस्य दृष्टान्तं दर्शयति (सप्तमः)-

तथाहि-इन्द्रपुरे नगरे इन्द्रदत्ताभिधानो राजा वर्तते, तस्य द्वाविंशतिपुत्रा सन्ति । अथैकदा बहिर्गच्छन् राजा प्रधानपुत्रीमति-रूपवतीं तरुणीमालोक्य तस्यामासक्तोऽभवत् । पश्चान्निजमन्त्रि-णमाकार्य तत्पुत्रीं ययाचे । ततो मन्त्री राज्ञे पुत्रीमदात् । राजा च ताम्परिणीय दुर्दैवयोगात्तत्कालमेव तामत्यजत् । तेन सा दैवं निन्दन्ती स्वशीलं रक्षन्ती पित्रालय एव तस्थौ ।

पुनरेकदा तेनैव पथा निर्गच्छद्राजा ताम्परित्यक्तां ऋतुस्नाता-मट्टालिकायां गवाक्षसन्निधावुपविष्टां निजपत्नीमपश्यत् । तत्राऽवसरे

राज्ञा पृष्टः कश्चिदेवमवदत् – हे महाराज ! इयं मन्त्रिपुत्र्यस्ति, यां परिणीय भवान् तत्याज। तच्छ्रुत्वा सर्वं स्मृत्वा तद्रात्रौ तस्या अन्तिके स्थित्वा तां कामं सुखयामास । तदैव भाग्ययोगेन कश्चित्पुण्य-वाञ्जीवस्तस्या गर्भेऽवततार । जाते च प्रभाते राजा तामापृच्छ्य निजालयमागात् । साऽपि सर्वं नैशिकं नृपागमनादिवृत्तं मातरम-वदत् । तन्माता च तत्स्वरूपं मन्त्रिणमवोचत । तदाकर्ण्य हृष्टः स मासतिथिवारादिकं सर्वं लिखित्वा तत्पत्रं सुरक्षितवान् ।

अथ दशमे मासे सा शुभे लग्ने गुर्वादिग्रहगणे तुङ्गताङ्गते पुत्रम्प्रासोष्ट। तस्य नाम सुरेन्द्रदत्त इति पप्रथे। स शिशुश्चन्द्रांशुरिव समेधाञ्चक्रे । यदा सोऽष्टवर्षीयाञ्जातस्तदा कलाचार्यान्तिके पठितुं लग्नः। असौ च गुरोः पार्श्वे विनयेन तदुक्तं सर्वमपि पपाठ। तस्यैव कलाचार्यस्य निकटे तदन्येऽपि द्वाविंशतिराजपुत्रा राज्ञा प्रेषिता आगच्छन्ति, परं ते समुद्धता मन्दधियो निर्भीकाः किमपि न पेठुः। यदा कलाचार्यस्तान् निर्भर्त्सयति शिक्षते किमपि वा तदा तेऽपि तं राजपुत्रत्वान्नेत्रकोणं दर्शयन्ति । गुरुशिक्षाः का अपि न मन्यन्ते । *सदैवाविनयेनैव वर्तन्ते । तदा गुरुरपि तानयोग्यान् मत्वा तेषु मन्दादरो बभूव ।* सुरेन्द्रदत्तस्तु बुद्धितैक्ष्ण्याद् भवितव्ययोगाच्च सम्पूर्णकलासु सकलासु विद्यासु चाऽद्वितीयो विचक्षणो जातः । राधावेधनकलायान्तु स महानिपुणः कृतस्तेन गुरुणा। ततः प्रधानस्तस्मै कलाचार्याय सत्कारसम्मानादरपूर्वकं प्रचुरधनादिकं ददौ ।

इतश्च मथुरानगर्यां जितशत्रो राज्ञश्चतुष्षष्टिकलाप्रवीणा भर्तृसेना क्वचिन्निवृत्तीत्यपराभिधाना कन्या वर्तते । ताञ्चैकदा माता षोडश-

शृङ्गारसज्जितां विधाय कौशेयाऽतिसूक्ष्मशाटिकां परिधाप्य सदसि पितुः पार्श्वमप्रैषीत् । तामागतां वरयोग्यां पुत्रीं ज्ञात्वा राजा तामपृच्छत् – हे वत्से ! त्वं मदिच्छया स्वेच्छया वा वरिष्यसीति ब्रूहि ?। इति राज्ञः प्रश्नमाकर्ण्य जगाद–हे तात! यो राधावेधं साधयिष्यति तमेव वरिष्यामि । इति पुत्रीवाक्यं निशम्य राजा प्रधानादिपरिवारैः सह तामात्मपुत्रीं शुभदिवसे तदर्थमिन्द्रपुरनगरे प्रेषयामास ।

तामागतामाकर्ण्येन्द्रदत्तो राजा तस्यै निवासाय सप्तभूमिकं रमणीयं भवनं दत्तवान् । अन्यदपि यथोचितं स्वागतं व्यधात् । अथ राजकुमार्या सहाऽऽगतेन मन्त्रिणा तत्रत्यराजानं प्रत्युक्तम् – हे राजन् ! तव बहवः शुभाः कुमारा गुणवन्तः श्रूयन्ते । अतः कन्यैषा स्वयंवराऽत्र मम राज्ञा प्रेषिता । अस्याश्चेदृशः पणो विद्यते । यथा–यो हि राधावेधङ्करिष्यति, तमहं वरिष्यामीति । अतः सत्वरमेतत्सम्पाद्य निजपुत्रेणाऽस्याः पाणिपीडनं कारय ।

तत इन्द्रदत्तो राजा निजपुरे सर्वत्र तन्महोत्सवं व्यधत्त । अत्युत्तमं स्वयंवरमण्डपं नानाचित्राद्यलङ्कृतं रचयामास । मध्ये च राधावेधाय महानेकः स्तम्भः स्थापितः । तस्य मूर्ध्नि स्थापितानि चत्वारि चक्राणि प्रगुणानि तावन्ति चैव विपरीतानि भ्रमन्ति । तेषां मध्यगा राधा नाम्नी पुत्तलिका कृता । तस्या वामनेत्रं काणमकरोत् । स्तम्भोपरि तान्यष्टचक्राणि तथाऽतिष्ठिपत् । यथा तेषां मध्यगो भूत्वैव बाणो राधाचक्रं विध्येत् । अधश्च तदभिमुखं सन्तप्ततैलभृतं लोहकटाहममुञ्चत् । तस्मिन् दृष्ट्वैव धनुर्धरेण लक्ष्यं भेद्यम् ।

इतश्च दिव्याम्बरा महार्हरत्नाभरणाऽलङ्कृता सा राजकुमारी

पञ्चवर्णसुरभिकुसुममालां निजपाणिपल्लवे दधाना वयस्याभिः सह तत्र स्वयंवरमण्डपे समागत्य तस्थौ। सर्वे च राजपुत्राः पौरजनैः सह धृतोज्ज्वलवसनाऽऽभरणास्तत्रागताः स्वस्वयोग्यमासनमलञ्चक्रुः। इन्द्रदत्तराजाऽपि प्रधानादिनिजमण्डल्या सह तत्राजगाम।

तत एकैकशः कुमारा धनुर्बाणधरा राधाचक्रं वेद्धुं लग्नाः, परन्तु कियन्तस्ते चक्रद्वयं विव्यधुः, कियन्त एकमेव, अन्ये चक्रत्रयम्, कश्चिच्चत्वारि, केचन पञ्चचक्राणि, कश्चन षट्चक्राणि च विव्याध। इत्थं तेषामेकोऽपि कुमार एकदैवैकेनैव बाणेन तच्चक्राष्टकमाविध्य मध्यस्थां राधां वेद्धुं यदा न शशाक, सर्वे च कृतप्रयत्नास्ते द्वार्विंशति-राजपुत्रा विच्छायवदना हताशा अभूवन्। तदा राज्ञो महती चिन्ता जाता। यथा-

अहो! ममैतेषां पुत्राणां शौर्यादिगुणगणमाकर्ण्य स्वयंवरेयं राजकुमारी मम सभामागताऽस्ति। तस्याश्च पणः केनाऽपि मत्पुत्रेण नाऽपूरि। सेयमितो यदि परावर्त्स्यति, तर्हि जगति ममाऽपकीर्तिर्महती भविष्यति। इत्थं शोचन्तं विच्छायवदनं राजानं मन्त्री जगाद - हे प्रभो! मा शोचीः पुनस्तवैकः सुपुत्रो वर्तते। सोऽवश्यमेतत्साध-यिष्यति। राज्ञोक्तम्-कोऽस्ति सः? तत्राऽवसरे प्रधानेन तत्पत्र-म्प्रदर्शितङ्कथितञ्च पूर्वजातं विवाहादितत्पुत्रजन्मपर्यन्तमखिलं वृत्तम्। पत्रदर्शनेन तत्सर्वं मनसि स्मृत्वा तेनोक्तम्-समानयतु तमत्र।

तदा नृपादेशेन तत्रागतः सुरेन्द्रदत्तो यथाविधि पितरम्प्रणम्य तत्साधने प्रावर्तत। कलाकुशलः स तदानीं धनुषि बाणं संयोज्योपरि-कृतहस्तस्तैलभृतकटाहमध्ये वीक्षमाणो भ्राम्यच्चक्रप्रतिबिम्बमभि-

लक्ष्य तदैवैकेनैव बाणेन सर्वाणि चक्राणि विध्यन् राधापुत्रलिकाया वामाक्षि विव्याध । तदा सर्वे लोका मुदमावहन्तस्तं तुष्टुवुः । सा च राजपुत्री तस्याऽधिकण्ठं वरमालां न्यधत्त । सर्वे लोका मुदा तदा जयजयारावं वितेनुः ।

ततः पाणिग्रहणे कृते तया सह भोगं भुञ्जानः सुरेन्द्रदत्तः पितृदत्तं राज्यमाप । ते च द्वाविंशतिराजकुमाराः शैशवे विनयादि-गुणविहीना विद्यां न पेठुः कलाश्च न शिशिक्षिरेऽतो राज्यमलभमानाः पश्चात्तापमेव चक्रुः । कदाचित्तादृशैरपि तैर्दैवबलेन तदपि साध्येत, परन्तु यः प्रमादादिवशगो भूत्वाऽतिदुरापमिदं मानुष्यङ्गमयति तस्य पुनस्तल्लाभो दुर्लभ एवेति ज्ञात्वा सर्वैरपि ज्ञानं लब्ध्वा धर्मे प्रयतितव्यमिति ।



१७-अथ मनुष्यत्वदौर्लभ्ये कूर्मस्य दृष्टान्तं दर्शयति (अष्टमः)-

तथाहि-कस्मिंश्चिल्लक्षयोजनप्रमाणे ह्रदे महानेकः कूर्म आसीत् । स चैकदा देवयोगात्समीरणेन जम्बालजालाऽवरोधे दूरीकृतेऽदृष्ट-पूर्वञ्चन्द्रमण्डलमालोक्य कुतूहलाक्रान्तमानसो निजपरिवारान् तद्दर्शनाय समाह्वातुमन्यत्रागच्छत् । कियत्समयानन्तरं तैः सहागतः स कूर्मस्तत्र पुनर्जम्बालजालाऽवरुद्धे सति बहुधा यतमानोऽपि तन्नैवाऽपश्यत् । तथैव धर्मं विना मनुष्यत्वमिदं यस्य याति तस्य पुनस्तदधिगतं नैव भवति । अत एतत्सर्वैर्धर्मोपार्जनेनैव सार्थक्यं नेयम् ।



१८-अथ मानुष्यदौर्लभ्ये युगस्य दृष्टान्तमाह (नवमः)-

तथाहि- तस्मिंस्तिर्यग्लोके लवणादय उत्तरोत्तरद्विगुणिता असंख्याता द्वीपसमुद्राः सन्ति। तेष्वन्तिमः स्वयम्भूरमणाख्याऽर्धराज-प्रमाणसमुद्रोऽस्ति । तावद्देशावस्थितस्य तस्य पूर्वदिक्प्रान्ते युगं स्थापयित्वा तच्छिद्रे यदि कश्चित्स्वयम्भूरमणस्य पश्चिमदिग्भागस्थितः कीलकं क्षिपे, तदा तत्कीलकं यथा तत्प्राग्दिगवस्थितयुगच्छिद्रे प्रवेष्टुं न शक्नोति, तथैव धर्मं विना वृथा गतमेतन्मनुष्यत्वं पुनः प्राप्तुं कोऽपि न शक्नोति । अतः सर्वैर्धर्म आराधनीयः क्षणमात्रमपि तत्र प्रमादो नैवाऽऽनेतव्यः ।



१९-अथ मनुष्यजन्मदौर्लभ्ये परमाणोः दृष्टान्तमाह (दशमः)-

तथाहि- यदि कश्चित्पराक्रमी देवो महाशैलस्तम्ममञ्जनव-त्पिष्ट्वा तच्चूर्णं कुत्रचित्पात्रे संमील्य पुनस्तन्मेरुशिखरमारुह्य निक्षिपेत्, तदनु दशदिक्षु विकीर्णानां तेषाम्परमाणूनां पुनरेकत्रीकरणं यथा न सम्भवति, तथा धर्मं विना वृथा यातमेतन्मनुष्यत्वं पुनः प्राप्तुं सर्वथाऽसम्भवीति मत्वा धर्म आराधनीयः।



३-अथ सज्जनविषये-

सदय मन सदाई दुःखियां जे सहाई,
परहित मति दाई जास वाणी मिठाई ।

गुण करि गहराई मेरु ज्युं धीरताई,
सुजन जन सदाई तेह आनन्द दाई ॥१३॥

इह खलु येषां मनसि सदैव दुःखिनः प्राणिनो दर्शनाद्दयोत्पद्यते। ये च जगज्जीवे बन्धुतां वहन्ति। परहितरतचेतसो विलसन्ति। येषां वचनं मिष्टतरं तथ्यं लोकद्वयपथ्यमस्ति। निवसन्ति च येषु सर्वे सद्गुणाः। एतादृशा धीराः सज्जनाः सदैव सकलञ्जगतं सुखयन्ति ॥१३॥

जइ दुरजन लोके दूहव्या दोष देई,
मन मलिन न थाए सज्जना तेह तेई ।
द्रुपद-जनक पुत्री अंजना कष्टभोगे,
कनक जिम कसोटी ते तिसी शीलयोगे ॥१४॥

पुनस्तानेव वर्णयति-जगति दुर्जनैरतिदूषिता अपि मनागपि न खिद्यन्ते। न वा तेभ्यः किमपि ते द्रुह्यन्ति। केवलं द्रौपदीसीताऽञ्जनादिवत् सर्वमपि खलकृतं कष्टं सहमानाः सत्पुरुषा निकषोपलघृष्टाकनकानि इवाऽतितरां भान्ति शीलयोगात् ॥१४॥

२०-अथ सज्जनतोपरि द्रौपद्याः प्रबन्धः-

तथाहि- तत्र हस्तिनापुरे पाण्डो राज्ञो युधिष्ठिरभीमाऽर्जुनन-कुलसहदेवाः पञ्च पुत्रा आसन्। पञ्चानामपि द्रौपद्येका भार्याऽऽसीत्। तेषु युधिष्ठिरो राज्यभागभूत्। पाण्डोर्ज्यायान् भ्राता धृतराष्ट्र आसीत्। तस्य दुर्योधनप्रमुखाः शतपुत्रा आसन्। तेषु दुर्योधनो महाकपटकारी क्रूरकर्माऽभूत्। अमी च कौरवनाम्ना प्रथन्ते। ते पञ्च भ्रातरः पाण्डवा इत्युच्यन्ते।

अथैकदा दुर्योधनो दुर्धिया सरलमतिकं युधिष्ठिरं द्यूतक्रीडां कर्तुं विज्ञप्तवान् । निर्मलात्मा धर्मराजोऽपि तद्वचः स्वीचक्रे । ततः सभायां तौ युधिष्ठिरदुर्योधनौ रन्तुं प्रववृताते । खलीयान् दुर्योधनः प्रथममेव कपटेन स्वानुकूलेऽक्षे पतिते तञ्जित्वा तदीयम्प्राज्यं राज्यमग्रहीष्ट । राज्ये हारिते पुनर्दीव्यतस्तस्य वसनाऽऽभरणादीनि पणीकृतानि कपटलीलयाऽऽत्मानुकूलमक्षान् निपात्य सोऽप्यऽग्रहीत् । इत्थम्भवितव्ययोगात्पाण्डुसूनुर्द्रौपदीमतिप्रेयसीमपि हारितवान् । ततः पञ्चाऽपि बन्धूंस्तान् राज्यं त्यक्त्वा वने निवसितुमादिष्टवान् दुर्योधनः।

अथ तेऽपि तदैव वनाय प्रतस्थिरे । तत्राऽवसरे द्रौपद्यपि तैः सह चचाल । तस्मिन् समये दुर्धीर्दुर्योधनो दुःशासनमुवाच–भो भ्रातः ! इयमपि द्रौपदी पाण्डवाज्जिता ममैवाऽभूदत एनां यान्तीमवरोधय । तदादिष्टः स तत्पार्श्वमागत्य तामेवमवादीत् – अयि द्रौपदि ! त्वमस्माभिर्जिताऽसि पाण्डवानुगामिनी कथं बुभूषसि ? निवर्तस्व, अस्माकम्प्रेयसीभूय सुखं भुङ्क्ष्व, इत्युदीर्य कचग्राहं तां दुर्योधनान्तिकमानीतवान् । तत्र स्थितां तां दुर्योधन ऊचे – हे सुन्दरि ! तत्र किन्तिष्ठसि ? मम वामाङ्काधिरोहिणी भव । वज्रायितं तदाकर्ण्य दिङ्मूढा सा तत्रैव मौनमाश्रित्य तस्थौ । अत्राऽवसरे दुःशासन उत्थाय तस्याश्चीरमाचकर्ष, परं महासतीशीलमाहात्म्यात्तत्क्षणं तदङ्गानि शासनदेवता वस्त्रेण समावृणोत् । आकृष्टेऽपि दुःशासनेन तद्वस्त्रे लोकैरनावृतं तदङ्गम्नाऽलोकि । इत्थं सहस्रशो दुःशासनस्तद्वसनमाकृष्टवान् । देवता च नवनवैर्वसनैः समावृणोत् । किमधिकं ब्रुवे, यावन्ति वसनानि तेनाऽऽकृष्टानि तावन्ति शासनदेव्या तस्यै

प्रदत्तानि। इत्याश्चर्यकरीं चमत्कृतिं पश्यन्तः सर्वे सभ्यास्तां प्रशंसन्तो राजानमनुनीय मोचयामासुः। ततस्तन्मुक्ता समागत्य पाण्डवैः सह सङ्गताऽभवत्। सती - द्रौपदीशीलप्रभावादेव पाण्डवानामियती महती यशःकीर्तिर्लोके विस्तृता। अहो! स्वाङ्गाद्वस्त्राऽऽकर्षणादिदुःसहमाना सा द्रौपदी मनागपि सज्जनतां न जहौ। मनसि मालिन्यमानीय तस्मै दुर्योधनाय नो चुकोप। एनां कथामाकर्णयद्भिरन्यैरप्येवमेव कर्तव्यम्।



२१-पुनरपि सज्जनतोपरि अञ्जनायाः प्रबन्धः-

इह हि भरतक्षेत्रे सागरसमीपे दन्तिपर्वतोपरि महेन्द्राऽभिधाननगरमस्ति। तत्र माहेन्द्रनामा विद्याधरो राजाऽस्ति। तस्य सुन्दरीनाम्नी पत्न्यस्ति। तस्याः कुक्षेश्शतपुत्राणामुपरि पुत्र्येकाञ्जनासुन्दरी समुत्पेदे। तामुद्वाह्यामालोक्य तत्पित्राऽनेकेषां विद्याधरराजकुमाराणां चित्राणि समानीय तस्यै दर्शितानि। तत्र हिरणाभविद्याधरराजस्य सुमतिकुक्ष्युद्भूतविद्युत्प्रभकुमारस्तथा वैताढ्यपर्वतीयाऽऽदित्यनगरीयविद्याधरराजप्रह्लादस्य केतुमतीकुक्षिजातः पवनञ्जयकुमारस्तस्या अनुरूप आसीत्। एतौ विद्यावन्तौ गुणवरौ रूपलावण्यधनसम्पन्नौ स्तः।

तदा राजा मन्त्रिणमपृच्छत्-भो मन्त्रिन्! अनयोर्मध्ये कतरस्मै कन्या देया?। मन्त्री वक्ति- हे राजन्! विद्युत्प्रभस्त्वष्टादशवर्षाणि जीवितो भूत्वा मोक्षं यास्यति। इति नैमित्तिकोक्तं श्रूयते। अतो दीर्घायुषे पवनञ्जयकुमाराय कन्यां देहि। इत्याकर्ण्य साऽञ्जना

चिन्तयति – वयः स्वल्पमपि पथ्यं भवति, तक्रं च प्रचुरमपि क्षीरतुल्यं यथा न भवति, तथा स्वल्पजीविनाऽपि चरमशरीरिणा विद्युत्प्रभेण संयोगः श्रेयानस्ति। परमीदृशं भाग्यं मम नास्ति। येन तत्समागमो जायेत। पवनञ्जयो दीर्घायुर्भूत्वाऽपि यदि कुसङ्गतिकारी भवेत्तर्हि महादुःखिनी स्यामित्यादि विचिन्तयन्ती किञ्चिद्विच्छायवदनाऽऽसीत् साऽञ्जना।

इतश्च माहेन्द्रो राजा पवनञ्जयकुमारेण सह तस्या विवाहं निश्चितवान्। प्रह्लादराजोऽपि कन्याया रूपगुणादिकमाकर्ण्य स्वपुत्रस्य योग्याऽञ्जनासुन्दरीति मनस्यवधारितवान्। पुनः स्वपुत्राय तामञ्जना-सुन्दरीं ययाचे। तत उभाभ्यां प्रधानादिजनम्प्रेष्य दिनावधारणञ्चक्रे। तत्राऽन्तरे पवनञ्जयः प्रहसितनामानं निजमित्रमेवमाख्यत्–भो मित्र! मम परिणयनमञ्जनासुन्दर्या सह निर्धारितवान् पिता। सा कीदृशी वर्तते? त्वया सा दृष्टास्ति। सोऽवक्–भो मित्र! सा त्वप्सरसोऽप्यधिका वर्तते रूपलावण्यादिगुणैः। तस्याः सौन्दर्यसम्पत्तिङ्गुणांश्च कवयोऽपि यथावद्वर्णयितुं नैव क्षमन्ते। इत्थं तत्प्रशंसां वयस्यमुखादाकलय्य सोऽवादीत्– भो वयस्य! उद्वाहदिवसो दूरे वर्तते। तावदेव तां वीक्षितुमुत्सुकं मम मनो भृशं वर्तते। केनाऽप्युपायेन तत्साधय।

ततस्तेन सह पवनञ्जयो निश्यञ्जनासुन्दरीनिवासमन्दिरमेत्य गवाक्षजालेन तां वीक्षमाणौ तस्थतुस्तावलक्षितौ। तत्राऽवसरे काचिद्वसन्ततिलका नाम्नी दासी तामेवमुवाच– अयि स्वामिनि! तव पवनञ्जयः पतिः स्यादिति धन्याऽसि। पुनर्मिश्रकेशी सखी तामूचे – अरे! चरमशरीरमपि विद्युत्प्रभं कुमारं विहायाऽन्यं वरं किं वर्णयसि?

त्वङ्किमपि न जानासि । नूनमनेन मुग्धा प्रतिभासि । स स्वल्पायुरपि मम स्वामिन्या योग्योऽस्ति । तं मुक्त्वाऽन्यं वर्णयन्तीं त्वामहं मूर्खामेव वेद्मि । यदुक्तम्–सुधा स्वल्पाऽपि पीता सुखकारी भवति । हालाहलं तु यथेष्टमपि क्लेशप्रदमेवेति किं न वेत्सि ? यदेवं ब्रूषे तिलके ।

तयोरेवं वार्तामाकर्ण्य पवनञ्जयो दध्यौ – नूनमियं विद्युत्प्रभे रक्ताऽस्ति । अन्यथा तं स्तुवती सा निवारिता स्यादिति ज्वलत्कोपानलः स कोशात्खड्गमाकृष्य "येच्छति मनसा विद्युत्प्रभं वरं तस्या अनेनाऽसिना शिरश्छिनद्मि," इत्यभिदधद्यावत्ताम्प्रत्यधावत्, तावत् प्रहसितेन हस्तं धृत्वा वारितः । कथितञ्च– हे मित्र ! अविचार्य किञ्चिकीर्षसि ? सत्यपराधेऽपि स्त्री कदाऽपि नैव हन्यते । अस्याः सम्पूर्णाऽऽशयो यावन्न ज्ञातोऽस्ति तावदस्यै दण्डन्दातुं नार्हसि । इत्यादिमिष्टवाक्यैस्तमुपशान्तक्रोधं विधाय तावुभौ निजस्थान-माजग्मतुः ।

ततस्तामुद्वोढुं पवनञ्जयो नैच्छत् । प्रहसितो बहुधोपायेन तम्प्रतिबोध्य सुस्थिरमकरोत् । पुनः समागते विवाहदिवसे महता महेन पवनञ्जयकुमारस्याऽञ्जनासुन्दर्या सह विवाहो जातः । माहेन्द्रराजो बहुमानं ददौ तस्मै जामात्रे । ततः कियद्दिनानन्तरं प्रह्लादराजो वरवधूभ्यां सह सपरिवारः स्वपुरमागात् । तत्र च तस्यै सप्तभौमिकं रमणीयमावासं ददौ ।

पवनञ्जयस्तु गृहागतायास्तस्या मुखवीक्षणमपि कदापि नाकरोत् । भर्त्रा परित्यक्ता साऽपि शोकाकुला मनसि दध्यौ – मया भवान्तरे यथाऽऽचरितं तथाऽत्र भवे भुज्यते । कृतकर्माणि भोगादेव

क्षयन्तीत्यादिविचारसारेण मनसि धैर्यं विदधती निजशीलं रक्षन्ती कालमगमयत् ।

अथैकदा रावणः पातालल‌ङ्कास्वामिनं वरुणं विजेतुं निजदूत-मुखात् प्रह्लादनृपमेवमाख्यत् । तद्यथा-मया वरुणेन सह योद्धव्यमस्ति, अतः ससैन्येन त्वयाऽवश्यमत्राऽऽगन्तव्यम् । इति रावणादेशमाकर्ण्य रावणादेशकारी प्रह्लादः ससैन्यस्तत्र गमनाय समुद्युक्तवान् । तत्रावसरे पवनञ्जयेनोक्तम्- हे पितः ! एतदर्थं त्वया किं गम्यते ?। अहमेव तत्र गत्वा रावणवैरिणं वरुणं विजित्य सत्वरमत्रागमिष्यामि ।

ततः पित्राऽऽदिष्टः स सज्जितसैन्यो मातरं नमस्कृत्याऽञ्जनां तु क्रूरदृक्कोणेन किञ्चिद्वीक्षमाणः प्रतस्थे । तथा तयोक्तम्-हे नाथ ! मया किमपराद्धं येन त्वं मयि रुष्टोऽसि ?। सर्वे त्वयाऽऽलापिताः । मया सह कथं न ब्रूषे ? अहं निरपराधाऽस्मि । मयि प्रसीद, तव पथि कुशलं वर्तताम् । तथा कार्यसिद्धिं विधाय सत्वरमिहागच्छेरित्थं कल्याणं वचो ब्रुवाणां तामगणयन्नेव सोऽचलत् । ततोऽञ्जनापि दैवदोषं ददाना पतिविरहादतिदुःखिनी निजावासमागता ।

इतश्च प्रस्थितः पवनञ्जयोऽपि सन्ध्यासमये मानससरोवरोपरि सपरिवारस्तस्थौ । तत्रावसरे काञ्चिद्वियोगिनीमतिदुःखिनीं पुरःस्थितां, तन्तुजालमश्नन्तीं, शीतमपि दहनं मन्यमानां, चन्द्रिकामपि तापकरीं पश्यन्तीं, करुणमत्युच्चै रुदतीं, विदूरे प्राणनाथं वीक्षमाणां चक्रवाकीं सोऽपश्यत् । तां तादृशीमालोक्य स मनसि व्यचिन्तयत् । अहो ! इयन्नकोरी सकले दिने पतिसङ्गता तत्सुखमनुभवति, केवलं रात्रावेव पतिवियुक्ता यद्येवं दुःखम्भजते, तर्हि आजन्मपरित्यक्ता मत्पत्नी

कीदृशी दुःखिनी स्यात् ?। अद्य गमनसमये तया भणितोऽपि नाहं किमप्यूचे । सा कथमात्मानं धर्तुं शक्ष्यति ? विरहपीडिता सा महादुःखमनुभवन्ती नूनं मरिष्यति ।

इत्थं पश्चात्तापमानं तम्प्रहसितोऽवक् । हे मित्र ! त्वं पक्षितोऽपि निकृष्टोऽसि, त्वत्परिणयस्य वर्षाणां द्वाविंशतिर्जाता । कदाप्येकदा सा त्वयाऽऽलापितापि न । त्वद्विरहेण नूनं म्रियमाणा वर्तते । तस्याः कोऽप्यपराधो नास्ति । हे मित्र ! इदानीमपि तत्र गत्वा तामाश्वासय ।

ततो निजाभिप्रेतं मित्रवाक्यमाकर्ण्य सर्वैरप्यलक्षितः स प्रहसितेन साकं तस्या आवासमागतवान् । तत्र विराहातुरां तामाश्वास्य ऋतुदानं दत्त्वा पश्चाच्चलितं तमवादीत्सा – त्वमेतद् गुप्तं सर्वं विधाय गच्छसि । माता ते मामपवदिष्यति । अतो मे निजनामाङ्कितमुद्रिकां देहि । मातरं मिलित्वा पुनर्याहि । तच्छ्रुत्वा मुद्रिकां दत्त्वा तेनोक्तम् – अयि प्रिये ! एनां गृहाण । अहमचिरादागमिष्यामि का ते भीतिः ?। इत्यालप्य स शिबिरं प्राप्तः ।

सापि ऋतुस्नानात्तद्दिन एव दिव्यं गर्भं दधार । ततोऽन्वहं गर्भवृद्धिमालोक्य श्वशुरादिपरिवारो दध्यौ – अहो ! इयम्मे कुलङ्क-लङ्कितमकरोत् । अस्या भर्ता तु द्वाविंशतिवर्षमध्ये एकदापि न मिलितः । कथमियमन्तर्वत्नी दृश्यते ? नूनमसती जाता । तत एतत्स्वरूपमज्ञनामपृच्छत् । सा तद्दिने यथा भर्ता शिबिरादागत्य स्वनामाङ्कितां मुद्रां दत्त्वा पश्चाद् योद्धुमचलत्तथा सर्वमाख्यत् परं तद्वचः केऽपि न मेनिरे । सर्वे च लोकास्तां निर्भर्त्स्य गृहान्निष्काश-यामासुः । ततो निष्कशिता सा पितृसद्म समागता । तेऽपि तत्स्वरूपं

विदन्तस्तां कुलकलङ्किनीं मन्यमाना निर्भर्त्स्य गृहान्निष्काशयामासुः। ततः सर्वतो निष्काशिताञ्जनासुन्दरी वनमागत्य कुत्राऽपि तस्थौ। तत्रैव कुत्रापि गह्वरे पुत्रमसोष्ट।

अथैकदा तेनैव मार्गेण विमानारूढस्तन्मातुलो व्रजन् गिरिगह्वरे शिशुरोदनमाकलय्य विमानादवतीर्य तत्र गत्वा तामपश्यत्। तस्या आदितः सर्वमुदन्तं निशम्य सपुत्रां तां निजविमाने समावेश्य ततोऽग्रे चचाल। मार्गे च मातुरङ्के स्थितः शिशुः किञ्चिल्लातुमुच्छलन्नधः शिलोपरि पपात। पतन्तं तं वीक्ष्य व्याकुलस्तन्मातुलो यावद्विमानादवतीर्य तमादातुमधस्तत्रागतः, तावत्तत्र वज्राहतवच्चूर्णितां शिलां पश्यन् बालकमक्षताङ्गमेव हसन्तमग्रहीत्। ततस्तमादाय निजविमानेऽञ्जनायै ददौ। ततस्ताभ्यां सह स हनुपुराभिधं निजनगरमागतः। ततस्तदीयनाम मात्रा हनुमानिति चक्रे। विमानात्पतन् स शिलां सञ्चूर्णितवान्, अतो द्वितीयं नाम श्रीशैल इति धृतवती। एतत्कथा रामचरित्रादौ सविस्तरमस्ति। इतोऽधिका तत एवाऽवगन्तव्या। इह तु यावत्युपयोगवती तावत्येव संक्षेपेण तत्कथा दर्शिताऽस्ति।

अथाऽञ्जनासुन्दरी तत्र हनुपुरे मातुलगृहे निवसन्ती पुत्रस्य हनुमतः पोषणादिकं विदधती मातुल्यादिकृतसत्कारेण सुखेन दिनान्यत्यवाहयत्। पतिप्रस्वा दत्तकलङ्कतः कदा मे मुक्तिः स्यादिति मनसि विचिन्तयन्ती पत्युरागमनमिच्छन्ती तस्थुषी।

अथ पवनञ्जयकुमारस्तत्र गत्वा वरुणेन सह दशकन्धरस्य सन्धिं विधाय निजादित्यपुरमागतवान्। तत्र निजप्रेयसीमञ्जनामदृष्ट्वा लोकमप्राक्षीत्। ताङ्गर्भवतीमालोक्याऽसतीति ते मात्रा गृहान्निर्वासिता

सेति लोकमुखाद्विज्ञाय गिरिवननगरादिषु तामन्वेषयन्नपि यदा सा न मिलिता तदा, प्रियाविरहमसहमानः स चिताप्रवेशमवधारितवान्।

एतत्स्वरूपमञ्जनासुन्दरी स्वगवेषणकृते तत्प्रेषितविद्याधर-मुखाद्विज्ञाय निजमातुलं प्रतिसूर्यनामानं सार्थं कृत्वा विमानमारुह्य तत्क्षणं तत्राऽऽययौ यत्र पवनञ्जयश्चिताम्प्रवेष्टुमुदयुङ्क्त। तत्र प्रह्लादप्रतिसूर्यप्रमुखाः सर्वैः मिलिता। भर्तारं कुशलं वीक्ष्य सा भृशममोदत। सर्वे च तस्यां निःशङ्कमनसो बभूवुः। अञ्जनायाश्च लोके शीलमाहात्म्यं प्रख्यातमभूत्। पतिप्रह्लादयोऽपि कृताऽपराधं तदानीं तां क्षमयामासुः। *दुर्जना गुणवते दोषाननेकान् ददति। परमेतेन गुणिनां सन्तो गुणा न हीयन्ते किन्तूपचीयन्त एव।* निर्मलशीलप्रभावेण मिथ्याकलङ्कतो मुक्ता दहनसन्तापिता कनकलतिकेव साऽञ्जना भृशं दिदीपे।



अथ सज्जनगुणविषये-

गुण गहि गुण जेमां ते बहू मान पावे,
नर सुरभि गुणे ज्यूं फूल शीशे चढावे।
गुण करि बहु माने लोके ज्यूं चंद्रमाने,
अति कृश जिम माने पूर्णने त्यूं न माने ॥१५॥

यथा मनुष्याः सुगन्धियोगात्कुसुमानि शिरसि धारयन्ति, तथैव गुणग्राहिणो जनाः शिरोधार्या लोके बहुमानं लभन्ते। किञ्च-गुणग्राहिणो जनाः कृशतमा अपि द्वितीयाचन्द्रवत्सर्वैर्नमस्क्रियन्ते। तद्विहीनस्तु परिपूर्णोऽपि पार्वणचन्द्रवत् कैश्चिदपि कलङ्कित्वान्न नम्यते।

अतो गुणग्राहिणा भवितव्यम् ॥१५॥

मलयगिरि कने जे जंबु लिंबादि सोई,
मलयज तरु संगे चंदना तेह होई ।
इम लहिय बडाशुं कीजिये संग रंगे,
गजशिर चढि बेठी ज्यूं अजा सिंह संगे ॥१६॥

यथा मलयतरुसंयोगादन्येऽपि निम्बादयो वृक्षाः सौरभ्यपूर्णा जायन्ते । यथा वा छागोऽपि मृगेन्द्रसंसर्गतः करीन्द्रमौलिमारोहति । तथा सतां सङ्गत्या नीचोऽपि महत्त्वमुपयाति । उक्तञ्च-

कीटोऽपि सुमनोयोगा-दारोहति सतां शिरः ।
तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥१॥
काचः काञ्चनसम्पर्का-द्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥२॥
कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते, सा कामधुक्कामितमेव दोग्धि ।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते, सतां हि संगः सकलं प्रसूते॥३॥

अपि च-

न स्थातव्यं न गन्तव्यं, क्षणमप्यधमैस्सह ।
पयोऽपि शौण्डिनीहस्ते, मदिरां मन्यते जनः ॥४॥

अतो नीचसङ्गतिर्दूरतस्त्याज्या । गुणग्राहिभिरुत्तमैः सह सङ्गतिः सदैव कार्या ॥१६॥



४-अथ न्यायगुणविषये-

जग सुजस सुवासे न्यायलच्छी उपासे,
व्यसन दुरित नासे न्यायथी लोक वासे ।
इम हृदय विमासी न्याय अंगीकरीजे,
अनय अपहरीजे विश्वने वश्य कीजे ॥१७॥

इह लोके न्यायवता निर्मलं यशो वितन्यते । स्थिरा लक्ष्मीः प्राप्यते । दुर्व्यसनी मनुष्यः सर्वैर्विनिन्द्यते । सुखसम्पदा च त्यज्यते । भो भो लोकाः ! एतन्मनसि विचार्य यूयं न्यायमार्गमनुसरत, व्यसनानि दुःसङ्गतिमन्यायपथञ्च परिहरत । तथाकरणेन विश्ववशंवदा भवत ॥१७॥

पशु पण तस सेवे न्यायथी जे न चूके,
अनय पथ चले जे भाइ ते तास मूके ।
कपि कुल मिलि सेव्यो रामने शीश नामी,
अनय करि तज्यो ज्यूं भाइये लंकस्वामी ॥१८॥

ये खलु न्यायपथे वर्तन्ते तेषां साहाय्यं तिर्यञ्चोऽपि कुर्वते । तद्विपरितास्तु निज परिवारैरपि मुच्यन्ते । यथा न्यायनिष्ठं श्रीरामचन्द्रं कपिकुलान्यप्यसेवन्त ।[1] अन्यायप्रवृत्तं रावणं सोदरोऽपि विभीषणस्तत्याज ॥१८॥

२२-अन्यायित्वाद्रावणं त्यजतो विभीषणस्य कथा प्रारभ्यते-

अयोध्यानगर्यां दशरथो राजा राज्यङ्करोति स्म । तस्य कौश-

1. अजैनरामायणानुसारेण ।

ल्याकैकेयीसुमित्रादयः पट्टराज्ञ्य आसते । तासां रामभरत-लक्ष्मणशत्रुघ्ननामानः पुत्रा बभूवुः । निजस्वयंवरे दशरथस्य हरिवाहनादिप्रतिपक्षिभूपैः सह रणे जायमाने दशरथस्य सारथ्यम-करोत्कैकेयी । तत्र निजनैपुण्यं दर्शयन्ती राजानं दशरथं तथा तोषयामास, यथा स सकलाऽरीन् विजित्य तामवोचत्-अधुना त्वयि प्रसन्नोऽस्मि, त्वं प्रार्थय यदीप्सितं ते भवेत् । तयोक्तम्-प्रार्थयिष्ये साम्प्रतं तिष्ठतु भवान् ।

यदा रामचन्द्राय राज्यं दातुमैच्छद्राजा तदा कैकेयी प्राक्प्रार्थितं वरं स्मरन्ती सा तत्राऽवसरे राजानं विज्ञप्तवती- पुरोक्तं वरमधुना देहि। राजोवाच- प्रकाश्यतां सः । तदा साऽवक्- हे राजन् ! एतद्राज्यं भरताय दीयताम्, रामचन्द्राय च वनवासो दीयताम् । इत्याकर्ण्य राजा भृशमखिद्यत, ततो रामो लक्ष्मणेन सीतया च सह पितुर्नियोगाद्वनं ययौ ।

अथैकदा तत्र वने रावणभगिन्याः शूर्पणखायाः शम्बूकनामा पुत्रः सूर्यहासखड्गसिद्धिकरीं विद्यां साधयन्नासीत् । षड्भिर्मासैस्तस्यां सिद्धौ तत्र चेतस्ततः पर्यटन् लक्ष्मणः समागत्य तं सिद्धिविशिष्टं खड्गमपश्यत् । तेनैव खड्गेन कञ्चन वंशजालमकृन्तत्तैक्ष्ण्यपरीक्षा-कृते । ततस्तत्र स्थितस्य विद्यां साधयतस्तस्य शिरच्छिन्नं वीक्ष्य लक्ष्मणो भृशमतप्यत, तावत्तन्माता शूर्पणखा तत्पारणाकृते भोजनसामग्रीं लात्वा तत्राऽऽगतवती । तथावस्थं पुत्रमालोक्य शोकसन्तप्ता तद्विघातारं विपक्षं शोधयन्ती तत्राऽऽगता ।

लक्ष्मणमालोक्य तत्कालं मदनशरजालविद्धा सा कामुकीभूय

तं प्रति वक्तुमुपक्रान्ता। तदाशयं विज्ञाय तेनाऽपि तदर्थं सा रामान्तिके प्रेषिता। रामोऽपि तां वीक्ष्याऽवोचत – हे सुन्दरि! मम तु स्त्री वर्तत एव तस्य नास्ति तमेव भजस्व, एवमनेकधा ताभ्यां वञ्चिता क्रुद्धा सा निजस्थानमेत्य निजपतिं खरदूषणं पुत्रवधस्वरूपमाचख्यौ। ततो रुष्टः खरदूषणस्तत्कालं ताभ्यां योद्धुमाययौ। इतश्च तं तदर्थमागतं वीक्ष्य सत्यवसरे मया सिंहनादविहिते त्वयाऽऽगन्तव्यमिति राममभिधाय सीतारक्षाकृते रामं तत्रैव मुक्त्वा लक्ष्मण एकाक्येव तेन सह युद्धाय चचाल।

ततो लक्ष्मणखरदूषणयोर्युद्धं प्रववृते। शूर्पणखा च रावणान्तिकमेत्य तं सीतासौन्दर्यं सविस्तरमाचष्ट, तन्मुखात्सीताप्रशंसामाकर्ण्य तद्रूपमोहमुपेतः स तत्कालमेव तां हर्तुं तत्रागात्। परं तत्र रामतेजसा ज्वलत्तदाश्रमं प्रवेष्टुं स नाऽशक्नोत्। तदा सोऽवलोकनीं विद्यां सस्मार। सा समागत्य तमूचे- हे दशानन! किमर्थमहं त्वया स्मृता। तेनोक्तम्- रामोऽन्यत्र यथा गच्छेत्तथा कुरु। तयोक्तम्-यत्र लक्ष्मणो युध्यते तत्र गत्वा तद्वत्सिंहनादं विधेहि, ततः स सीतां विहाय तत्र गमिष्यति।

ततो रावणस्तत्र गत्वा तथाऽकरोत्, इतश्च लक्ष्मणसिंहनादमाकर्ण्य सीता व्याकुलीभूय तद्रक्षाकृते रामं तदन्तिकं प्राहिणोत्। तस्मिन्नवसरेऽसहायां सीतामवलोक्य रावणस्तामापाहरत्। जटायुपक्षिणा बहु प्रतिकृतं, किन्तु रावणेन तत्पक्षौ छिन्नौ।

अथ तत्र गत्वा केनाऽप्यन्येन मायाविना सिंहनादोऽकारीति मन्यमानो मनसि सीतां शङ्कमानो रामः सत्वरं पर्णकुटीमागात्। तत्र

च सीतामपश्यन् भृशमखिद्यत । तावता लक्ष्मणोऽपि शत्रुञ्जित्वा समायातः । ततस्तौ सर्वत्र सीतां मृग्यमाणौ पथि जटायुं छिन्नपक्षं मुमूर्षुमपश्यताम् । रामस्तं नमस्कारमहामन्त्रमश्रावयत् ।

सीतां हृत्वा विमाने तामारोप्य लङ्कामानीय देवरमणोद्याने तां स्थापितवान् रावणो बहुधा सीतायाः प्रार्थनामकरोत् – अयि सुभगे! अहं ते दासोऽस्मि । तस्मिन् क्षुद्रे मानुषे रामे प्रीतिं त्यज मान्न भज, एतां मेऽखिलां समृद्धिं भुङ्क्ष्व । एवं बहुलोभितापि सीता तत्र षण्मासं स्थिता शीलं नामुञ्चत् । केवलं राममेव ध्यायन्ती कालं निनाय ।

इतश्च सीतां गवेषयन्तौ रामलक्ष्मणौ किष्किन्धामुपागतौ । तत्र च तौ सुग्रीवादिप्रमुखाः कपयो भक्त्या प्रणेमुः । सर्वे च तावसेवन्त। हनुमांश्च लङ्कामागत्य सीतां निरामयां तत्राऽऽलोक्य तया सहालप्य तयोक्तं सन्देशमादाय रामलक्ष्मणौ जगाद । ततोऽसंख्यवानरचमूसहितौ रामलक्ष्मणौ लङ्कामाययतुः । तदा रावणो भृशञ्चुकोप ।

तत्रावसरे विभीषणो दशाननमेवमवक् – हे राजन् ! रामाय सीतां देहि, परदारापहारो महादुर्गतौ पातयति । अधर्माद्राज्यमपि विनश्यति । त्वं नीतिमान् भूत्वाऽप्यन्यायं कथामाश्रयसे ?। अनेन कर्मणा समुज्ज्वलमिदं कुलं मा कलङ्कय । इदानीमपि किमपि न गतं सीतां तस्मै प्रत्यर्पय । यद्येवं न करिष्यसि, तर्हि सीताकृते नूनमेतत्कुलं विनङ्क्ष्यतीति ज्ञानिभाषितं सत्यं भविष्यति । अतोऽहं प्रार्थये– कुलोच्छेदनकरीं सीतामेनां मुञ्च । पुरा यदुक्तं त्वया मया हृत्वाऽत्रा–ऽऽनीता सीतास्ति सा मां भजति । रामलक्ष्मणावतिदुर्बलौ यद्यत्राऽऽगमिष्यतस्तदा तौ निहनिष्यामि । परं तौ न्यायवन्तौ

महाबलवन्तावसंख्यसैन्ययुतौ युद्धायाऽत्राऽऽगतौ। त्वमन्यायं कुरुषे षण्मासान् यावत्त्वं सीतायाः प्रार्थनामकरोः, सा तु महासती त्वयि दृक्कोणमपि नाऽदत्त। कतिधा तया तिरस्कृतोऽपि त्वं ततो न व्यरमः। सा कदापि तव वशगा न भविष्यति।

इति श्रुत्वा रावणपुत्र इन्द्रजित्तमेवमवादीत् – हे पितृव्य! त्वं, जन्मतः कातरोऽसि। यतस्त्वमिन्द्रादीनां सर्वेषां जेतारं सर्वसम्पन्निधानं मत्पितरमेवं किं ब्रूषे ?। ससैन्यस्याऽत्राऽऽगतस्य विपक्षस्याति पक्षं नीत्वा मम पितुः कीर्तिं किं कलङ्कयितुमिच्छसि ?। तदा विभीषणोऽवक्– अहं हि विपक्षपक्षमाश्रित्य न ब्रवीमि। केवलं न्यायदृष्ट्या हितं वच्मि। नूनमत्र कुले कुलाङ्गारायसे त्वमेव। हे बान्धव! त्वमनेन निजकर्मणा पुत्रोपदेशेन चाऽचिरादेव विनाशमुपेष्यसि। अतोऽहमेवं खिद्ये।

अथैतदाकर्ण्याऽतिक्रोधातुरो रावणः खड्गमुद्यम्य विभीषणं हन्तुमधावत्। तदा कुम्भकर्णादयो मध्ये भूत्वा तन्ततोऽरक्षन्। रावणोऽवक्, रे दुष्ट! त्वमधुनैव मम नगरादपसर त्वं नूनमग्निवत्सर्वाशी प्रतिभासि। ततो बान्धवमप्यन्यायरतं रावणं त्यक्त्वा चैकादशाक्षौहिणीं राक्षसीं सेनां लात्वा विभीषणो राममिलत्। ततो रामरावणयो रणः प्रावर्तत। प्रान्ते न्यायनिष्ठो रामो विजयमाप। अन्यायरतो रावणो मृत्युमासादितवान्। विस्तरस्तु जैनरामायणादिग्रन्थेभ्यो बोद्धव्यम्।



अथ न्यायधर्मविषये–

हय गय न सहाई युद्ध कीर्ति सदाई,

रिपुविजय वधाई न्याय ते धर्म दाई ।
धरम नय घरे जे ते सुखे वैरि जीपे,
धरम नय विहूणा तेहने वैरि कोपे ॥१९॥

इह संसारे रणे प्रवर्तमाने ये न्यायवन्तो धर्मात्मानो भवन्ति तानेव विजयश्रिय उररीकुर्वते । गजतुरङ्गबलादिसामग्रीसमन्विता अपि धर्मन्यायविहीना नरा विपक्षैरभिभूयन्ते । अतो धर्मन्यायवन्तो भवेयुः सर्वे ॥१६॥

धरम नय पसाये पांडवा पंच तेई,
रण करि जय पाम्या राजलीला लहेई ।
धरम नय विहूणा कौरवा गर्व माता,
रणसमय विगूता पांडवा तेह जीत्या ॥२०॥

धर्मन्यायप्रभावादेव पाण्डवा विजयमापुः । राज्यसुखञ्चान्वभूवन् । तौ विना प्रौढपराक्रमगजाश्वरथबलसम्पद्भिरनेकराजराजीभिर्बलवन्तो ह्यतिदृप्ता अपि परमन्यायपथगामिनः कौरवा रणे पराजिता विनाशमधिजग्मुः ॥२०॥



अथ ६-प्रतिज्ञाविषये-

शुभ अशुभ[1] जिकांई आदर्युं जे निवाहे,
रवि पण तस जोवा व्योम जाणी वगाहे ।
करि गहन निवाहे तास निस्संत आपे,
मलिन तनु पखाले सिंधुमां सूर आपे ॥२१॥

1. यहाँ अशुभ, का अर्थ स्वयं को अप्रिय हो वैसा समझना ।

इह संसारे इष्टमनिष्टं वा यत्प्रतिज्ञातं तत्प्राणाऽतिपातेऽपि रक्षणीयं सर्वैः। एवंभूतं स्वकृतप्रतिज्ञापालनपरं नरं महात्मानं सूर्योऽपि व्योम्नि स्थितो दिदृक्षते। कठिनतरप्रतिज्ञां पालयतां नृणां देवा अपि साहाय्यं तन्वन्ति। तथा रणे जले दहने कानने तेषामापतन्तीमापदं नियमतो देवा निवारयन्ति। सर्वत्रैव ते सुखामाप्नुवन्ति। लेशतोऽपि ते क्लेशभाजो नैव जायन्ते ॥२१॥

पुरुष रयण मोटा जे गणीजे धराये,
जिण जिम पडिवज्यूं ते न छांडे पराये ।
गिरिश विष ज धर्यो ते न अद्यापि नाख्यो,
दुरगति नर लेई विक्रमादित्य राख्यो ॥२२॥

ये मनुजाः साध्यमसाध्यं वा प्रतिज्ञातं यावज्जीवमवन्ति ते जगति रत्नतया गण्यन्ते। यथा सागरमथनोद्भूतं गरलमनिष्टमपि महादेवः कण्ठे संस्थाप्याऽद्याऽपि तन्नैव जहाति। यथा वा विक्रमार्कः पर्वतनामानं दुर्दशं दरिद्रमपि नरं सुखिनं विधाय निजान्तिकमतिष्ठिपत्। एते सत्पुरुषा इव कृतप्रतिज्ञापालनपरा रत्नान्येव गीयन्ते। तेऽमी सर्वेषां सदैव प्रशस्या जायन्ते ॥२२॥

अथ ६-क्षमागुणविषये-

उपशम हितकारी सर्वदा लोकमाहीं,
उपशम धर प्राणी ए समो सौख्य नाहीं ।
तप जप सुर सेवा सर्व जे आदरे छे,
उपशम विण जे ते वारि मंथा करे छे ॥२३॥

इह जगत्यां क्षमावतामिष्टानि सदा जायन्ते । क्षमाधरा नराः कदापि कुत्रापि न क्लिश्यन्ते । अतः, हे भव्याः ! यूयं क्षमाशालिनो भवत । यां विना कृतान्यपि जपतपोदानादिकानि विफलायन्ते । ये च क्षमां कुर्वते तेषामेव चारित्रमपि शोभते । किमधिकं वच्मि ? आजन्माऽऽचरितमपि चारित्रमेकदाप्युत्पन्नक्रोधेन क्षीयते । उपशममन्तरा गृहिणामन्यत्किमपि विहितं व्रतादिकं नैव फलति । यां विना कां गतिमेते जीवाः प्राप्स्यन्तीति ज्ञानिन एव वक्तुं शक्नुवन्ति । अतो लोकैः क्षमागुणः सदैवाऽऽदरणीयः ॥२३॥ यतः-

क्षमाखड्गः करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ?।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति ॥१॥

उपशम रसलीला जास चित्ते विराजी,
किम नर भय केरी ऋद्धिमां तेह राजी ? ।
गजमुनिवर जेहा धन्य ते ज्ञान गेहा,
तप करि कृश देहा शांति पीयूष मेहा ॥२४॥

येषां मनसि क्षमागुण उदयमुपयाति, ते धन्या नराः सांसारिके सुखे न कदाप्यनुरज्यन्ते । यथा गजसुकुमालो महामुनिर्ज्ञान-गुणागारस्तपःपरिशुष्कगात्रो वर्षतुर्जलधाराभिर्लोक इव शान्तिमवाप ॥२४॥

२३-क्षमागुणविषये गजसुकुमालमुनेः कथानकम्-

वसुदेवस्य देवक्याः कुक्षेरुत्पन्नान् षट्पुत्रान् कंसो जघान, इति तौ दम्पती विविदतुः, परं देवता तांश्चरमशरीरान् पूर्वार्जितपुण्ययोगात् सुलसाया गृहे निनाय । ते च तया पालिता वृद्धिमापुः । तया च निजपुत्रधिया यौवने वयसि ते परिणायिताः । ताभिः सुन्दराङ्गनाभिः सह विषयसुखमनुभवन्तस्ते सुखेन दिनानि निन्युः ।

अथैकदा भगवान् नेमिनाथस्तत्रोद्याने समवससार । देवैः समवसरणमकारि । तत्र द्वादशविधपर्षदग्रे प्रभुर्देशनां प्रारब्धवान् । तामाकर्ण्य ते देवक्याः षट्पुत्राः प्रबुद्धाः संसारमसारं मन्वानाः स्त्र्यादिविषयसुखं त्यक्त्वा सुलसामापृछ्य सर्वे युगपदेव प्रभोः पार्श्वे चारित्रं जगृहुः ।

भगवता सह ग्रामानुग्रामं विहरन्तस्ते एकदा द्वारिकानगरीमगुः। तेभ्यः षट्पुत्रेभ्यः पश्चाद्देवक्याः श्रीकृष्णः पुत्रोऽभूत् । अयञ्च कंसभीत्या गोकुले नन्दगृहे जातमात्र आनीतः प्रवृद्धिमाप । ततोऽपि जरासन्ध-त्रासमाप्तः समुद्रविजयादिदशदशार्हयुतः कृतपलायनः श्रीकृष्णो देवनिर्मितद्वारिकापुरीमागत्य राज्यमकरोत् । प्रभुमागतमाकलय्या-ऽतिप्रमुदितः श्रीकृष्णश्चतुरङ्गसेनायुतः सकलपौरजनपरिवृतः प्रभुवन्द-नायै तत्राऽऽगात् ।

विधिना प्रभोर्वन्दनां विधाय गते श्रीकृष्णे प्रभोरादेशेन तेषां षट्साधूनां सम्बधित्रिकसंघाटकाद् द्वौ द्वावेकदा नगरं गोचर्यै समा-गाताम् । तौ देवकीसद्मनि समागत्य सिंहकेसरिमोदकान् लात्वा

स्वस्थानमाययतुः । पुनरन्यौ द्वौ साधू देवकीनिलयमागतौ तौ । विलोक्य देवकी मनसि दध्यौ- इमौ पुनरागतौ स्तः । अतोऽधिकम्भोज्यमपेक्ष्यते । इत्यवधार्य सा ताभ्यां प्रचुरांस्तान् मोदकान् प्रत्यलाभयत् ।

तयोर्गतयोः पुनस्तृतीयसंघाटकीयौ द्वौ मुनी समागतौ वीक्ष्य तया चिन्तितम्- अहो ! साधवो ह्यधिकाऽऽहारापेक्षणे कदाचिद् द्वितीयवारमागच्छन्ति । तृतीयवारं तु कदापि नागच्छन्ति । एतौ कथं मुहुर्मुहुराजग्मतुः ? पुरीयं महती वर्तते । श्रावका अपि बहवो विद्यन्ते । इत्थं वितर्कयन्ती सा यावत्तयोरभिमुखं तस्थौ । तावत् ताभ्यामवादि- अयि महाभाग्ये ! त्वं किं शोचसि ? तयोक्तम्- हे मुनी ! युवां संसारमसारं मत्वा प्रभोः पार्श्वे दीक्षितोवेकत्रैव गृहे तृतीयवारं कथमागतौ ?। एतेनैव मम मनसि विचारणा जातास्ति । तौ जगदतुरस्माकं संघाटकत्रयं वर्तते । अतो वयं पृथक् पृथक् समागताः स्मः । त्वया मनागपि न सन्दिग्धव्यम् । इति श्रुत्वा पुत्रवत्स्नेहस्तस्यास्तदुपरि प्रादुरासीत् । स्तनयोः क्षीरमागतम् । ततः सहर्षं सा तावपि मुनी तानेव मोदकान् प्रत्यलाभयत् ।

अथ गतयोस्तयोः साध्वोः सा तदैव मनोगतसंशयं निराकर्त्तुमर्थात् कथं तेषु षट्सु साधुषु पुत्रप्रेमोद्रेकोऽभूदिति प्रभोः पार्श्वमागत्य वन्दनादि विधाय प्रभुमपृच्छत् । भगवानवोचत्-तव षट्पुत्रान् कंसात् त्रस्तान् देवता सुलसाया गृहे नीतवती । त एवाऽमी षड्मुनयः सन्ति । तच्छ्रुत्वा गृहागता साऽऽर्तध्यानार्ताऽभवत् । यथा मम षट्पुत्रा जाताः, ते च सुलसागृहे पालिता अभूवन् । सम्प्रमोऽयं कृष्णो नन्दगृहे

वृद्धिङ्गतः । मयैकोऽपि न लालितः, न वा पालितः ।

इत्थं शोचन्तीं तां श्रीकृष्णः पप्रच्छ- अयि मातः ! त्वमद्य चिन्तातुरा कथं प्रतिभासि ? तव किञ्जातम् ? यदेवं शोकाकुला रोदिषि । तदा देवक्या निःश्वस्योक्तम्- हे वत्स ! मम कुक्षेः सप्त सुता उत्पेदिरे । परमेकस्यापि लालनपालनादिकं मया नाऽकारि । तेनेदृशी चिन्ता मे जातास्ति । तदाकर्ण्य स मातरमाश्वासयामास । पश्चात्स्वयमष्टमं तपोऽकरोत् । तत्र हरिणैगमेषी समाराधितः। तदाराधनेन तुष्टः सोऽपि तत्कालमागत्य निजाराधनकारणं तमपृच्छत् । कृष्णोऽपि निजमातुः पुत्रचिन्तामवोचत । देवोऽवक्-पुत्रो भविष्यति, परं प्रथमे वयसि संसारं त्यक्ष्यति । तत एतत्स्वरूपं स मातरमवोचत । यथा- हे मातः ! तव मनोरथः सेत्स्यति, मा शोचीः । तयोक्तम्-एवमस्तु ।

ततस्तस्याः कुक्षौ कश्चित्पुण्यशाली चरमशरीरजीवोऽवततार । सा तत्प्रभावतः स्वप्ने गजमपश्यत् । ततः पूर्णे मासे सा पुत्रमसोष्ट । स्वप्नानुसारेण तस्य गजसुकुमाल इति नाम चक्रे । एवं च महान्तं तदीयजन्मोत्सवं विदधे । क्रमेणाष्टवार्षिकः स तन्नगरीयसोमिलब्राह्मणस्य पुत्र्या सह परिणायितः । तदैव तत्र नेमिनाथो भगवान् समवसृतः । तद्वन्दनायै श्रीकृष्णदेवकीप्रभृतयः सर्वे तत्राऽऽययुः । तत्र देवविरचितसमवसरणे प्रभुः संसारासारत्वविषयिणीं देशनामदात् । तदाकर्ण्य गजसुकुमालस्य वैराग्यमुदपद्यत ।

ततो मात्रादेरनुमत्या स तदैव प्रभोः समीपे संयमं जग्राह । तस्यामेव निशायां प्रभुं पृष्ट्वा श्मशानभूमिमागत्य कायोत्सर्गध्यानमकरोत् । तावत्तत्र तस्य श्वशुरः सोमिलोऽपि समागतः । स तं

वीक्ष्योवाच-अरे पापिष्ठ ! त्वं मम पुत्रीजन्म मुधाऽकरोः । तत्फल-मधुना तेऽहं ददामि । इत्युदीर्य तत्कालमेव तटस्थतटाकतः पङ्कमानीय तस्य मुनेर्मौलौ पालीमबध्नात् । ततस्तदुपरि मृण्मयभाण्डखण्डानि न्यस्य ज्वलत्खदिराङ्गारं प्रचुरं निक्षिप्तवान्, स्वयमपि स दुर्धीस्तत्पार्श्वमेव तस्थौ ।

शमाऽम्भोनिधिर्गजसुकुमालमुनिः शिरसि ज्वलदग्निना 'तटतटिति' नाडीषु त्रुट्यन्तीष्वपि तत्क्लेशं सहमानस्तस्मै श्वशुराय सोमिलाख्यद्विजाय मनागपि न द्वेष्टि । प्रत्युत तत्कृतमहापकार-मुपकारममन्यत । यथाऽसौ ममैतद्भवं निस्तारयन् परमसखाऽ-जायत । अग इव निश्चलमनाः सर्वमपि दुःखजालं सहमानो जीवेषु दयोद्रेकमातन्वानः क्षपकश्रेणीमधिगच्छन् शुद्धमध्यवसाययन् शुक्ल-ध्यानं विदधत्पर्यन्ते केवलीभूत्वा मोक्षमाप्तवान् ।

इतश्च श्रीकृष्णः स्वमनसि तत्र निशि किलैवमचिन्तयत् - अहो ! मम बन्धुः संयमग्रहणेन महीयानभूत् । परमनेन लघुना वयसा कथमेवं संयमं पालयिष्यति । भवतु, प्रगे प्रभोरन्तिकं गत्वा तदुचितमुपायं विधातास्मीति ।

ततो जाते प्रभाते प्रभोर्वन्दनार्थमागतः कृष्णः सर्वान् साधूनालोक्य गजसुकुमालमपश्यन् भगवन्तमप्राक्षीत्- हे भगवान ! मम बन्धुर्गज-सुकुमालः कुत्राऽऽस्ते । भगवानाख्यात्- हे कृष्ण ! सोऽक्षयसुख-भोक्ताऽभूत् । तं द्रष्टुं कथं शक्ष्यसि ? तदीयदर्शनमधुना दुर्लभमभूत्। सिद्धिपदमुपेतं तमित एव नमस्कुरु । तदाकर्ण्य कृष्ण ऊचे- हे भगवन् ! ईदृशीं तात्कालिकीं सिद्धिं स कथमाप ?। तस्य तथा

साहाय्यकारी को मिलितः ?। येनाऽस्य तत्कालं सिद्धिरुदियाय । ततः पर्यन्ते केवलीभवन् शाश्वतसुखकारी समभूत् ।

ततो विश्वविश्वजन्तूपकारविधाननिमग्नात्मा प्रभुरवक्- यथा त्वङ्गतेऽहनि गजारूढः पथि व्रजन् पथि स्थितानीष्टकानि त्वत्सैन्य-प्रतिबन्धभिया समुत्थापयतो यवीयसः कस्यचन द्विजस्य गजादुत्तीर्य साहाय्यमकरोः, अर्थात्त्वयैकस्मिन्निष्टके करेण गृहीते तदनु त्वत्सैन्यैः षोडशसहस्रैस्तानीष्टकानि तदिष्टदेशे नीत्वा तत्साहाय्यञ्चक्रे, तथैव त्वद्बन्धोरपि साहाय्यमभूत् । परन्तु तत्र कार्येऽस्ति भेदः । पुनर्न्यगद-त्कृष्णः - हे भगवन्! तस्य नाम ब्रूहि, य एवमकरोत् । भगवतोक्तम्, हे वासुदेव ! त्वद्दर्शनेन यस्य हृदयं स्फुटेत् सैव एतत्कर्मकर्ता ज्ञातव्यः ।

अथ प्रभुं नमस्कृत्य गृहम्प्राचलद्वासुदेवः । मार्गे च सोमिलो महामुनिघातकी पातकी च मिलितः, ततः श्मशानतो निर्गच्छन् कृष्णमालोक्य मनसि दध्यौ । अहो! एष वासुदेवो याति, अस्मदीय-मेतत्कर्म जानन्नसौ मां हनिष्यति । अत एतन्मार्गं हित्वा मार्गान्तरेण व्रजेयमिति विचिन्त्य तथागमत् । परं तन्मार्गेणापि गच्छतस्तस्य वासुदेवविलोकनात्तत्कालमेव तद्धृदयं विदीर्णमजायत । सोऽपि सद्यो मृत्वा मुनिघातपातकान्नरकमियाय ।

एतस्याः कथाया एतदेव सारतया सर्वैरादेयम्, यदसौ सोमिलो गजसुकुमालमहामुनेः शिरसि खदिराङ्गारमक्षिपत् । तेन स महतीं वेदनां सेहे । सर्वा अपि शरीरनाड्यस्तटतटिति त्रुटिता अभूवन् । तथापि लेशतोऽपि तस्मै द्वेषमकुर्वन् क्षमामधिगच्छन्नसह्यामपि

वेदनामसहत । तत्कृतापकारमुपकारं मत्वा कर्मजालं क्षपयन् मोक्षं ययौ । अतो हे लोकाः ! सुधामयीं मत्वा तामेव क्षमां त्रिकरणशुद्ध्या यूयं मनसि धरत । येनेहाऽमुत्र च सुखमनुभूय प्रान्ते मोक्षमाप्स्यथ ।



अथ ७-त्रिकरणचित्तशुद्धिविषये-

जग जन सुखदाई चित्त एवुं सदाई,
मुख अति मधुराई सांच वाचा सुहाई ।
वपु परहित हेते तीन ए शुद्ध जेने,
तप जप व्रत सेवा तीर्थ ते सर्व तेने ॥२५॥

येषां मनसि सदैव जगज्जीवकल्याणचिकीर्षा जागर्ति । वाणी चाऽमृतमयी मिष्टतरा शुभङ्करी सत्या विलसति शरीरञ्च सकलजीवोपकारि वर्तते । इत्थं त्रिकरणशुद्धस्यैव प्राणिनस्तपो-जपव्रतसेवनतीर्थाटनानि सफलीभवन्ति ॥२५॥

मन वच तनु तीनों गंग ज्यूं शुद्ध जेने,
निज घर निवसंता निर्जरा धर्म तेने ।
जिम त्रिकरण शुद्धे द्रौपदी अंब वाव्यो,
घर सफल फलंतो शीलधर्मे सुहाव्यो ॥२६॥

किञ्च-यस्य मनोवचनकाययोगा गङ्गाम्बुवन्निर्मलाः सन्ति, तस्य सागारस्यापि कर्माणि विलीयन्ते । सकलापि मनोवाञ्छा पूर्यते । परत्र चाऽक्षय्यं सुखमाप्नोति । यथा त्रिकरणविशुद्धा द्रौपदी तत्कालमकालेऽप्याम्रं फलाढ्यमकरोत् । ततस्तस्याः शीलमाहात्म्यं पप्रथे, पाण्डवानां गृहीता प्रतिज्ञा च पूर्णाऽभूत् ॥२६॥

२४-अथ सुशीलविषये द्रौपद्याः कथा दर्श्यते-

यथैकदा पञ्चापि पाण्डवाः सभायां सुखासीना आसन् । ते च नगरेऽष्टाशीतिसहस्रतापसानामागमनं शुश्रुवुः ।[1] ततस्ते सर्वे तैर्निमन्त्रिताः । परं ते तापसा ग्रीष्मतापसन्तप्ता आम्रफलैरेव पारणश्चिकीर्षन्ति स्म । तेषां तामिच्छामाकर्ण्य पाण्डवा महतीश्चिन्तामधिगताः । अहो ! साम्प्रतमकाले रसालफलानि कुतो लभ्यन्ते ? । येनाऽस्माकश्चिन्तितं सिद्धयेत् ।

तत्रावसरे नारदर्षिस्तत्रागात् । स तांश्चिन्तातुरान् वीक्ष्यावदत् - भोः पाण्डवाः ! अद्य वः का चिन्ता समापतिताऽस्ति ?। ते जगदुः- हे महर्षे ! अद्यास्माभिरष्टाशीतिसहस्रतापसा निमन्त्रिताः । ते चाऽम्ररसेनैव व्रतपारणश्चिकीर्षन्ति । इदानीमसमये तानि लब्धुं न शक्यन्ते । इति चिन्ता नो जाताऽस्ति । यदि तांस्तद्रसैर्न भोजयेम तर्हि नः प्रतिज्ञा भग्ना स्यात् । त्वं समर्थोऽसि, तदुपायं वद ।

तदा नारदो जगाद-तमुपायं वच्मि, यूयं शृणुत । ते समूचिरे-सत्वरं ब्रूहि । हे पाण्डवाः! यदीदानीं शुष्कमाम्रबीजं रोपयेत्, तदङ्कुरीभूय झटिति वर्द्धेत, फलपुष्पादिकं जायेत तेषाम्परिपक्वफलैरेतेषां पारणं सम्भवेदन्यथा कोऽप्यन्यो नास्त्युपायः। एनमप्यसम्भवं मत्वा ते तच्चिन्तां न तत्यजुः । पुनस्ते नारदञ्जगदुः-हे ऋषे ! यदुक्तं भवता तदपि नो दुष्करमेव प्रतिभाति । तेनोपायान्तरेणैतत्त्वमेव सत्वरं सम्पादय । नो चेदस्माकं प्रतिज्ञाहानिर्भविष्यति । तदोक्तं नारदेन- हे कौन्तेयाः ? मा शोचत । अहमिदानीं त्वत्प्रेयसीं द्रौपदीं सर्वमेतन्निग-

1. अजैनमहाभारतकथानके ।

दामि। यदि सा सत्यं वक्ष्यति तदा तदर्थमहं यतिष्ये।

इति तन्निगद्य तत उत्थाय स द्रुतं द्रौपदी-भवनमगमत्। तत्र गत्वा तत्सर्वं तस्यै निवेद्य यत्प्रष्टव्यमासीत्तदपृच्छत्। नारदोक्तं सर्वमाकर्ण्य द्रौपद्यवक्- हे महर्षे! अहं किल त्वदग्रे सत्यं वच्मि। अहं सत्यशीलाऽस्मि, भर्तुः प्रतिज्ञां पूरयितुं शक्नोमि। अत्र मनागपि सन्देहं मा गाः। ततस्तां सोऽवक्-अयि पाञ्चालि! यद्येवमस्ति। तर्हि सत्वरमेकं शुष्कमाम्रबीजं रोपय, निजशीलप्रभावेण तत्सपल्लवीकृत्य फलाढ्यं विधेहि।

ततः सापि तत्कालं तथा विधाय न्यगदत्- हे नारद! जगद्विजयशालिवीरशिरोमणीन्पान्डवानेतान् पञ्च विहाय मनो मेऽपरङ्कदापि स्वप्नेऽपि नेच्छति, एतेषु पञ्चस्वपि यद्दिने यस्य वारकं भवति तत्र दिने तमेव त्रिकरणयोगेन तोषयामि, तदन्यं नैव कामये, यद्येतद् वितथं न भवेत्, पुनर्मम सत्यशीलं भवेत्तर्हि आरोपित-मेतच्छुष्काम्रबीजमङ्कुरतां यातु, द्रुतमेधताम्, तूर्णं फलपुष्पा-दिसम्पन्नमस्तु। यथा मे भर्तृणां प्रतिज्ञापूरणं स्यात्। इत्यालप्य यावत्सा विरराम, तावत्तदारोपितं शुष्कमाम्रबीजं सपल्लवतां दधत् कुसुमितम्फलाढ्यमजायत। ततस्तानि फलानि सद्यः पक्वान्य-भूवन्। ततस्तैः फलैस्तद्रसैश्च तानष्टाशीतिसहस्रतापसान् यथेच्छ-म्परिभोज्य पाण्डवा मुमुदिरे। शीलवती स्त्री किं किङ्कर्तुं न शक्नोति? ततोऽतिशीलमाहात्म्यं द्रौपद्याः पप्रथे। त्रिकरणशुद्धस्य तस्याः शीलस्य प्रत्यक्षमलौकिकं फलमालोक्य ते सर्वे तां तुष्टुवुः।



अथ ८-सत्कुलविषये-

सहज गुण वसे ज्यूं शंखमां श्वेतताई,
अमृत मधुरताई चंद्रमां शीतलाई ।
कुवलय सुरसाई इक्षुमां ज्यूं मिठाई,
सुकुल मनुज केरी शुद्धभावे भलाई ॥२७॥

यथा शङ्खेषु नैसर्गिकं नैर्मल्यम्, अमृतेषु माधुर्यं सुस्वादुत्वं च, चन्द्रमसि शीतलता, कमलेषु मार्दवम्, इक्षुखण्डे मिष्टत्वं तथा सत्कुलजाता निसर्गादेव सद्गुण्यशालिनोऽङ्गिनो जायन्ते ॥२७॥

जिण घर वर विद्या जो हुवे तो न ऋद्धि,
जिण घर दुय लाभे तो न सौजन्यवृद्धि ।
सुकुल जनम योगे ते त्रणे जो लहीजे,
'अभयकुमर' ज्यूं तो जन्म-साफल्य कीजे ॥२८॥

किञ्च-येषां सदने लक्ष्मीस्तिष्ठति तद्गृहे सरस्वती न विद्यते, येषां गृहे महती विद्या विराजते, तत्र लक्ष्मीर्न निवसति। यत्रैते द्वे वर्तेते, तत्र कुटुम्बो न वर्तते। यत्रैते त्रयो विद्यालक्ष्मीकुटुम्बा वर्तन्ते, तस्य जन्माऽभयकुमारवत्सफलम्भवति ॥२८॥



अथ ९-सद्विवेकविषये-

हृदय घर विवेके प्राणि जो दीप वासे,
सकल भव तणो ते मोह अंधार नाशे ।
परम धरम वस्तु तत्त्व प्रत्यक्ष भासे,
करम भरम कीटा स्वांग तेता विनाशे ॥२९॥

येषाम्प्राणिनां हृदयसदने विवेकात्मको दीपो विभाति, तेषामखिलभवभ्रमणकारीणि मोहरूपतमांसि नश्यन्ति। ततस्ते परमस्य धर्मवस्तुनस्तत्त्वम्पश्यन्ति। पुनस्तत्र दीपे निपतन्तः कीटाः-कर्मशल-भास्तत्कालं क्षीयन्ते। अयमाशयः-यस्य हृदये विवेको दीपक इव प्रज्वलति, तस्मिन्नविवेको विलयं याति। ततः स यथास्वरूपं वस्तुतत्त्वं जानाति ॥२६॥

विकल नर कहीजे जे विवेके विहीना,
सकल गुण भर्या जे ते विवेके विलीना।
जिम सुमति पुरोधा भूमि गेहे वसंते,
उगति जुगति कीधी जे विवेके उगंते ॥३०॥

इह हि विवेकहीना नरा विकला अधमा निगद्यन्ते। विवेकवन्तो जनाः सकलगुणलसन्त उत्तमेषु कार्येषु रज्यन्ते। विवेकादेव वस्तुतः सदसद्रूपता ज्ञायते। अतस्तद्वन्त उत्तमास्तद्विहीना विकला उच्यन्ते। यथा सुमतिनामा कश्चित्प्रधानो निजराजानं भूमिगृहेऽक्षिपत्। परन्तु स राजा ततोऽपि सङ्कटाद्विवेकगुणयोगात्सदसत्त्वं विचार्य निर्मुक्तो जातः। एतत्कथा ग्रन्थान्तरे वर्तन्ते। इह तु प्रसङ्गत इयत्येवाऽदर्शि॥३०॥

अथ १०-विनयगुणविषये-

निशि विण शशि सोहे ज्यूं न सोले कलाई,
विनय विन न सोहे त्यूं न विद्या वडाई।
विनय वहि सदाई जेह विद्या सहाई,
विनय विन न कांई लोकमां उच्चताई ॥३१॥

यथा-षोडशभिः कलाभिः परिपूर्णताङ्गतोऽपि शशी रजनीं विना न शोभते, तथा विनयं विना सकला समधिगता विद्यापि नैव शोभां धत्ते। अयमाशयः-लोके हि-विद्यावान् महानपि सत्येव विनये प्राशस्त्यमुपैति। अतः सकलगुणापेक्षया विनयः श्रेयानस्ति। किञ्च-तं विना महान्तोऽपि जना लोक औन्नत्यं प्राशस्त्यं महीयसीं सतीं कीर्तिं च नाप्नुवन्ति। अतः सर्वैर्विनय आश्रयितव्य एव ॥३१॥

विनय गुण वहीजे जेहथी श्री वरीजे,
सुरनरपति लीला जेह हेलां लहीजे।
जगति पर-शरीरे पेसवा जे सुविद्या,
विनय गुणथि लाधी विक्रमे तेह विद्या ॥३२॥

तथा-इह लोके-विनयगुणाल्लक्ष्मीर्वश्या जायते, तत्प्रभावादेव लोका राज्यसुखादिकमनायासेन किलाऽनुभवन्ति। यथा विक्रमार्को राजा विनयेन परकायप्रवेशिनीं विद्यामाप्तवान् ॥३२॥

२५-विनयगुणोपरि विक्रमराजस्य कथा दर्श्यते-

यथा-साकेतनगरे विक्रमाभिधो राजा राज्यं शास्ति। स चैकदा निजकर्मपरीक्षाकृते राज्यकार्यं मन्त्रिणे समर्प्य देशान्तरं प्रतस्थे। तत्राऽन्यदा कियद्भिर्दिनैः स एकम्पर्वतमपश्यत्। तत्र गत्वा तपस्यन्तमेकं योगिनमद्राक्षीत्। ततस्तं भक्त्या नमस्कृत्य विनयी स तदभिमुखमुपाविशत्। तमदृष्टपूर्वं विनीतं मत्वा योगी तमवक्-त्वङ्कोऽसि? आगम्यते कुतः? राजाऽवदत्-हे स्वामिन्! अहं क्षत्रियः साकेतादायातोऽस्मि। पुनर्योगिना पृष्टः-त्वङ्कुत्र यास्यसि? राजा

न्यगदत्- हे नाथ ! ममाऽन्यत्र जिगमिषा नाऽस्ति । अहं त्वामेव सेवितुमत्राऽऽगतोऽस्मि । गुरुसेवनादमूल्या गुणा उत्पद्यन्ते इत्युदीर्य तत्समीपेऽतिष्ठत् ।

अथ विनयेन स विक्रमस्तं योगिनं भक्त्या सेवमानः कति वर्षाणि व्यतीयाय । तदन्तिके कश्चिदेको विप्र आसीत् । स बहिर्भक्त्या तमसेवत । विनयी नाऽऽसीत्, भक्त्या तं योगिनं नाऽतूतुषत्, केवलं विद्यालिप्सया बाह्याऽऽडम्बरेण भक्तिमकरोत् ।

अथैकदा तुष्टो योग्यं विक्रममवादीत्-हे वत्स ! मां सेवमानस्य तव बहूनि वर्षाणि यातानि । त्वं विनयदक्षतादिगुणगरिष्ठोऽसि । अतस्त्वां योग्यं मत्वा ते विद्यां दित्सामि, अधुना परकायप्रवेशिनीं विद्यां लात्वा गृहं याहि । इत्युक्त्वा तस्मै राज्ञे तां विद्यामदात् । तदा विक्रमस्तमेवं विनयेन प्रार्थयाञ्चक्रे-हे स्वामिन् ! त्वया मे विद्या दत्ता । मत्तोऽपि पूर्वतस्त्वामसौ विप्रः सेवते, तस्मै कुतो न दित्ससि ? योग्यवक्-असावयोग्योऽस्ति, योग्यायैव विद्या दीयते । विक्रमः पुनर्जगाद- हे नाथ ! मदभ्यर्थनयाऽस्मा अपि विद्यां प्रदेहि । योगी न्यगदत्- हे वत्स ! त्वमुपकारधियाऽस्मै विद्यां दापयसि, परमसौ विद्यां गृहीत्वा त्वामपकरिष्यति । विक्रमोऽवग्- हे गुरो ! यदि मे तादृक् कर्मोदयो भविष्यति, तर्हि मे तत्स्यादेव, तत्रैतस्य को दोषः ? महात्मनैतदविचिन्त्यैव यस्य कस्याप्युपकारः कर्तव्य एव । राज्ञ एतद्युक्तिमत्कथनमाकलयता तेन योगिना तस्मै विप्रायाऽपि सा विद्या दत्ता ।

तदनु तावुभौ योगिनम्प्रणम्य निजदेशम्प्रति चेलतुः । कियद्भिर्दिनैस्तौ साकेतपुरमागतौ बहिः कुत्रापि तस्थतुः । तत्रावसरे राज्ञः

पट्टहस्तिनि मृते सर्वे पौराः शोकाकुला आसन् । तांस्तथालोक्य विक्रमो विप्रमवादीत्- हे मित्र ! मम हस्तिनि मृत्युमधिगच्छति सति मन्नगरवासिनो व्याकुला दृश्यन्ते । अतोऽहं गजशरीरे प्रविश्य तञ्जीवयित्वा सर्वान् मोदयिष्ये । त्वं मम कलेवरं सयत्नेन रक्ष । इत्याभाष्य राजा गजशरीरं प्राविशत् । तदा स गजो जिजीव, तेन सकला अपि पौरा अमन्दममोदन्त ।

तत्रावसरे स विप्रो व्यचिन्तयत्-अहो ! एष कोऽपि राजा प्रतीयते । अतोऽहमप्येतच्छरीरम्प्रविश्य राजा भूत्वा राज्यसुखमनुभवेयमिति विचिन्त्य तत्क्षणं स राज्ञः कलेवरम्प्रविश्य लोकानां दृग्गोचरो जातः । ततो मन्त्रिप्रमुखाः सर्वे पौरा महामहेन तं राजसदनं निन्युः । विद्यां लात्वा राजा समागादिति सर्वे जह्रषुः । महामहं वितेनुः सिंहासने च तमारोपयामासुः ।

अथान्तःपुरेऽपरिचितमिव साशङ्कमायान्तं तमालोक्य श्रीकान्ताभिधाना राज्ञी मनसि दध्यौ । यथा-एतच्छरीरमात्रं राज्ञोऽस्ति, परमसौ विक्रमो नास्ति, कोऽप्यन्यो विद्याबलेन तच्छरीरं प्रविश्य समागतो भाति, यदेवमायाति । ततस्तदैव सा प्रधानमाकार्य्य सर्वमपि तच्चेष्टितमाचचक्षे । ततस्ताभ्यां मन्त्रयित्वाऽन्तःपुरे तदागमो न्यरोधि ।

एतत्स्वरूपं ज्ञात्वा गजतनुप्रविष्टो राजा वनमगात् । तत्र तत्पुद्गलं विहाय कीरतनुं प्रविश्य तद्रूपेण श्रीकान्ता राज्ञीसमीपमायायौ । साऽपि तङ्कीरमतिप्रेम्णा स्वसमीपे स्थापितवती । तस्मिन् कीरे राज्ञ्या महान् रागोऽभूत् । एकक्षणमपि तद्वियोगं नैच्छत् । तत्पश्चादेकदा स कीरविग्रहं त्यक्त्वा सरटोऽभवत् । तदा कीरं मृतमालोक्य राज्ञी

भृशं शोकमकरोत् । किं बहुना ? तद्वियोगमसहमाना सापि मर्तुकामाऽजायत । तत्रावसरे नृपीभूतो विप्रस्तामाख्यत्-अयि राज्ञि! त्वं मा म्रियस्व । एनं कीरमहं जीवयामि । साप्यवक्-अस्मिञ्जीविते सत्येव मम जीवितं स्थास्यति । नो चेदवश्यङ्गमिष्यत्येव । तत्र सन्देहं मा कृथाः ।

अथैकान्ते स्वशरीरं विहाय कीरपुद्गले समाविशद्विप्रजीवः । कीरे सद्यः पुनरुज्जीविते सा राज्ञी तुतोष । अथाऽवसरं वीक्ष्य सरटपुद्गलाद्विनिर्गत्य राजा निजकायं प्राविशत् । ततः सभामागत्य पूर्ववद्राज्यं पालयितुं लग्नः । अथ सत्य- विक्रमं ज्ञात्वा श्रीकान्ता भृशमतुष्यत् । सर्वे लोकाः प्रमोदं दधिरे । तदनु तस्य मायाविनो विप्रस्य विग्रहं राजाऽदीदहत् । स दुष्टो विप्र आजन्म तिर्यग्रूपेण तस्थौ ।

एतस्मिन् प्रबन्धेऽयं सारोऽस्ति । यद्विक्रमो विनयगुणयोगात्स्वयं विद्यामधिगम्य, भावविनयादिभिर्गुरुशुश्रूषामकुर्वतेऽपि तस्मै विप्राय विद्यां दापितवान् । अतः सर्वैः सकलेष्टकार्यसाधनः सर्वतः श्रेयानसौ विनयो यत्नेन धर्तव्यः ।

किञ्चोपदेशमालायामेवमलेखि-यथा श्रेणिको नृपश्चाण्डाल-म्प्रत्यपि विनयं कुर्वन् विद्यां शिशिक्षे । अयमाशयः- यथा स चाण्डालमपि विद्यावन्तं सिंहासनमुपवेश्य स्वयं कृताञ्जलिस्तदभिमुखं स्थित्वा विनयेन तस्माद्विद्यामग्रहीत्, तथाऽन्यैरपि विधेयम् ।



२६-अथ विनयेन विद्याग्रहणोपरि श्रेणिकनृपस्य कथानकम्-

यथा-राजगृहे नगरे श्रेणिको नाम राजाऽस्ति। तेन मन्त्रिपदे मतिमानभयकुमारः स्वपुत्रो नियुक्तः। तत्र चैकश्चाण्डालो निवसति स्म। तस्य भार्या गर्भवती जाता। तस्या एकदा रसालफलभक्षणाय दोहदो जज्ञे। तदपूर्त्या सा प्रतिदिनमतिकृशा जाता। तां तथाऽऽलोक्य चाण्डालस्तत्कारणं तामपृच्छत्। साऽपि तत्कारणं समुत्पन्नं दोहदमाख्यत्।

तदाकर्ण्य स मनसि चिन्तयति- अहो! अतिदुष्करोऽसौ दोहदः। अकाले तत्फलं कथं लप्स्ये ? अयं दोहदो यदि न पूर्येत तर्हि नूनमेषा मे पत्नी दिनानुदिनं कृशीभूय जीवितं हास्यति। अतो येन केनापि यत्नेन तदानीयाऽस्या दोहदः पूरणीयः, इत्थं चिन्तां कुर्वता तेन स्मृतम्। यच्छ्रेणिकराजस्य चेल्लणाराज्ञ्या एकस्तम्भीयनिवाससौधो वर्तते। तत्र देवनिर्मितारामो वर्तते। तस्मिन्नेतत्फलमिदानीमपि लभ्यते। साम्प्रतमन्यत्र कुत्रापि तन्नैव प्राप्तुं शक्यते। अतस्तत्र गत्वा तत्फलमानेतव्यमिति निश्चित्य स तत्रागमत्।

तत्रागत्य तद्वृक्षं फलाढ्यमप्यत्युन्नतं विलोक्यैकया विद्यया तच्छाखां नीचैः कृत्वा गृहीत्वाऽपरया विद्यया तां शाखां पूर्ववदकरोत्। एवं स चाण्डालो विद्याप्रभावेणाऽशक्यमपि दोहदं प्रेयस्या अपूरयत्। परमतिस्वादिष्टं तत्फलं प्रत्यहं साऽयाचत। ततः पत्नीमोहेन स प्रतिरात्रं तत्र गत्वा तथैव तत्फलानि लातुं लग्नः। एवं सर्वाणि फलानि गृहीत्वा तेन स वृक्षः फलशून्यश्चक्रे।

अथाऽन्यदा श्रेणिकनरेश एकस्तम्भीयसौधशिखरमारुह्य तदारामशोभां पश्यन् तदाम्रशाखां फलशून्यामलोकत। तां तथाऽऽलोक्य स व्यचिन्तयत्- अहो! इयमाम्रशाखा गगनचुम्बिनी विद्यते, कोऽप्येनामारोढुं न शक्नोति। रक्षका अपि सदैव परितो रक्षन्ति। तथापि फलानि गतानि दृश्यन्ते। इत्याश्चर्यं गतः स्वबुद्ध्या यदैतन्निर्णेतुं न शशाक, तदा राजा तमभयकुमारमाकार्य जगाद – हे कुमार! त्वं मतिमानसि, अत एतदाम्रचौरं केनापि प्रकारेण गृहीत्वा समानय। इति नृपादेश-माकर्ण्य स मन्त्री चतुष्पथमागत्य पौरानेकत्रीकृत्यैवमाख्यत् – भो लोकाः! मद्वचनमाकर्णयत–पतिंवरा काचिदेका धनश्रीनाम्नी कन्या स्वानुरूपपतिलिप्सया कस्यचिदेकस्य मालाकारस्याऽऽरामे यक्षमन्दिरे प्रत्यहमागत्य तदुपवनीयरम्यैः कुसुमैः प्रच्छन्नप्रचितैस्तमभ्यर्च्य पुनर्निजस्थानमागात्। प्रभाते स मालाकारस्तत्रागत्य केनापि त्रोटितानि कुसुमानि ज्ञात्वा तच्चौरं जिघृक्षुरभूत्।

अथाऽन्यदा कुसुमानि विचिन्वतीं तां सोऽग्रहीत्। तत्पृष्टा च सा तमेवमुवाच- अहं हि स्वानुरूपसत्पतिकामेनैतद्यक्षपूजार्थं पुष्पाणि चिनोमि। मां मुञ्च, अतः परं न ग्रहीष्यामि। अथ तद्रूपेण मोहितः स तामेवमवादीत्- हे कन्ये! परिणयानन्तरं यदि प्रथमं मदन्तिक-मागच्छेस्तदाहं त्वां मुञ्चानि। तत्रावसरे निरुपाया सापि तत्प्रार्थन-मङ्गीकृत्य तन्मुक्ता निजालयमाप।

कियत्कालानन्तरं परिणीता सा पतिगृहमागता निशि पतिपार्श्वमुपेता, निजप्राणनाथमेवं व्यजिज्ञपत्- हे प्राणेश्वर! अहं योग्यपतिकामनया यक्षमर्चितुं कस्यचिन्मालाकारस्य पुष्पाणि च्छन्नं

गृह्णती तेनैकदा गृहीताहं, निरुपाया "सति विवाहे त्वया प्रथमं मत्पार्श्वेहमागन्तव्यमिति" तद्वचनमङ्गीकृतवत्यस्मि। अतस्तत्र गन्तुमधुना मामनुजानीहि।

ततो भर्त्राऽऽज्ञप्ता सा षोडशशृङ्गारसज्जिता तत्र गन्तुमेकाकिनी प्रतस्थे। मार्गे च तस्याश्चौरा अमिलन्, ते तदाभरणानि लुण्टयितुमीषुः। तदा सा तानेवमवक्- हे चौरा! मामिदानीं मुञ्चत, अहङ्कस्यचिन्मालाकारस्य समीपं कृतां प्रतिज्ञां पूरयितुं भर्त्राऽऽदिष्टा व्रजामि, तत्र गत्वा प्रतिज्ञां पूरयित्वा पश्चादागमिष्यामि। तदा युष्माभिरेतानि मदाभरणानि ग्राह्याणि। इत्थं तत्कथामाकर्ण्य ते तामामुञ्चन्।

तदग्रे कश्चिच्चिरबुभुक्षित एको राक्षसस्तामालोक्य मुखं व्यादाय भक्षितुमधावत्- तदा सा तमपि निजवृत्तं सर्वं निवेद्याऽनुनीय तमेवमप्रार्थयत् - भो राक्षस! इदानीं कृतां प्रतिज्ञां पूरयितुं व्रजन्तीं मां मुञ्च, तत्र गत्वा प्रतिज्ञां परिपूर्याऽनेनैव मार्गेणाऽचिरादहमेष्यामि। तदाहं भक्षणीयेति तद्वचः श्रुत्वा तेनापि मुक्ता सा, तन्मालाकारस्याऽन्तिकमागात्।

सोऽपि तदागमनं प्रतिक्षमाण आसीत्। तामागतां सोऽपृच्छत्- हे सुन्दरि! त्वमिदानीं पतिमापृच्छ्य समागतासि उत ततश्छन्नैव ?, तदा साऽऽख्यत्-मयैतत्सर्वं पत्ये निवेदितम्। तदनु तेनाऽऽदिष्टा त्वदन्तिकमागच्छामि। ततश्छन्ना न, यतो यो हि स्ववचनं विफलीकरोति, तस्य जीवितमपि सर्वैर्निन्द्यते। जीवितादपि निजप्रतिज्ञापालने भव्यैः प्रयत्यते, इति प्रतिज्ञाम्पूरयितुमहमत्राऽऽगतास्मि, त्वमपि यथोचितं

विधाय मामनुगृहाण ।

इति तस्या वचनमाकलय्य मनसि चमत्कृतः स व्यचिन्तयत् - अहो ! धन्या किलेयम्प्रतीयते । या हि दत्तवचनरक्षार्थमतिदुष्करमपि चिकीर्षति । तथैतस्या भर्ताऽपि धन्यतरः । यो हि नवोढामीदृशीं त्रिभुवनाऽतिशयसौन्दर्यरत्नाकरायितामतिप्रेयसीमीदृक्प्रतिज्ञापूरणाय समादिशत् । उभावपि सत्यशीलौ धन्यौ नमस्यार्हौ । अत एतस्याः शीलं रक्षणीयमेवेति विचार्य सोऽपि तस्यै भगिनीधिया वसनाऽऽभरणादिकमदात् । कथितञ्च त्वं धन्याऽसि, भगिनि ! त्वं निजालयं व्रज ।

अथ तन्मुक्ताऽखण्डितशीला धनश्रीस्तद्राक्षसमागत्याऽमिलत् । सोऽपि सत्यवचनां तामवेदीत्, पुनर्मालाकृता यदाचरितं तदपि तन्मुखादाकर्ण्य तां प्रशस्य वस्त्राऽऽभरणैः सत्कृत्य गृहगमनाय समादिशत् । अथ राक्षसेन सत्कृत्य मुक्ताऽभक्षिताङ्गी सा चौरान्तिकमागता । तेऽपि तां सत्यवचनां सुशीलां मत्वा हृष्टाः सन्तो वस्त्राऽऽभरणादिभिः सत्कृत्य मुमुचुः ।

इत्थमखण्डितशीला निर्विघ्नेन भर्तुरन्तिकमागात् । तस्मै च यथाजातं वृत्तं सर्वं निवेदयामास । तदाकर्ण्य भर्त्राऽपि सा सम्मानिता ।

तत्राऽभयकुमार इत्युदीर्य सर्वानपृच्छत् - भो भो लोकाः ! यूयं विचार्य कथयत, अत्र दुष्करं कर्म केनाऽकारि ? तत्राऽवसरे कियन्तो विषयैषिणोऽधीरा नरास्तस्याः पतिं प्रशशंसुः । कियन्तः कामुकाः समागतां नवोढामतिसुन्दरीं तां त्यजन्तं तमारामिकं

तादृशमतिदुष्करं कृत्यमनुष्ठातुमादिशन्तं तद्भर्तारञ्चाऽस्तुवन् । कियन्तंस्तं मांसलोलुपं राक्षसम् । ततो येनाऽऽम्रफलानि चौरितानि, स एक एव तञ्चौरानवर्णयत् ।

ततोऽभयकुमारो दूतेन तं नरं स्वान्तिकमानाय्य गतेषु लोकेषु बद्ध्वा कारागारनिवासमादिशत् । तदानीं कुट्टितस्तर्जितः स कुमाराग्रे निजमुखेन तदाम्रचौर्यमङ्गीकृतवान् । तदा पुनस्तं कुमारोऽपृच्छत्- किमरे ! तत्तरोः सा शाखा तुङ्गत्वे गगनञ्चुम्बति, त्वया तत्फलानि कथञ्चगृहिरे ? किञ्च- तिष्ठत्सु तेषु रक्षकेषु तमारामं प्राविशः कथम्?। सत्यङ्कथय, तदा भयेन भृशङ्कम्पमानः सोऽवक्- हे स्वामिन् ! मम द्वे विद्ये वर्तेते । एका चोन्नतमपि करस्पृश्यं करोति, अपरा तं तथाऽवस्थं करोति, ताभ्यां मया तत्फलानि गृहीतानि ।

ततो मन्त्री तञ्चौरं नृपान्तिकमनयत् । नृपोऽपि तं महापराधिनं मत्वा तदुचितां शिक्षामादिशत् । तदा कुमारो नृपमवादीत्- भो महाराज ! एतस्मै शिक्षां माऽऽदिक्षः । एतत्पार्श्वे द्वे विद्ये स्तः । यत्साहाय्येन फलानि चोरितानि, ते गृहीत्वैनं मुञ्च । ततो नृपस्तमवक्- तर्हि मे ते विद्ये देहि । सोऽपि मृत्युभीतिमुपेतस्तदा मन्त्रोच्चारणं व्यधात् । किन्त्वविनयादिदोषेण नृपस्तदुच्चारितं तन्मन्त्राक्षरं हृदि धर्तुं नाऽशक्नोत् । तदा मन्त्री जगाद-अविनयेन विद्या न गृह्यते । भवान् विनयेन सिंहासनान्नीचैरवतीर्य कृताञ्जलिस्तिष्ठन्नेनं सत्कृत्य गुरुबुद्ध्या सिंहासनमुपवेशयतु, तदा विद्या समेष्यति । अथ राजा तथैव विधाय विनयेन ते विद्ये जग्राह । तस्मिन्नवसरेऽभयकुमारेणोक्तम्- हे राजन् ! असौ तस्करो नीचकुलजातोऽपि विद्याशालित्वात्पूज-

नीयोऽस्ति सम्प्रति गुरुत्वादपि विशेषतः । नीतिशास्त्रेऽपि यदुक्तम्-

एकाक्षरप्रदातारं, यो गुरुं नैव मन्यते ।
श्वानयोनिं शतङ्कृत्वा, चाण्डालेष्वपि जायते ॥१॥

अधुनाऽसौ ते गुरुरजायत, इत्येनञ्जीवितप्रदानेनऽभयं कुरु । ततो राजा तं मुक्त्वा लक्षदीनारं तस्मै दत्तवान् । अनया कथया विनयस्य प्राधान्यमवगन्तव्यम् । स नृपोऽपि यदा विनयमकरोत्, तदा तन्मुखोच्चारिता विद्या चटिताऽभूत् । किञ्च-विनयसहिता स्वल्पाऽपि विद्या लोके बहु विस्तृणाति । अतः सद्विनयमूलधर्मरुचिनिमग्नैः सद्भव्यैः सर्वैरपि सदैव विनये यतितव्यम् ।



अथ ११-विद्याविषये-

अगम मति प्रयुंजे विद्यया कोन गंजे,
रिपुदल बल भंजे विद्यया विश्व रंजे ।
धनथि अक्षय विद्या सीख्र एणे तमासे,
गुरुमुख्र भणि विद्या दीपिका जेम भासे ॥३३॥

विद्यावन्तो नराः कदाऽपि धूर्तादिलोकैर्नैव वञ्च्यन्ते, तथा सद्विचारयोगात्ते रिपुदलानि महान्त्यपि लीलया क्षणादेव जयन्ति, तथा विद्यया सकलमपीदं विश्वमनुरज्यते । इत्थं हि नूनमितरधनाद्यपेक्षया पुंसां विद्यैवाऽक्षय्यकोशकल्पा प्रतीयते । यतो धनादिकं व्ययिते हीयतेऽसौ तु भृशं व्ययिताऽपि समेधते । तथा विद्या हि श्रियो निदानमस्ति, सा विद्या सकलतत्त्वविलोकने विदुषां हृदयभवने महादीपायते । अतो हे लोकाः ! यूयमवश्यं विद्वद्वर्यसद्गुरुसन्निधौ

विद्यां शिक्षध्वम् ।।३३।।

सुर नर सुप्रशंसे विद्यया वैरि नासे,
जग सुजस सुवासे जेह विद्या उपासे ।
जिण करि नृप रंज्यो भोज बाणे मयूरे,
जिण करि कुमरिंदो रींजव्यो हेमसूरे ।।३४।।

किञ्च-विद्वांसः सुरैर्नरादिभिश्च प्रशस्यन्ते । महात्मभिस्ते सत्क्रियन्ते । नृपसदसि ते मानमधिकमाप्नुवन्ति । ते विद्याबलेन जितारयो जायन्ते । ये विद्यामुपासते तेषां जगति स्फीतं यशो विततं भवति । ते च विद्याधनमतुलं प्राप्यानुपमं सुखमधिगच्छन्ति । यथा पुरा किल बाणमयूरौ विद्यया भोजनृपं भृशमतूतुषताम् । यथा सत्प्रतिभाबुद्धिसन्निधिः श्रीमद्धेमचन्द्राचार्यो विद्यया कुमारपालं नरपालं भृशं सन्तोष्य प्रतिबुद्धमकरोत् । तथाकृतेऽन्येऽपि विद्यामादरेण शिक्षन्ताम् ।।३४।।

२७-अथ विद्यया भोजनृपं तोषयतोर्बाणमयूरयोः प्रबन्धः-

अस्मिन्नुज्जयिनीनगरे भोजराजसभायां बाणमयूराभिधौ मिथः श्वशुरजामातरौ विद्वांसावभूताम् । तौ विद्यामदोन्मत्तौ सदैव नृपसदसि समागतौ विवदमानौ चैकस्य प्रशस्तिमपरोऽसहमान आसीत् । यदाह-

न सहंति इक्कमिक्कं, न विणा चिट्ठंति इक्कमिक्केण ।
रासहवसहतुरंगा, जूआरी पंडिआ डिंभा ।।१।।

अस्या अयमर्थः-रासभा वृषभास्तुरङ्गा द्यूतकारिणः कोविदाः शिशवश्चैत एकमेकेन विना न तिष्ठन्ति, यदि तिष्ठन्ति तर्हि मिथो युध्यन्ते, तथैव तौ श्वशुरजामातरौ विवादं सदैव नृपाग्रेऽकुरुताम् । एकस्योन्नतिमपरः कदाऽपि मनागपि नाऽसहत ।

अथैकदा तौ नृपेणैवं भणितौ, यथा- भोः पण्डितौ ! युवाङ्काश्मीर-देशं यातम् । तत्र द्वयोर्मध्ये यं सरस्वती संमंस्यते तमधिकमपरं हीनमहं ज्ञास्यामि । इति नृपादेशं लात्वा तावुभौ काश्मीरम्प्रति चेलतुः । मार्गे च तावोङ्कारनाथस्य शिवस्य मठे धान्यभारमुद्वहतः पञ्चदशशतान् वृषभान् (पोठीतिलोकभाषाप्रसिद्धान्) अपश्यताम् । तानालोक्य तौ तद्वाहकानपृच्छताम्- किम्भोः ! यूयमेतेषु वृषभेषु भूत्वा कुत्र किमर्थं नयथ ? तैरभाणि- एतानि श्रीओङ्कारक्षेत्रे वृत्तिधान्यानि नीयन्ते । तन्निशम्य तत्कालं तौ साश्चर्यौ जातौ । पश्चादग्रे व्रजन्तौ तौ रात्रौ कुत्राऽपि सुषुपतुः। तदा तौ गगनस्था शारदा एतां समस्यामपृच्छत् । यथा- 'शतचन्द्रं नभस्तलम्' तदाकर्ण्य बाणकविस्तामेवमपूर्यत । यथा-

दामोदरकराघात,-विकलीकृतचेतसा ।
दृष्टश्चाणूरमल्लेन, शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥१॥

इत्याकर्ण्य मयूरकविर्हुङ्कारं कुर्वन् तत्समस्यामन्यथाऽपूरयत । तदा पुनराकाशवाण्यभूत् । यथा-येन प्रथमं समस्याऽपूरि, सोऽधिकः । अपरस्तु हुङ्कारनादं वितत्य तत्पूर्तिं व्यधादिति सोऽल्पीयान् कविः, इति सरस्वतीविहितजयपराजयौ तौ प्रभाते समुत्थायोज्जयिं-

नीप्रभुं भोजराजं शारदादत्तविजयं निवेद्य बाणकविः प्राधान्यमनयत्, ततःप्रभृति नृपसदसि बाणस्य[1] महीयसी प्रतिष्ठा जाता ।



अथ १२-परोपकार-विषये-

तन धन तरुणाई आयु ए चंचला छे,
परिहत करि लेजे ताहरो ए समे छे ।
जब जनम जरा जां लागशे कंठ भाई !,
कहि न तिण समे तो कोण थाशे सहाई ॥३५॥

भो भ्रातृलोकाः ! इह संसारे शरीर-धन-यौवनायुरादीनि समस्तानि क्षणभङ्गुराणि सन्ति । अतः सर्वमसारं मत्वा सारभूतम्परोपकरणमाशु भवद्भिर्विधीयताम् । समागते वार्धक्ये जराऽभिभूता नष्टबला इन्द्रियेषु सकलेषु शैथिल्यमुपपन्नेषु यूयं किं करिष्यथ ? स्वयमेव मनसि विचारयत । तत्रावसरे युष्माकं त्राता को भविष्यतीति ? केवलमनुष्ठितो धर्म एव त्रास्यते । अतः प्रमादं विहाय सर्वप्राणीप्सितसुखार्थादिप्राप्तिनिदानं परोपकारं विदधताम् । येनोभयत्र सुखमाप्स्यथ ॥३५॥

1. अस्मिन् कथानके बाणमयूरौ श्वशुरजामातरावभूतामिति विचारणीयम् । 'प्रबन्ध-चिन्तामणिग्रन्थे' भोज-भीमप्रबन्धे स्पष्टतरमित्थमुल्लिखितम्-गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव, प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव । प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो ! (इति भूयो भूयस्तेन त्रिपदीमुदीर्यमाणामाकर्ण्य) कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम् ॥१॥ इति भ्रातमुखात्तुर्यं पदमाकर्ण्य क्रुधा सा सत्रपा च कुष्ठी भवेति तं भ्रातरं शशापेत्यादि ।

'भोज और कालिदास' नाम्नि पुस्तकेऽपि कविप्रसिद्धयोर्बाणमयूरयोर्वृत्तान्ते बाणकवेर्भगिनीपतिर्मयूरकविरित्येव लिखितम् । लोकेऽपि चैवमेव तौ प्रख्यातितामापतुरिति।

नहि तरु फल खावे ना नदी नीर पीवे,
जस धन परमार्थे सो भले जीव जीवे ।
नल करण नरिंदा विक्रमा राम जेवा,
परहित करवा जे उद्यमी दक्ष तेवा ॥३६॥

किञ्चैतत्पश्यत । यथा-तरवः फलन्ति, परं तानि फलानि स्वयं नाऽश्नन्ति । यथा नद्यः स्वयं नीरं न पिबन्ति, किन्तु परानेवोपकुर्वते । स्वयञ्च ते तरव आतपादिमहाक्लेशं सहमानाः परेषामुपकृतौ सदैवोद्यतास्तिष्ठन्ति। येषां धनानि परोपकरणे यान्ति, तथा कायेन वचसा च लोकानुपचिकीर्षन्ति, ते सत्पुरुषा इह चिरं जीवन्तु, यथा-नलराजः कूपस्थं सर्पमभितो ज्वलत्यपि दहने बहिरानीतवान् । यथा कर्णराजो बहूननाथान् विकलाङ्गान् बहुतरधनव्ययेनोपकृतवान् । विक्रमार्को निजां लक्ष्मीं परोपकृतादिधर्मार्थमव्ययीत् । रामराजो यथा कायेन वचसा मनसा सम्पदा च जगज्जीवानुपाकरोत् । तथान्यैरपि लोकद्वयसुखलिप्सावद्भिः परेषामुपकृतिः कार्या ॥३६॥

अथ १३-उद्यम-विषये-

रयण-निहि तरीने उद्यमे लच्छि आणे,
गुरु-भगति करीने उद्यमे शास्त्र जाणे ।
दुःख समय सहाई उद्यमे छे भलाई,
अति अलस तजीने उद्यमे लाग भाई ! ॥३७॥

इह खलु ये केचन समुद्योगिनः सागरं तरन्ति, ते रत्नानि समाप्नुवन्ति । ये पुनर्भक्त्या विनयं कुर्वन्तो गुरूनुपासते, तान् सेवन्ते, तदाज्ञावर्तिनो भवन्ति । ते किलाऽपारस्याऽपि शास्त्रस्य परम्पार-

मधिगच्छन्ति । आपद्गतानपि जनानुद्यमो हि सहायतां नयन्नऽभितो रक्षति । अतो हे भव्यभ्रातः ! आलस्यं त्यज, उद्यमं भज ।।३७।।

नृप शिर निपतंती बीज जात्कारकारी,
उद्यम करि सुबुद्धी मंत्रिये ते निवारी ।
तिम निज सुतकेरी आवती दुर्दशाने,
उद्यम करि निवारी ज्ञानगर्भ प्रधाने ।।३८।।

इह तन्नास्ति यदुद्यमेन न साध्यते-यथा कस्यचन राज्ञः शिरसि पतिष्यन्तीमतिदीप्तां सौदामिनीमपि निजोद्यमयोगेन सुबुद्धिनामा प्रधानो न्यवारयत् । तथा मतिमान् मन्त्री निजपुत्रादेष्यन्तीं निजामपि दुर्दशामुद्यमेन निराकरोत् ।।३८।।

२८-अथोद्यमोपरि सुबुद्धिनाम्नः प्रधानस्य प्रबन्धः-

अथैकदा विजयराजसदसि कश्चिन्नैमित्तिक आगात् । राजा तमेवमपृच्छद्- भो नैमित्तिक ! यदि भविष्यज्ञानासि तर्हि साम्प्रतं कस्य किं भवितेति वद । सोऽप्यूचे- हे राजन् ! मया सर्वं ज्ञायते, शक्यते च गदितुम् । यत्पृष्टं तदाकर्ण्यताम्, अद्यतः सप्तमे दिवसे पोतनपुराधीशस्य शिरसि विद्युत्पतिष्यति, इति निशम्य सर्वे राजादयः सभ्या भृशमखिद्यन्त । राज्ञाऽचिन्ति-भवितव्यं केन वार्यते । यदाह- "अवश्यं भाविनो भावा, भवन्ति महतामपि" इति ।

तत्रावसरे सर्वे मतिशालिनो मन्त्रिगणा एतन्निराकरणोपायमचिन्तयन् । तन्मध्यादेकोऽवादीत्-यद्येवं तर्हि कमप्यन्यं नृपं तद्दिने

तत्स्थाने संस्थाप्य रक्ष्यताम् । तन्निशम्य नृपोऽवक्-नैतद्युज्यते, निजस्य जीवातवेऽपरः कथं हन्यते ? एतत्तु महापापं वेद्मि । अपर एवमवदत्- राजन् ! भवान् तत्र दिने कुत्रचित्पोतमुपविश्य स्वयमगाधे जले तिष्ठतु । यज्जले विद्युन्नैव पतति, अनेनोपायेन नूनमेवैतद्वचोऽलीकतामुपैष्यति । इतरोऽवदत्-राजन् ! नैतद्विचारसहं प्रतिभाति, यतो विद्युत्तत्र मा पततु, पोत एव यदि जले निमज्जेत्तदा राज्ञस्तदितरेषामपि प्राणसंशयः स्यादिति । तदनु सुबुद्धिनामा मन्त्री न्यगदत्- हे स्वामिन् ! ममोक्तमपि निशम्यताम् । अद्यतः सप्तदिनपर्यन्तं श्रीजिनेन्द्रो भगवान् मनोऽभीष्ट-सिद्धिकारी भक्त्या सेवनीयस्तस्मिन् भक्तिं कुर्वतः कदाप्यापत्तिर्नोदेति । दानपुण्यादिधर्मकृत्यं यथेष्टं वितन्यताम् । सिंहासने च काष्ठमययक्षमूर्तिः स्थाप्यताम् । एतच्च नृपादिभ्यः सर्वेभ्योऽरोचत ।

ततो नृपः सप्त दिनानि तत्सर्वमकरोत् । सप्तमेऽहनि निमित्तज्ञोक्तं सत्यापयन्तीव चपला स्थापितयक्षशिरसि पपात । तेनेत्थं तद्भयाद्राजा मोचितः । सर्वे लोका मुमुदिरे । जयजयारावं च वितेनुः । तदनु राज्ञा प्रचुरधनदानेन स नैमित्तिकः सत्कृत्य विसृष्टः । एनां कथां निशम्य भवन्त उद्यमबलं पश्यन्तु । यदुद्यमेन भविष्यदपि मरणभयं राज्ञोऽनश्यत् । इति प्रत्यक्षं तत्फलं पश्यन्तो भवन्तोऽप्युद्यमं कुर्वताम् ।



२९-पुनस्तत्रैव ज्ञानगर्भाभिधप्रधानस्य अपरः प्रबन्धः-

एकदा सदसि समागतं निमित्तज्ञं नृपोऽपृच्छत्- भो विद्वन् ! काश्चिद्भविष्यन्तीमपूर्वां वार्तां कथय । सोऽपि ज्ञानतो विचार्य नृपमवदत्-

हे राजन् ! अद्यतः पञ्चदशदिनाभ्यन्तरे प्रधानस्य प्राणान्तिकः क्लेश आगमिष्यति। इत्याकर्ण्य सभातः स्वगृहं तमानीय प्रधानोऽपृच्छत्- हे निमित्तज्ञ ! मम कस्मादुत्पत्स्यते क्लेश इति वद। तेनोक्तम्-यस्ते ज्येष्ठः सुतस्तस्मात्।

अथ मन्त्रिणा सत्कृते तस्मिन् गते, मन्त्रिणा पुरुषप्रमाणैका काष्ठपेटिका कारिता। तत्र खाद्यं पेयं च निक्षिप्य ज्येष्ठपुत्रमाहूय सर्वमेतज्जगौ। सोऽपि विनीतः पितुराज्ञया तस्यामविशत्। ततस्तां सार्गलां विधाय सेवकेन नृपान्तिकमनीनयत्। उक्तञ्च-हे महाराज ! मम विपदागामिन्यस्ति। इति सम्पत्त्या किम्? अत एनां सम्पदं भवत्पार्श्वे स्थापयितुमनयम्। इत्युदीर्य तत्कुञ्चिकां तस्मै दत्त्वा जगाद- हे स्वामिन् ! एषा पञ्चदशदिनानन्तरमुद्घाटनीया।

तदनु स मन्त्री राजानं नमस्कृत्य चैत्यमेत्य जिनेन्द्रं स्तोतुमलगत्। एवमाचरतस्तस्य तानि दिनानि व्यतीयुः। राज्ञाऽपि सा मञ्जूषाऽन्तःपुरे न्यासिता।

अथैकदाऽन्तःपुरस्थिततत्पेटिकामध्यादेवं शब्दः प्रादुरासीत्। यथा-राज्ञ्या वेणी प्रधानपुत्रकरगता जाता। तदाकर्ण्य कोपाद्रक्ताक्षो नृपो दूतेन प्रधानमजूहवत्। तदादेशात्तदानीमेव स दूतस्तद्गृहमागत्य मन्दिरस्थं तं ज्ञात्वा तत्रागत्य तं नृपान्तिकमनयत्। तमागतं वीक्ष्य नृपो विमुखीभूय तस्थौ। तत्राऽवसरे मन्त्री जगाद- हे स्वामिन् ! तत्पेटिकामानाय्य विलोक्यतां तत्र किमस्तीति। नृपोऽपि तथा कृत्वा तामुद्घाट्य करधृतराज्ञीवेणिकं प्रधानपुत्रमपरकरे खड्गं दधतमपश्यत्। तद्दर्शनात्सञ्जातविस्मयस्य तस्य राज्ञः क्रोधः प्रशशाम। एतददभुतं वृत्तं सर्वत्र पुरे प्रससार। कथमेतदभूदिति? निर्णयं कर्तुं

कोऽपि नाऽशक्नोत् ।

अथाऽन्यदा तत्रागतमेकं ज्ञानिनमेतत्स्वरूपमपृच्छद्राजा । ज्ञानी वक्ति- हे राजन् ! एतस्य प्रधानस्य भवान्तरे या पत्न्यासीत्, सा मृत्वा व्यन्तरीभूता प्रधानमेनं क्लेशयितुमेतत्सर्वमकरोत् । परमेष निजोद्यमबलात्तमपि दूरमकार्षीच्च सुखी जातः । अतः सुखेप्सुभिः सर्वैरपि मनुजैः प्रधानतयोद्यमे प्रयतितव्यम् ।

अथ १४-दान-विषये-

थिर नहि धन राख्यो तेम नाख्यो न जाए,
इणि पर धन जोतां एव गत्या जणाए ।
इह सुगुरु सुपात्रे जेह दे भक्तिभावे,
निधि जिम धन आगे साथ तेहीज आवे ॥३९॥

धनस्थैर्यं नैवाऽस्ति । कृतेऽपि सहस्रप्रयत्ने नैसर्गिकमस्थिर-मेतत्स्थिरतां कदाऽपि नोपैति । इह लोके लक्ष्म्या गतित्रयं वर्तते । 'दानं भोगो नाशस्त्रेति' तत्र दानभोगौ पुण्यवतामेव भवतः । ये न ददते, न च भुञ्जते, तेषां लक्ष्म्यास्तृतीया नाशगतिर्जायते । अतः सुकृतिनो जनाः सत्पात्रेषु धर्ममार्गेषु च निजां सम्पत्तिं व्ययीकुर्वते । तानि दानपुण्यादीन्येव भवान्तरे निधीभूय तस्याऽनुगच्छन्ति । इह लोके ये ये वदान्या अभूवन् तान्दर्शयति ॥३६॥

नल बलि हरिचंदा भोज जे जे गवाए,
प्रह समय सदा ते दान केरे पसाए ।
इम हृदय विमासी सर्वदा दान दीजे,
धन सफल करीजे जन्मनो लाभ लीजे ॥४०॥

इह जगति पुरा किल नल-बलि-हरिश्चन्द्र-भोजप्रमुखा वदान्यतया सर्वेषां प्रातःस्मरणीया बभूवुः । इति दानमाहात्म्यं हृदये निधाय यथाशक्ति सुपात्रादिक्षेत्रेषु सल्लक्ष्मीं वितीर्य सर्वैरेव मनुष्यत्वं सार्थकं नेयम् ।।४०।।

३०-अथ दानगुणोपरि कर्णराजस्य कथानकम्-

इह कर्णो राजा दातृणामग्रेसर आसीत् । सोऽन्यदा चित्राङ्गद-विद्याधरस्य केलिवनोपमर्दनात्तेन कारागारे न्यस्तः । तत्रैकदा कश्चन देवयाचकस्तत्परीक्षार्थमागत्य तमस्तावीत् । तदाकर्ण्य सोऽवक्-भो याचक ! ममेदानीं किमपि नास्ति, इत्युक्तेऽपि पुनर्निराशतां मा यात्वसौ, इति मनसि ध्यात्वा तदानीं शिलाशकलेन निजदन्तजटितस्वर्णशलाकां निष्काश्य तस्मै ददौ। यथा रङ्कत्वेऽपि स दानगुणं नाऽमुञ्चत्, तथाऽन्यैरपि नैव त्याज्यः । अतः यथाशक्ति दानं विधातव्यमेव ।

अथ १५-शील-विषये-

अशुभ करम गाले शील शोभा दिखाले,
गुण गण अजुआले आपदा सर्व टाले ।
जस नर बहु जीवी रूप लावण्य देई,
परभव शिव होई शील पाले जिकेई ।।४१।।

अहो ! शीलं यदेतल्लोकस्याऽशुभानि कर्माणि नाशयति, शोभां वर्धयति, सङ्कटमपाकरोति, गुणान् निर्मलीकरोति । किमधिकं वच्मि, शीलपाली नरो यशस्वी तेजस्वी दीर्घजीवी रूपलावण्या-दिसद्गुणभाग्भवति । परत्र च मोक्षमुपैति ।।४१।।

इण जग जिनदास श्रेष्ठी शीले सुहायो,
तिम निरमल शीले जेम गंगेय गायो ।

कलि करण नरिंदा ए समा छे जिकोई,
परभव शिव पामे शील पाले तिकोई ॥४२॥

इह पुरा लोके शीलेन जिनदासाऽभिधः श्रेष्ठी शुशुभे। तथा भीष्मः सच्छीलगुणेन रराज। इह च कलिकालेऽपि कर्णः शीलशाल्यभूत्। एतेषामिव ये शीलमपालयन्, ये पालयिष्यन्ति पुनर्ये पालयन्ति, ते सर्वे परत्र मोक्षमाप्नुवन्, प्राप्स्यन्ति, प्राप्नुवन्ति च। इहापि तेषां सोनीगोत्रीयसङ्ग्रामश्रेष्ठिवन्महती कीर्तिः प्रसरति। लोकास्तद्वचः प्रमिन्वन्ति, अतः शीलमाहात्म्यं विशिष्टं मत्वा सर्वैस्तत्पाल्यं, यतः-चतुर्निकायदेवदेवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽपि तच्छीलशालिनो नमस्कुर्वन्ति।।४२।।

३१- अथ शीलपालने सुदर्शनश्रेष्ठिनः कथानकम्-

कश्चित्सुदर्शनाख्यः श्रेष्ठी चम्पापुर्यो जज्ञे, तदुपरि अभया राज्ञी मुमोह। सा चैकदा रहसि कपटेन तमाहूय हावभावेन[1] समालपन्ती तच्छीलखण्डनाय भृशमयतत। तथाऽपि निश्चलं तमालोक्य सा तमेवमवक्-हे श्रेष्ठिन्! मया सह रमस्व, त्वदनुरागिणीं मां भुङ्धि। नो चेद्राज्ञा ते पराभवं कारयिष्यामि। तदाकर्ण्य तेनोक्तं -अयि राज्ञि! तवोक्तं सर्वं चिकीर्षामि, परं मम तनौ मनागपि पौरुषं न विद्यते, तद्विना किम्भवेत्? इत्युदीर्य शीलं रक्षितम्।

अथाऽन्यदा तत्र नगरे कोऽपि महोत्सवोऽभूत्। तत्र सर्वे

1. हावो मुखविकारः स्याद्, भावश्चित्तसमुद्भवः। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो, विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः।।१।।

लोकाः सज्जितगात्रास्तत्रोद्याने जग्मुः । अभयाराज्ञ्यपि गवाक्षस्था पुरकौतुकं विलोकमाना तन्मार्गेण गच्छतः समानवयसः सुन्दरान् यूनः षट्पुरुषानपश्यत् । तानलक्षितान् मत्वा सखीमपृच्छत्-अयि सखि ! एते के यान्ति ? सोचे-मनोरमाकुक्ष्युत्पन्ना अमी सुदर्शनश्रेष्ठिनः पुत्रा यान्ति । तदा राज्ञ्यवक् तस्य- पौरुषमेव नास्ति, तर्हि तस्य पुत्राः कथमभूवन् ? असम्भवमेतत्करतलकचमिव प्रतिभाति । सखी वक्ति- मया सम्यगालक्ष्यैवाऽमी सुदर्शनसुता इत्युक्तं, अत्र सन्देहं मा कृथाः। तदाकर्ण्य राज्ञी मनसि विचिन्तयति- नूनं स मां वञ्चयित्वा गतः। अतस्तं केनाऽप्युपायेन मारयाणि तर्हि वरमिति ध्यात्वा सीमन्तमुन्मुच्याऽऽभरणानि सर्वाणि विमुच्य जीर्णमञ्चकोपरि चिन्तातुरीभूता सा स्थिताऽभूत् ।

ततः क्षणानन्तरं तत्र राजाऽऽगात् । राजा तां तथाऽऽलोक्याऽपृच्छत्- अयि प्रियतमे ! अद्य ते किञ्जातम् ? यदेवं सुप्ताऽसि, तदा राज्ञो महाग्रहेण साऽवक्-स्वामिन् ! अतः परमियं नगरी वसितुं न युज्यते । राजाऽवक्- तत्कारणं ब्रूहि ? केनाऽपि तव किमप्यपराद्धम् । अज्ञाते सति कथं तदुपायं करोमि ? अतः सत्वरं निजदुःखस्य कारणं वद । येन तदुपायं विधाय सत्वरं त्वां सुखिनीं विदधीय ।

इत्याकर्ण्य साऽवक्-हे महाराज ! यदा त्वं रथवाटिकामगास्तदा सुदर्शनः श्रेष्ठी मदन्तिकमागत्य हठान्मच्छीलं भङ्क्तुं बहु प्रयत्नमकरोत् । तदवाच्यमेव विद्धि । दैवेनैव तदा मे शीलं रक्षितम् । तत्स्मृत्वाऽधुनाऽपि मे मनः शरीरञ्च कम्पते । अतोऽत्र स्थातुं नेच्छामि।

तच्छ्रुत्वा तदैव तन्निग्रहाय दूतः प्रेषितः । तदाऽऽनीते तस्मिन्

राज्ञाऽविचार्यैव भृत्यान् सुदर्शनस्य शूलारोपणमादिशत् । लोका हाहारवं चक्रुः । तेऽपि तं तत्स्थानं निन्युः । तत्र च यदा ते सुदर्शनमखण्डितशीलव्रतं शूलिकायामारोपयितुं लग्नास्तदा शासनदेवतया तत्क्षणं तां भङ्क्त्वा सिंहासनमकारि, तच्च देवविमानमिवाधराश्रितमशोभत । सुदर्शनोपरि पुष्पवृष्टिर्जाता । येनाऽसौ निर्दोषः शीलवान् सुदर्शन उपद्रुतस्तस्याहं शिक्षां करिष्यामि, इत्याकाशवाण्यप्यभूत् । तां श्रुत्वा सर्वे नृपादयः पौराश्चिन्तामापुः ।

ततो नृपादयः सर्वे सविनयं तत्पदयोः पतन्तस्तद्गुणं गायन्तस्तं महता महेन नृत्यवाद्यादिकं वितन्वन्तो गजारूढं विधाय पुरमानिन्युः। ईदृशस्य शीलस्य माहात्म्यं केऽपि वक्तुं न शक्नुवन्ति, तस्याऽतुलत्वादतः सर्वैः श्रेयोऽर्थिभिः सदैव शुद्धं शीलं पालनीयम् ।



३२-अथ शीलविषये गाङ्गेयस्य कथा दर्श्यते-

यथा शान्तनुनृपस्य गङ्गाराज्ञीकुक्ष्युत्पन्नो गाङ्गेयो युवराजः पितुरिच्छां पूरयितुं कञ्चन धीवरं कन्यामयाचत । तदा स मत्स्यजीवी तमेवमवदत्- भो युवराज ! मम दौहित्रो राज्यं न लप्स्यते, तद्राज्यं तवैव मिलिष्यति, अतः कथमहं तव पित्रे सुतां दद्याम् ? तदा तेन प्रतिज्ञाय स भणितः - भो ! मम पित्रे सुतां देहि । यस्ते दौहित्रो भविता, स एव राज्यभाक् भविष्यति । आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतं मयाऽङ्गीक्रियते । इत्थं पितुः कामं परिपूर्णमकृत । स्वयमाजन्माऽतिदुष्करं ब्रह्मचर्यं परिपाल्याऽतुलं बलमाप । पाण्डवकौरवयोर्युद्धे बाणविद्धोऽपि विरागात् संयमं लात्वा देवगतिमीयिवान् । एवमन्यैरपि शीलं सम्यक्

पालनीयम् । यत्प्रभावेण सर्वे कामाः सफलीभवन्ति । परत्र च मोक्षसुखं सुलभं जायते ।

अथ १६-तपोविषये-

तरणि किरण थी ज्यूं सर्व अंधार जाए,
तप करि तपथी त्यूं दुःख ते दूर थाए ।
वलि मलिन थयुं जे कर्म चंडाल तीरे,
तिम तनुज पखाले ते तप स्वर्णनीरे ॥४३॥

यथा सूर्यांशवः सकलमन्धकारं प्रणाश्य जगददः समस्त-मुद्योतयन्ति । तथा तपस्तेजांसि समस्तानि दुःखान्युन्मूल्य तदनुष्ठातृपुंसः प्रभासयन्ति । किञ्च- बलवत्कर्मचाण्डालकृताऽपवित्रममुं कायं निर्मलीकर्तुं तपांस्येव प्रभवन्ति स्वर्णनीरवत् ॥४३॥

तप विण नवि थाए नाश दुष्कर्म केरो,
तप विण न टले ते जन्म संसार फेरो ।
तप बल लहि लब्धी गोतमे नंदिषेणे,
तप बल वपु कीधुं विष्णु वैक्रीय जेणे ॥४४॥

तपो विना कर्माणि निर्जरतां न यान्ति । तथा तदाराधयतां जन्मजरामरणानि विलीयन्ते । ततस्ते सुखेन मोक्षमधिगच्छन्ति । तपसः प्रभावादेव गौतम-नन्दिषेणप्रमुखा लब्धिमापुः । किञ्च- तन्माहात्म्यतो विष्णुकुमारो वैक्रियं लक्षयोजनप्रमाणं विग्रहमकार्षीत्, पुनरन्यायवर्तिनं नमुचिप्रधानं मारयामास ॥४४॥



३३-तपःप्रभावोपरि लब्धिमतो गौतमस्वामिनः कथानकम्-

श्रीमहावीरस्वामी भगवानेकदा देशनाकाले किलैवं जगाद। तथाहि- ये खलु स्वलब्ध्याऽष्टापदतीर्थयात्रां कुर्वन्ति, तेऽवश्यं सिद्ध्यन्ति। तदाकर्ण्य गौतमस्वामी भगवदाज्ञां लात्वा तथाकर्तुमचलत्। अनुक्रमेणाऽष्टापदतीर्थसमीपमागतः।

तत्र पूर्वतः संस्थितास्त्र्यधिकपञ्चदशशततपस्विनस्तमालोक्य परस्परमूचुः- अहो! वयं तपःकृशा एनमारुह्य यात्राङ्कर्तुं न शक्नुमस्तर्हि करीन्द्रवत्स्थूलोऽसौ तदुपरि चटित्वा तां विधातुं कथं शक्ष्यति? अथ गौतमोऽपि सूर्यकरावलम्बतस्तमारुरोह। तत्राऽवसरे तं वीक्ष्य ते तापसा एवं निश्चिक्युः। नूनमसौ लब्धिमानस्ति। नो चेत्कथमेतत्सम्भाव्यते। भवतु, यदाऽसौ पुनरत्र परावर्त्स्यति तदा वयमपि सर्वे तद्गुरुं कृत्वा लब्धिमाप्स्यामः।

इतस्तदुपरि समागतो गौतमश्चतुरष्टदशद्विकानीत्यनुक्रमेण भरतप्रतिष्ठापितस्वर्णमयचतुर्विंशतिजिनेन्द्रबिम्बानि दर्शं दर्शं भावस्तवचैत्यवन्दनं विधाय जगच्चिन्तामणेः सकलां स्तुतिं कृत्वा चैत्याद् बहिरागत्योपाविशत्। तावत्तत्र तिर्यग्जृम्भकदेवीभूतो वज्रस्वामिजीव आगात्। तम्प्रतिबोध्य, स तदुत्तीर्य नीचैराययौ। तत्रावसरे ते सर्वे तापसास्तच्चरणयोर्निपेतुस्तच्छिष्याश्च जाताः।

ततस्तैः सह मार्गे गच्छन् स गौतमस्वामी कमपि ग्राममासाद्य तानपृच्छत्- भोः तपस्विनः! यूयं किं भोक्ष्यध्वे? तैरुक्तम्- स्वामिन्! पञ्चामृतमशितुमद्य नो वाञ्छा जागर्ति। तद्वचः श्रुत्वा स्वयमेव गोचर्यै

पुरं प्राविशत् । कश्चित्सद्गृही भक्त्या तस्य पायसं प्रत्यलाभयत् । तल्लात्वा समागते गौतमे ते दध्युः- अहो ! इयता पायसेनाऽस्माकं तिलकमपि न सम्पत्स्यते, तर्हि तृप्तिः कथं भविष्यति ?।

यावदेवं विचिन्तयन्ति, तावद्गौतमेनोक्तम्- भो महानुभावा ! युष्माभिः समागम्यतां। तदनु भोजनार्थमेकस्यां पङ्क्तौ सैकपञ्चशत-तापसानुपावेशयत्, तावतस्तानपरपङ्क्तौ, तृतीयस्यामपि तावतस्तां-स्तापसानुपावेशयत् । इति परिपाट्या समुपविष्टांस्तापसानशेषान् तत्र पायसे 'अक्षीणमानसी' लब्धिरिति मन्त्रमुच्चार्य्य निजाऽ-ङ्गुष्ठमारोपयन् परिवेष्य यथेच्छमभोजयत् । तदा स तानपृच्छत्- किं भोः ! कस्यचित् किञ्चिदपेक्षते ? तैरुक्तम्- वयं सर्वे तृप्ता अभूम । ततस्तत्पात्रादङ्गुष्ठे समुद्धृते पुरानीतप्रमाणं पायसं तत्पात्रेऽवशिशेष, तावता पायसेन स निजतृप्तिमकरोत् ।

तत्राऽवसरे तेषामश्नतां सद्भावनां भावयतामेकपङ्क्त्युप-विष्टानामेकाधिकपञ्चशततापसानां तत्कालमुज्ज्वलं केवलज्ञान-मुत्पेदे।

ततोऽग्रे चलन् स तैः पृष्टः- हे स्वामिन् ! कुत्र गच्छसि ? तेनोक्तम्-निजगुरुसमीपम् । पुनस्तैरुक्तम् भवतो गुरवः कीदृशाः सन्ति ? तदा गौतमो गुरून् वर्णयन् जगाद-भोः तपस्विनः ! मम गुरोः स्वरूपमाकर्णयत । नूनमिह काले साक्षात्कल्पद्रुमोऽस्ति। स खलु-अष्टविधमहाप्रातिहार्यरूपया बाह्यलक्ष्म्या शोशुभ्यमानोऽस्ति । सदा त्रिदशगणैः सेव्यमानो वर्तते । त्रिभुवननायकः छत्रचामरसिंहासना-दिभिर्विराजते । इत्थं गुरुतरगुरुवर्णनमाकर्णयतां तेषामेकोत्तर-

पञ्चशततापसानां केवलज्ञानमुदपद्यत ।

ततोऽग्रे गत्वा समवसरणमालोक्य ते पप्रच्छुः- हे स्वामिन् ! किमेतद्विलोक्यते ? गौतमोऽवदत्। एतन्मम गुरोः समवसरणं विद्यते, तच्छ्रुत्वाऽवशिष्टैकोत्तरपञ्चशततापसानामपि केवलज्ञानमुत्पन्नम-भूत् । इत्थं ते त्र्युत्तरपञ्चदशशततापसाः सर्वे केवलिनो बभूवुः । तदा गौतमस्तानशिक्षयत - भो महाशयाः ! तत्र गत्वा यथाऽहं गुरुं वन्देयं, तथा भवद्भिरपि वन्दनीयस्तैरपि तदुक्तमङ्गीकृतम् । ते निजोत्पन्नं केवलं तस्य नाऽऽचचक्षिरे ।

अथ प्रभोः समवसरणमागत्य गौतमः प्रभुं यथाविधि ववन्दे पृष्ठे च तानपश्यन् केवलिपङ्क्त्युपविष्टानशेषानद्राक्षीत् । तदानीं तानवोचत गौतमः - भो महाशयाः ! पूर्वं शिक्षिता अपि भवन्तः प्रभुवन्दनामकृत्वा तत्र कथमुपाविशन् ? अत्राऽवसरे भगवतोक्तम्- हे गौतम ! केवलिनामेतेषामाशातनां मा कृथाः, तदा गौतमः प्रभुमपृच्छत् - हे प्रभो ! मम केवलमुदेष्यति न वा ? प्रभुणोक्तम् - तवाऽपि चरमे वयसि तदुत्पत्स्यते । तच्छ्रुत्वा गौतमो जहर्ष ।

एतस्याः कथायाः सारत्वेनैतद् ग्राह्यमस्ति । यथा-गौतमस्तपोभिर्महतीं लब्धिमाप, तद्बलेन दुष्करामपि तीर्थयात्रामकरोत्, त्र्युत्तरसार्धसहस्रतापसानभोजयत्, तथाऽन्यैरपि तपः कृत्वा लब्धिं प्राप्य कर्मोन्मूलनं कार्यम् ।

३४-पुनस्तपःप्रभावविषये नन्दिषेणमुनेः प्रबन्धः-

यथा-राजगृहनगरे श्रेणिकराजस्य नन्दिषेणनामा तनयोऽभूत् । स यौवने पित्रा पञ्चशतकन्याभिः पर्यणायि । तत्राऽन्यदा

महोद्याने वीरप्रभुरागत्य समवसरत् । तं वन्दितुं सपरिवारः श्रेणिकराजस्तत्राऽगात् । भगवन्तं वन्दित्वा देशनां सर्वेऽशृण्वन् । तदा भगवद्वाणीं श्रुत्वा प्रतिबुद्धो नन्दिषेणः स्वालयमेत्य मातापितरौ संयमानुज्ञामयाचत । तदा ताभ्यां गृहवासाय बहुभिर्दृष्टान्तैः प्रतिबोधितोऽपि स तत्क्षणमञ्जसा वीरप्रभोरन्तिकमागत्य चारित्र-प्रदानार्थमभ्यार्थयत ।

तत्रावसरे चाकाशवाण्यप्यभूत्-अस्येदानीं भोग्यकर्मोदयोऽ-वशिष्यत इति । भगवताऽपि तथैव भणितम् । सर्वमगणयन् मनसि च योऽधुना मया त्यज्यते सोऽग्रे मां कथं बाधिष्यत इति चिन्तयन् संयमाय समुत्सुकीभूय सद्यः प्रभोः पार्श्वे प्रव्रज्यां ललौ ।

ततः परं स शुष्करुक्षाऽऽहारादिनाऽतिदुष्करं तपः कुर्वन्नपि मदनेन विव्यथे । ततोऽतिदुःखीभूय झम्पापातं विदधद्देवतया निवारितः । ततः परं स महान्ति तपांसि कुर्वन् शरीरमस्थिमात्राऽवशेषमकार्षीत् ।

अथैकस्मिन् प्रस्तावे स राजगृहनगरे गोचर्यै व्रजन् भ्रमाद् गणिकालयं गत्वा धर्मलाभमदात् । तमालोक्य गणिका जगौ-एहि, परं त्वादृशेन शक्तिविहीनेन विरागिणा किं मे मनोरथः सेत्स्यसि ? मम धर्मलाभेनाऽलम् । केवलमर्थलाभ एवात्र सदाऽपेक्ष्यते । तस्या ईदृशं हास्यवचनमाकर्ण्य मनस्यहङ्कारमानीय पुरः पतितं दर्भतृणमेकं लात्वा सोऽवक्-मम तपसः प्रभावादत्राऽधुना दीनारराशि-र्जायतामित्युक्ते तत्कालमेव तत्र तच्छरीरप्रमाणोन्नता सार्धद्वादश-कोटिदीनारराशिरजायत । अहन्तु रभसादवोचम्, मुनिस्तु सत्यमेव मदुक्तमकरोत् । इति महाद्भुतं तदालोक्य सा चमत्कृताऽभूत् ।

अथ ततः परावर्तमानं मुनिमालोक्य झटिति तत्पुरो गत्वा तद्वस्त्रं धृत्वा तमेवमवदत्- हे नाथ ! ममाऽबलाया उपरि रुष्टो भूत्वा कथं यासि ? यदि यासि तर्हि निजमेतावद्धनं गृहीत्वा व्रज । नो चेदत्रैव स्थित्वा मया सह सुखं भुञ्जन्नेतदुपभोगं कुरु । इत्युदीर्य यावत्सा विरराम तावदेवमशरीरिणी वाक् प्रादुरासीत्- हे मुने ! मा गाः, अनया सहैव ते द्वादशवर्षाणि भोग्यकर्मोदयोऽस्ति सोऽन्यथा न भविष्यति । इत्याकाशवाणीं श्रुत्वा स नन्दिषेणो धर्मध्वजं मुखवस्त्रं पात्रादीन्युपकरणानि चोच्चैः स्थापयित्वा तत्रैव गणिकालयेऽतिष्ठत् ।

परन्तु परमात्मनि दर्शनं विशुद्धमासीत् । ज्ञानादय आभ्यन्तरगुणा अपि निर्मला आसन् । "यस्येदृशी शुद्धात्मदशा वर्तते, स बाह्यनिमित्तकारणतया स्वगुणाऽनुभवमन्तराऽऽत्मानं निर्मलं कर्तुं न शक्नोति ।" इति विचार्य सुभावनां भावयता तेन प्रतिज्ञातम्- यदत्राऽपि प्रतिदिनं दशजीवा मया प्रतिबोधनीया इति ।

ततस्तत्रस्थः स प्रत्यहं दश दश जीवान् प्रतिबोध्य वीरप्रभोस्तथैव स्थविरसमीपे प्राहिणोत् । इत्थं कुर्वन् द्वादशवर्षेषु गणिकालयस्थः सेवमानश्च तां द्विचत्वारिंशत्सहस्रजीवान् प्रतिबोध्य प्रभोस्तथा स्थविराणां समीपे प्रेषितवान् । तेऽपि तत्प्रतिबुद्धास्तयोरन्तिके दीक्षां ललुः ।

इत्थं द्वादशवर्षैस्तस्य कर्मसु क्षीणेष्वेकदा स नवजीवान् प्रत्यबोधयत् । तदा दशमो नाडिन्धमः समागात् । तेनोक्तम्- किम्भोः! त्वं सर्वान् प्रतिबोधयसि, परं स्वयं गर्हितां गणिकां सेवमानः कथं न प्रतिबोधमाप्नोषि ? तत्राऽवसरे पाके सम्पन्ने भोजनार्थं तदागमं प्रतीक्षमाणा कालातिक्रमे पाकेऽपि च शैत्यं गते सा तदन्तिकमेत्य

मधुरया भाषया भोक्तुं तमाजुहाव । तेनोक्तम्-त्वं याहि, अहमागच्छामि । साऽपि गत्वा पुनः पाचिता भोजनसामग्री सम्पन्ने च पाके तदन्तिकं द्वित्रिवारं दासीमप्रैषीत्, तथापि तमनागतं वीक्ष्य स्वयमागत्य सा जगाद- हे स्वामिन् ! उत्तिष्ठ, वेलाऽतिक्रमो जातो मामपि च नितरां क्षुधा बाधते । तेनोत्तरितं दशममप्रतिबोध्य कथमुत्तिष्ठेयम् ?, तच्छ्रुत्वा तया किञ्चिदाक्रोशमयप्रश्रयेण स भणितः- एष कामुको यदि न वेत्ति तर्हि त्वयापि गन्तव्यम् । इत्युक्त्वा पुनर्न्यगदत्- हे नाथ! इहेदानीं दशमो न दृश्यते, स्वमेव दशमं जानीहि । इत्युत्तिष्ठ भुङ्क्ष्व, तदुक्तमाकर्ण्य तत्क्षणमेव सर्पः कञ्चुकमिव क्षीणकर्मा स गणिकालयं त्यक्त्वा धर्मध्वजमुखवस्त्राद्युपकरणानि च लात्वा प्रभोरन्तिकमागात् । अथ पुनश्चारित्रं लात्वाऽऽत्मार्थमसाधयत् ।

इदमत्र सारतयाऽवधार्यम्-यथा स तपोमाहात्म्यात्तृणमात्रग्रहणेन दीनारराशिमकरोत् । तत्तपोमाहात्म्यं ज्ञात्वाऽन्यैरपि तथा सादरं तपो विधेयम् । पुनरयं मुनिर्भोग्यकर्मोदयाद्यथा चारित्राच्च्युतोऽपि शुभकर्मप्रादुर्भावात्स्वल्पादपि वेश्यावचनात्प्रतिबोधमाप, तथैवान्यैर्धर्मभ्रष्टैरपि भवभीरुभिः प्राणिभिर्निजात्मधर्मे प्रमादं विहाय प्रयतितव्यम् ।



३५-पुनरपि तपःप्रभावोपरि विष्णुकुमारस्य कथानकम्-

तथाहि-उज्जयिन्यां पुर्यां धर्माभिधानो राजास्ति । तस्य नमुचिनामा मिथ्यादृष्टिः प्रधानोऽस्ति । तत्राऽन्यदा पञ्चशतमुनियुतः सुव्रताचार्यः समागात् । तद्वन्दनार्थं सपौरः सकुटुम्बः क्षितीश आययौ ।

नमुचिरपि क्षितिभुजा सह तत्राऽऽगत्य निजौद्धत्येन गुरुणा सह विवदितुं लग्नः । तदैकेन क्षुल्लकेन शिष्येण सुखेन स विजिग्ये । निशि तान् विहन्तुं तरवारहस्तो नमुचिर्मुन्युपाश्रय आगतः, शासन-देवता तदा तं स्तब्धीचक्रे प्रभाते च सर्वे पौरास्तं भृशं निनिन्दुः ।

ततस्तेन लज्जितः स हस्तिनागपुरमगात् तत्र च पद्मोत्तराख्य-नृपस्य राज्ञीद्वयमस्ति । एका ज्वालाऽभिधाना सम्यक्त्ववती द्वितीया लक्ष्मीदेवी मिथ्यात्विनी चास्ति । तत्र ज्वालाया विष्णुकुमार-महापद्मकुमारौ पुत्रावभूताम् ।

अथैकदा ज्वालादेवी जिनेश्वररथं लक्ष्मीदेवी च ब्रह्मणो रथमचीकरताम् । द्वौ रथौ नगरे भ्रामितौ परस्परमेकत्र मिलितौ । तदा दलद्वये विवादो जातः । तत्रावसरे मिथः कलहमालोक्य येन मार्गेण तत्राऽऽगतौ तेनैव मार्गेण राज्ञा तौ रथौ परावर्तितौ । तेन महापद्मकुमारो रुष्टो भूत्वा देशान्तरमगच्छत् । नानादेशकौतुकं पश्यन् महतीं समृद्धिमधिगच्छन् चक्रवर्तिराज्यमाप ।

अथाऽन्यदा स सार्वभौमश्रिया शोभमानः स्वनगरीमागतः । नमुचिरपि हस्तिनागपुरमनेकदेशान् परिभ्रम्य पुनः समायातः । स महापद्मकुमारममिलत्, सोऽपि तं प्रधानपदे न्ययुङ्क्त । पद्मोत्तरो राजा विष्णुकुमारेण सह सुव्रताचार्यसमीपे चारित्रं ललौ । इतश्च महापद्मचक्रवर्ती मातुर्मनोरथं रथभ्रमणात्मकं तदा पुपूरे । विष्णुकुमारो मुनिर्महतीं तपस्यां कृत्वा तत्प्रभावेण मेरुशिखरमासाद्य कायोत्सर्गे तस्थौ । इत्थं तपस्यतस्तस्य वर्षसहस्रं व्यत्यैत् ।

इतश्च सुव्रताचार्यो निजपरिवारैः सह तत्र चतुर्मासीं विधातुमा-

गात् । तदाकर्ण्य दुष्टेन नमुचिनाऽचिन्ति- यदनेन पुराऽहं निर्जित्य स्थानात्त्याजितोऽस्मि । अतोऽसौ मम वध्य एवेति विचिन्त्य चक्रवर्तिपार्श्वमेत्य तं पुरा न्यासीकृतं वरमयाचत । सोऽप्यवक्-मार्गय दास्यामि, तदा दिनत्रयं मे राज्यं देहीति याचितवान् । तथास्त्विति निगद्य नृपोऽन्तःपुरमविशत्, नमुचिश्चक्रवर्त्यभूत् ।

तदा सर्वे प्रधानपौरा अधिकृतपुरुषाः सन्तो महान्तस्तदन्ये धर्माचार्यादयस्तन्मिलनाय समाजग्मुः, परं स सुव्रताचार्यो नाऽगात् तदा तेन नमुचिचक्रवर्तिना लोकमुखेन तस्य कथापितम् । यथा-त्वं मम मिलनाय नाऽऽगाः, अतस्त्वं दिनत्रयाऽभ्यन्तरे मद्राज्यभूमिं त्यज नो चेद् घातयिष्यामि । एवं तदादेशं श्रुत्वा मुनिनाऽपि सङ्घमुखेन तस्यैवं कथापितम्- जैनसाधवः कस्याऽपि मिलनाय न गच्छन्ति, न च चातुर्मास्ये बहिरन्यत्र प्रयान्ति, इति लोकैर्बहुधाऽभ्यर्थितोऽपि नमुचिर्निजादेशं न परावर्तयत किन्तु यातु यात्वित्येवाऽऽदिष्टम् ।

तदाचार्यो मेरोर्विष्णुकुमारमेतद्वृत्तमावेद्य समाकारयत् । सोऽपि तत्राऽऽगत्य गुरुमवन्दत । तत आचार्यः सर्वमादितो नमुचिनृपा-देशमाचख्यौ । ततो विष्णुकुमारो महापद्मान्तिकं गत्वा जगाद- भोः ! साधोरुपसर्गं कथं करोषि ? तेनोक्तम्-किङ्करोमि, वचनेन बद्धोऽस्मि ।

तदनु नमुचिपार्श्वमेत्य तं बहुधा स प्रत्यबोधयत्, परं मनागपि स नाऽबुध्यत । पुरा दत्ताऽऽदेशं मुधा नाऽकरोत् । यदि स मम राज्यतो न निर्गमिष्यति तर्हि तमवश्यमहं घातयिष्ये । तदुक्तमीदृशं श्रुत्वा विष्णुकुमारोऽवदत्-कुत्राऽपि किञ्चिदपि मे भूमिं दित्ससि न वा? तदा तेनोक्तम्-भवत्कथनेन पदत्रयां भूमिं ददामि । तत्राऽवसरे

विष्णुकुमारो लक्षयोजनाऽऽयतं शरीरं विकृत्यैकं पदं पूर्वस्यां दिशि द्वितीयं पदं प्रतीच्यां न्यस्य तमवोचत- हे नमुचे ! तृतीयं चरणं धर्तुं भूमिं ददस्व नो चेत्त्वं स्वपिहि। तदा भूमिमप्राप्य सुप्तस्य तस्य पृष्ठ एव स तृतीयं चरणं न्यधात् । तेन नमुचिर्वसुन्धरां विवेश, इत्थं स तपःप्रभावात्सर्वमुपसर्गं न्यवारयत् तादृशं रूपं च विचक्रे ।

तत्तपःप्रभावादनेके सत्पुरुषाः संसारं तेरुस्तरिष्यन्ति च । इति तपोमाहात्म्यमतुलं मत्वा स्वात्महितेच्छुभिः सर्वैरपि तदर्जने प्रयतितव्यम् । प्रमादः स्वल्पोऽपि नैव करणीयः ।

अथ १७-भावना-विषये-

मन विण मिलवो ज्यूं चाववो दंत हीणे,
गुरु विण भणवो ज्यूं जीमवो ज्यूं अलूणे ।
जस विण बहु जीवी जीय ते ज्यूं न सोहे,
तिम धरम न सोहे भावना जो न होहे ॥४५॥

मनो विना मित्रादेर्मिलनमिव, दन्तं विना चर्वणमिव, गुरुं विना ज्ञानार्जनमिव-पठनमिव, लवणं विना भोजनमिव, भावं विनाऽनुष्ठितो धर्मो बोध्यः । यथा यशोविहीनो नरो न शोभते, तथा धर्मोऽपि भावं विना न शोभते, नैव फलति च। अतो भावनापुरस्सरमेव धर्मोऽनुष्ठेयस्तथाकुर्वन्नेव फलमाप्नोति नान्यथा ॥४५॥

भरत नृप इलाची जीरणश्रेष्ठि भावे,
वलि वल्कलचीरी केवलज्ञान पावे ।
हलधर हरिणो ज्युं पंचमें स्वर्ग जाए,
इह ज गुण पसाये तास निस्तार थाए ॥४६॥

किञ्च- भावनां भावयन्नेव भरतचक्रवर्ती, इलाचीकुमारश्च केवलज्ञानमाप। तथा जीर्णश्रेष्ठी स्वर्गीयं सुखमैत्। किमधिकं यो वल्कलचीरी सोऽपि भावनाबलात्केवलज्ञानमियाय। तथा बलभद्र-मुनिमृगौ पञ्चमे ब्रह्मदेवलोके देवत्वेनोत्पन्नौ। भावनातः कियन्तो मुक्ताश्चान्ये मोक्षमाप्स्यन्ति। अतः सर्वैरेव भावना भावनीया ॥४६॥



३६-अथ भावनाफलोपरि भरतचक्रवर्तिनः कथानकम्-

इह भरतचक्रवर्ती षट्खण्डां पृथिवीं संसाध्य सञ्जात-दिग्विजयश्रीभासुरः स्वगृहमागात्। तत्र च राज्यसुखमनुभवन्ना-सीत्। सोऽन्यदाऽऽदर्शभवने समुपागतः सुखासीनः शरीरशोभां वीक्षितुमलगत्। सर्वाङ्गं शोभमानमालोक्य केवलमनामिकामेव मुद्रिकाविहीनतयाऽभव्यामपश्यत्। तदा तेनाऽचिन्ति-सर्वाङ्गं मे सभूषणं शोभते। इयमेकैवाऽङ्गुली तद्विहीना न शोभते। अहो! यदेकाप्य-नामिकाऽऽभरणवियुक्तेति तर्हि सर्वाङ्गं साभरणमपि शोभां नैव धत्ते। यद्यखिलेष्वाभरणं न स्यात्तदा शरीरस्य शोभा कीदृशी स्यात्? इति विचिन्त्य सर्वाङ्गेभ्य आभरणान्यपाकरोत्। तदा तच्छरीरं विच्छायम-पश्यत्। तदैव सोऽनित्यभावं भावयन् क्षपकश्रेणीमधिगच्छन् घात्यं कर्म क्षपयित्वा केवलज्ञानं प्रपेदे। तत्कालं साधुवेषं तस्मै शासनदेवता ददौ। तदा दशसहस्रनृपैः सह स ततो विजह्रे। चिरं पृथिवीं पवित्रयन् जनान् प्रतिबोधयन्नष्टापदतीर्थमागत्य अघात्यानि कर्माणि निहत्य भरतचक्रवर्ती मोक्षमियाय, एतदनित्यभावनायाः फलमवगन्तव्यं सर्वैर्भव्यैः।

३७-एतस्मिन्नेव विषये एलाचीकुमारस्य प्रबन्धः-

यथा-एलापुरवर्धनाऽभिधे नगरे कस्यचिदिभ्यस्य व्यवहारिण एलाचीपुत्र आसीत् । स शैशवानन्तरं द्विसप्ततिकलासु निपुणो जज्ञे मातापित्रोश्च प्रेयानभूत् ।

तत्रैकदा कश्चन नटमण्डल आगात् । तत्पुत्रीमतिरूपवतीमालोक्य स नितरां मुमोह । ततः स नटमवक्- भो नट ! निजपुत्रीं मे देहि । नटेनोक्तम्- भोः कुमारः ! *लोके सर्वैः स्वजातिमध्ये पुत्री दीयते । त्वं विजातीयोऽसि अतस्ते सुतामेनां न दित्सामि ।* पुनस्तेन प्रचुरधनलोभे दर्शिते नटोऽवदत्- भोः कुमार ! यदि मम पुत्रीं परिणेतुमिच्छसि, तर्हि मद्वेषेण मत्सविधे स्थित्वा नाटकीं विद्यां शिक्षस्व । कमपि राजानं च विद्यया प्रसाद्य धनमर्जय तदा ते पुत्रीं दास्यामि ।

तद्वचोऽङ्गीकृत्य स पितरौ जगाद- हे पितरौ ! अहं किल नटवेषेण तत्सार्थे स्थातुमिच्छामि युवामनुज्ञां दत्तम् । यतो मे तत्पुत्रीपरिणयो भवेत् । ताभ्यामुक्तम्- हे पुत्र ! त्वामावां तत्पुत्र्या अप्यधिकसुन्दरीं कन्यां परिणाययिष्यावः, तत्सार्थं मा गाः । परं सर्वानवमत्य स नटेन साकं तद्वेषेण निरगात् ।

तदनु स तत्सार्थे तिष्ठन् तदीयनृत्यादिविद्यासु नैपुण्यमधिगत्य नाटकं कर्तुं लग्नः । प्रतिदिनमेवं कुर्वन् धनमर्जयित्वा तस्मै नटाय समार्पयत् । अथैकदा नट्या सह बेनातटनगरमगात् । तत्र राजानममिलत्, सोऽपि तस्य नाट्यं कर्तुमादेशञ्चक्रे ।

अथ नृपादिसकलपौरजनसुमण्डितप्रदेशमध्ये एलाचीकुमारो

वंशमेकं समारोप्य चटित्वा तदुपरि नाटकं कर्तुं लग्नः । अधश्च नटी मृदङ्गं वादयामास । तदा नटीरूपं विलोक्य तत्क्षणं मदनशराऽऽहतो नृपो मनसि यद्यसौ नटो नीचैः पतित्वा म्रियेत, तदैनां नटीं सुखेन प्राप्नुयामिति दुर्ध्यायन् कृष्णलेश्यागृहे न्यपतत् । इतः स नटो वंशोपरि निराधारादिनानाविधं नाटकं विधाय दर्शकानां मनांसि समरञ्जयत् । सर्वे दर्शका रञ्जन्तस्तं नटं प्रशंसयामासुः । ईदृशं नाटकं केऽप्यन्ये कुत्राऽपि न चक्रुरिति सर्वे द्रष्टारो जगदुः।

अथ वंशादवतीर्य नटो राजानं प्राणमत् । नृपश्चैवमवादीत्– हे नट ! अत्र किं तिष्ठसि ? पुनर्वंशोपरि चटित्वा नाट्यं दर्शय । विलम्बं मा कुरु, तदा धिक्तं धिक् तमित्यर्थको ढीगां ढीगामिति मृदङ्गनाद उदपद्यत । अन्ये राजानस्तस्मै पारितोषिकं ददुः पुरा, तद्गुणान् गायन् नृपादेशात् पुनर्वंशाग्रे चटितो नटः । सर्वे लोका आश्चर्यमापुः, कदाऽसौ वंशाग्रादधः पतित्वा मरिष्यति । इति प्रतीक्षमाणो राजा दुर्ध्यान एव निमग्न आसीत् ।

द्वितीयवारमपि नाट्यं कृत्वाऽध उत्तीर्य नृपाग्रे समागतः । तदाऽपि नृपेणोक्तं– भो नट ! मुधा बहुधाऽधः किमवतरसि ? पुनरपि वंशाग्र एव नाटकविधानेन सर्वान् रञ्जय । अलमधुना विलम्बेन, मुहुर्मुहुरेवं नृपादेशं शृण्वन्तः सर्वे दर्शकाः स नटश्च मनस्येवं दध्युः– अहो ! मुहुर्मुहुरस्यैवमादेशकारिणो राज्ञो मनसि कुबुद्धिर्दृश्यते । नो चेदेवं पुनःपुनः कथमादिशति ?।

अथ तदाज्ञया नटस्तृतीयवारमपि वंशाग्रमारुह्य नानाविधं नाट्यं कर्तुं लग्नः । अधश्च सा नटी विचिन्तयति स्म– अहो !

एतत्परिणामो दर्शनीयः किं भवतीति ? यथासौ राजा साधुबुद्धिर्भण्यते तथा तु नैव दृश्यते । असौ मे नाथो मदर्थमियद्दुःखमसहत । अतः परमात्मा तदीप्सितं पूरयतु सत्वरमिति सा यावद्विचारयति, तावद्वंशाग्रे तिष्ठता तेन नटेन कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे षोडशशृंगारसज्जितातिरूपवती युवती तत्पत्नी सिंहकेसरमोदकैर्भृतं स्थालमादाय कञ्चन युवानं श्रमणं श्रेष्ठतरं साधुं प्रतिलाभयन्ती विलोकिता । सा प्रतिलब्धुं मुनिमधिकमाग्रहं करोति परं साधुर्न गृह्णाति स्म । तदद्भुतरूपेऽल्पमपि दृष्टिपातो नाकरोत् । तदद्भुतं दृश्यं विलोक्याऽनित्यभावनां भावयन् संघात्यकर्म क्षयं नीत्वा तत्कालं केवलज्ञानमाप्तवान् । शासनदेवता तदुत्सवं व्यधात् । तदा नृपादयः सर्वे सहसोत्थाय तं ववन्दिरे । तदैव सा नट्यपि चारित्रवती बभूव । तत एलाचीकेवली बहुजीवान्प्रतिबोध्य मोक्षमयासीच्चान्ते ।

अतः शुभभावे समुत्पन्ने भावनातोऽप्यधिको लाभो जायत इति बोध्यम् । परं तादृशः शुभभावोदयः कठिनोऽस्ति । मुख्यभावनां विना संसारसागरतः केचिदपि न तरन्ति । एतत्कथा ग्रन्थान्तरे सविस्तराऽस्ति, परमत्र तु संक्षिप्तैव दर्शिता ।

३८- पुनरपि भावनाभावने सुश्रावकस्य जीर्णश्रेष्ठिनः कथा-

इहैव श्वेताम्बिकानगर्यां छद्मावस्थः श्रीमहावीरस्वामी चातुर्मासिकं तपस्तपन्नासीत् । प्रत्यहं प्रभात एव प्रभुवन्दनार्थमागतः कश्चिज्जीर्णनामा श्रेष्ठी प्रभुं वन्दित्वा तमेवमभ्यार्थयत - यथा- 'भगवन् ! अद्य मद्गृहमागत्य भक्तपानादेर्लाभो दातव्य इति' । परं

प्रभोः प्रत्युत्तरमनासाद्य प्रभोरुपोषणमस्तीति जानन् गृहमागात् । सम्पूर्णेऽथ तत्र व्रते प्रगे समागतः स प्रभुं वन्दनानन्तरमभ्यार्थयत्- प्रभो ! अद्य पारणाकृते मद्वेश्म पवित्रीकृत्य लाभो देय इति । एवं विज्ञप्तिं कृत्वा हृष्टः स गृहमेत्य लघुकपाटसमीपे भगवदागमं प्रतीक्षमाणस्तस्थौ । अयमागच्छति प्रभुरिति भावयन् चिरं तत्रैव तस्थौ । निर्ममः प्रभुस्तु कस्यचिदभिनवपूर्णश्रेष्ठिनो गृहमागात् । धर्मानुरागमनधिगच्छन् यथा तथा भिक्षुं मत्वाऽश्वाऽशनकृते पाचितं माषं स तस्मै वीरस्वामिने दत्तवान्, तावत्तत्र गगने देवदुन्दुभिर्दध्वान । तच्छ्रुत्वा प्रभुणा क्वचिद्गृहे पारणाऽकारीति तेनाऽवेदि । तदैव भावनावृद्धिस्तस्य च्छिन्नाऽभूत् । परं पूर्वमेव स भगवदागमं प्रतीक्षमाणो भावनां भावयन् द्वादशाऽच्युतदेवलोकपर्यन्तां भावना- श्रेणीमारूढ- वान् । यदि किञ्चित्कालमग्रे सा भावना तस्य तिष्ठेत्तर्हि केवलमप्याप्नु- यात् । परन्तु देवदुन्दुभिध्वनिमाकर्ण्य सा भावना तदैव त्रुटिता । अतोऽग्रे तस्य भावनावृद्धिर्नाऽभूत् । इति हेतोर्भावनामाहात्म्यात्स जीर्णश्रेष्ठी मृत्वा द्वादशे देवलोके समुत्पेदे । इत्थं भावनायाः सर्वतः प्राधान्यं महत्त्वं चाऽवगन्तव्यं सर्वैर्भव्यजनैः ।

३९-अथ पुनरपि भावनाविषये वल्कलचीरिणः प्रबन्धः-

यथा-पोतनपुरनगरे प्रसन्नचन्द्रस्य राज्ञो भ्राताऽश्वारूढः क्रीडार्थमुद्यानं व्रजन्नुन्मार्गेण गच्छताऽश्वेन बहु दूरं नीतः सायमपि गेहं नाऽऽगात् । तदा राजा लोकैस्तस्य शुद्धिं सर्वतः कारयामास, परं क्वाऽपि

तच्छुद्धिर्न मिलिता। इतश्च स राजकुमारः कस्यचित्तापसस्याऽऽश्रमे सम्प्राप्तः। तस्य च कुमारपित्रा सह गाढसंबन्धः पुराऽऽसीत्। तेन स तापसस्तं महता स्नेहेन स्वाश्रमेऽतिष्ठिपत्, ततः स्वशिष्यं कृतवान् तस्य च वल्कलचीरीति नाम चक्रे।

अथैकदा तत्राश्रमे समुपविष्टः स तत्पात्राणि कौतूहलात्पश्यन् तत्र धर्मक्रियोपकरणं ददर्श। तदनु तदर्चनपात्रप्रमार्जनादिकं वीक्षमाणः स ऊहापोहाभ्यां जातिस्मृतिमलब्ध। तेन स भवान्तरीयं स्वस्वरूपमपश्यत्। तत्र यत्तेन चारित्रं पालितं तदपि ज्ञातम्। अत इदानीमपि शुभां भावनां भावयन् स क्षपकश्रेणीमधिरुह्य केवलीभूय मोक्षं प्राप। अतो धर्मभावनाभावनं श्रेयस्करमवसेयं सत्प्राणिभिः।

४०-पुनरपि भावनोपरि बलभद्र-मृग-रथकाराणां कथा-

तथा हि- द्वारिकापुर्यां कृष्णवासुदेव-बलदेवौ राज्यं चक्राते। तत्राऽन्यदा तत्पुत्राः शाम्ब-प्रद्युम्नादयो वनं गत्वा बाल्यचापल्याद् द्वैपायनमृषिं लोष्टयष्ट्यादिना ताडयामासुः। तदाऽतिपीडितः स ऋषिस्तेभ्यः शापमेवं दत्तवान्- भो भो दुष्टाः! यात यात, मत्पीडां कुर्वतां युष्माकमिमां द्वारिकां नगरीमग्निर्भूत्वा भस्मसात्करिष्यामीति। अथ स ऋषिस्तादृशनिदानकरणेन मृत्वाऽग्निकुमारोऽभूत्। ततः सोऽग्निकुमारो देवस्तौ वासुदेवबलदेवौ मुक्त्वा षट्पञ्चाशत्कोटिनगरान्तर्वासिलोकैस्तथा पुराद्बहिर्वासिद्विसप्ततिकोटियादवैः सहितां द्वारिकापुरीं सकलां भस्मसादकरोत्।

तदनु तौ कृष्णबलभद्रौ वनमुपेतौ। तत्र कृष्णस्तृषार्तो जातस्तदा

बलभद्रो जलमानेतुमगमत्। कृष्ण एकस्य तरोस्तले चरणोपरि चरणं निधाय सुष्वाप। तावद्यो हि पुरा स्वेन कृष्णस्य मरणं नेमिनाथोक्तमाकलय्य तन्मुधा कर्तुं वने वसति स्म स जराकुमारः कृष्णबन्धुर्दूरतस्तत्पदे पद्ममालोक्य मृगभ्रान्त्या बाणं क्षिप्त्वा तदीयचरणमविध्यत्। अथ समीपागतस्तमुपलक्ष्य नितरामखिद्यत। तदा खेदेन किं स्यात् ? यद्भाव्यमासीत्तज्जातमेवेति मिष्टवाक्यैः कृष्णस्तमवक्- हे बन्धो ! त्वं मा शोचीः, गृहं याहि। नो चेद्बलभद्रः समागत्य त्वां हनिष्यति। किञ्चिदपि तवाऽत्र दोषो नाऽस्ति यतो दैवं कोऽपि मुधा कर्तुं न शक्नोति।

अथ तस्मिन् गते कृष्णो ममार। तावज्जलमानीय बलदेवः समागात्। कृष्णं सुप्तं मत्वाऽनेकोपायेनोत्थापितवान्। यदा किञ्चिदपि स नोत्ततार न चोत्तस्थौ, तथाऽपि स्नेहभराद्रुष्टं ज्ञात्वा तमुत्पाट्य षण्मासानितस्ततः स पर्याटत्। ततो देवैरनेकशवादिदृष्टान्तेन प्रतिबोधितः कृष्णशवमग्निना संस्कृतवान्। वैराग्याच्चारित्रं च ललौ, स वनमागत्य तपस्तप्तुं लग्नः।

सोऽन्यदा पारणायै पुरमगात्। पथि कूपान्तिके काचिज्जलहारिणी तद्रूपविलोकनान्मोहमुपगता परवशीभूय घटभ्रान्त्या पुत्रगले रज्जुं यावद्बध्नाति तावदन्यैर्निवारिता। तदालोक्य बलभद्रमुनिर्दध्यौ- अहो ! मद्रूपेण मोहमुपैति स्त्रीजनः। अनर्थः संभवति मयाऽतः पुरमध्ये नाऽऽगन्तव्यम्। वन एव प्रासुकाऽऽहारं लब्ध्वा व्रतपारणं विधातव्यमित्यभिगृह्य वनमागात्।

तत्र तस्योपदेशं श्रुत्वाऽनेके पशवोऽपि धर्ममापुः। तत्रैको मृगः

सुश्रावकस्तच्छिष्य इव सदैव तस्य शुद्धाहारलब्धये विचिन्तयति स्म। तत्राऽन्यदा कोऽपि रथकारः सपरिवारः सत्काष्ठं छेत्तुमागात्। स रसवतीं पक्त्वा यदा भोक्तुमैच्छत् तदा स मृगेण सहाऽऽगच्छन्तं बलभद्रमुनिं ददर्श। तस्मिन्नवसरे स्वं धन्यं मन्वानः स भावेन सह प्रासुकाहारं तं प्रत्यलाभयत्। यद्यहमपि मानुषो भवेयं तर्हि एवमेव मुनये शुद्धमाहारं दद्यामिति मृगस्तदानीं शुभभावनामकरोत्। अद्य मे दिनं धन्यं यन्मुनिदर्शनप्रतिलाभादिकमिह वनेऽप्यभूत्। इत्थं रथकारोऽपि मुनिदानदानात्सद्भावमकरोत्। मुनिरपि निजध्याननिमग्न आसीत्। अस्मिन्नवसरे सद्भावं भजतां तेषां त्रयाणामुपरि स एवार्धच्छिन्नप्रायो महातरुर्वातनुन्नः पपात। तत्पतनेन त्रयोऽपि मृत्वा पञ्चमं ब्रह्मदेवलोकं प्रापुः। अमीषामीदृशदेवलोकप्राप्तिर्भावनात एव समुदपद्यतेत्यवगन्तव्यम्। बलदेवमुनिकथानकमतिविस्तरं ग्रन्थान्तरादवगन्तव्यमिह तु भावनाप्रसङ्गात्संक्षिप्तमेवाऽदर्शि।

अथ १८-क्रोध-विषये-

तृण दहन दहंतो वस्तु ज्यूं सर्व बाले,
गुण रयण भरी त्यूं क्रोध काया प्रजाले।
प्रशम जलद धारा वह्निने क्रोध वारे,
मनुअ भव समारे सद्गुरु सीख धारे ॥४७॥

क्रोधो न विधेय इति दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह-इहाऽतिगर्हितः क्रोधोऽग्निस्तृणमिव गुणरत्नराशिसम्पूर्णमप्यदः शरीरं क्षणमात्रेण भस्मसात्करोति। वर्धिष्णुरेष कोपाऽग्निः प्रशमजलवृष्टिं विना न शाम्यति। यदा प्राणी शमतां भजते तदैव क्रोधः शाम्यति-नश्यति

नाऽन्यथेति भावः । किञ्च-यदा भव्यो जीवः सद्गुरु-शिक्षां हृदि धारयति तदैव मनुष्यत्वं सफलीकर्तुमर्हति । अतः सद्गुरुशिक्षां हृदि धृत्वा सर्वैरुपशमवद्भिर्भाव्यम् । क्रोधस्तु सर्वथा हेय एवेत्यवगन्तव्यम् ॥४७॥

धरणि 'परशुरामे' क्रोध निःक्षत्रि कीधी,
धरणि 'सुभूमचक्रे' क्रोध निब्रह्म कीधी ।
नरक गति सहायी क्रोध ए दुःखदाई,
वरज वरज भाई ! प्रीति कीजे वधाई ॥४८॥

अन्यच्च-इह पुरा कश्चन परशुरामः क्रोधादेव सकलां महीं निःक्षत्रीयां व्यधात् । तथा सुभूम-चक्रवर्तीमां पृथ्वीं ब्रह्महीनामकरोत् । अत्राऽपि क्रोध एवैतावद्धिंसानिदानम् । हे भव्या ! अतो भवन्तो नरकदातारं सार्वलौकिकक्लेशकारिणं क्रोधमेनं सहर्षं त्यजत । किं बहुना ? यः क्रोधो मित्रमप्यमित्रं क्षणादेव विधत्ते तमवश्यं त्यजन्तु पुनरखिलैः सार्धं प्रीतिं भजत ॥४८॥

४१-अथ क्रोधोपरि परशुराम-सुभूमचक्रवर्तिनोः प्रबन्धः-

यथा-प्रथमे देवलोके द्वौ देवौ प्रत्यहं मिथो धर्मविषये विवदमानावास्ताम् । तत्रैको मिथ्यात्वी चैको जैनी च । तावन्यदा स्वस्वधर्मस्य महिमानं वर्णयन्तौ तत्परीक्षाकृते मर्त्यलोकमैताम् ।

तत्राऽवसरे मिथिलानगरीनरपतिः स्वभवन एव मस्तकलुञ्चनं विधाय संयमं लात्वा विहरन् ताभ्यां दूरादालोकितः । तमागच्छन्तं

वीक्ष्य जैनदेवेन मिथ्यात्वी भणितः- भोः ! पश्य मया धर्मः परीक्ष्यते, इत्युदीर्य तन्मार्ग एकतो लघुभेकान् परतस्तीक्ष्णमुखाञ्छूलान् विकृत्य तस्थतुः । तावत्तत्र समेतः स साधुरेकत्र सूक्ष्मजीवानपरत्र शूलान् विलोक्य व्यचिन्तयत्- अहो ! किमत्र विधेयम् ? आत्मविराधनात इहैव किञ्चिद्दुःखं भविष्यति । परं जीवविराधने सति नरके महती यातना चिरं भाविनीति मत्वा भेकव्याप्तमार्गं त्यक्त्वा शूलाश्रितेन मार्गेणैव निरगात् । तदा चरणाभ्यामसृक्षु निर्गलत्स्वपि मनागपि खेदं नाऽऽनीतवान् । तदा जैनदेवस्तच्चरणयोर्निपत्य तमस्तावीत् कथितश्च- भो मिथ्यात्विन् ! जैनधर्मस्य कीदृशी महिमाऽस्तीति दृष्टम् ?

अथाऽग्रे गत्वा तौ देवावेकस्यामटव्यां समागत्य तपस्विनं जमदग्निमपश्यताम् । तदा कृष्टक्षेत्रे न गन्तव्यं, पतितं फलादिकं भक्ष्यम्, इति मतमालम्बमानः, स्वान्ये सर्वे मलिना न साधीयांस, इति जानानो देवो जैनदेवं कथितवान्- भो ! अत्र स्थीयताञ्चैष तपस्वी परीक्ष्यताम् ।

इत्युदीर्य चटकमिथुनीभूय जमदग्निमुनेरतिलम्बिते सघने धवलतरे श्मश्रुणि नीडं विरच्य तस्थौ । तत्र चटकश्चटकीमवक्- हे प्रिये ! त्वमत्र तिष्ठ, अहं कस्मैचित्कार्याय बहिर्गच्छामि । तदा साऽवक्-हे नाथ ! त्वमन्यत्र मा याहि । तेनोक्तं- कथम् ? तयोक्तं- तत्कारणं कथयामि निशम्यताम् । तव काचिदन्या प्रिया रागिणी भूत्वा किलाऽवरोधयेत् । तदा तव विरहादहं दुःखिनी स्यामतो वच्मि त्वं मा गा इति । तदा तस्या विश्रम्भकृते चटकोऽनेकशपथानकरोत्- यथा हे प्रिये ! यद्यहमन्यस्या वशीभूय त्वां त्यजानि वा नागच्छानि वा

तर्हि मे महापातकानि लगेयुरिति, परं तयैकमपि नाऽमन्यत ।

तदनु तेनाऽतिप्रार्थिता साऽवक्- हे प्राणेश ! अन्यशपथैरलमेक-स्यैवाऽस्य मुनेः शपथं कृत्वा जिगमिषसि तर्हि व्रज । तदोक्तं तेन- हे प्रियतमे ! कार्यं कृत्वा त्वदन्तिके नागमिष्यामि तर्ह्योतत्तापसस्य यानि पापानि सन्ति तानि सर्वाणि मे लगेयुः । हे प्रिये ! एतानि किल्बिषाणि ग्रहीतुं योग्यानि न सन्ति, तथाऽपि त्वदर्थमहं गृह्णामि ।

इत्थं तयोर्वचनमाकर्ण्य प्रवृद्धकोपानलः स तापस उभाभ्यां पाणिभ्यां चटकं चटकीञ्च गृहीत्वा पप्रच्छ- किं रे ! जगति महापापिष्ठं मां कथं युवामब्रूताम् ? तद् ब्रूतम् । चटकेनोक्तं- पापकारणं पश्चाद्वदि-ष्यामि प्रथमं त्वमेव कथय कियन्तं धर्मं त्वमकृथा इति । मया ते सर्वे गुणा लक्षिताः, परं त्वमधुनापि साधुगुणं नैव वेत्सि, तर्ह्यन्यविधो धर्मस्त्वयि कथं संभाव्येत ? तदा तापसो न्यगदत्- रे चटक ! त्वं किं कथयसि? पक्षी भूत्वा त्वं यदि धर्मं वेत्सि तर्हि त्वदपेक्षयाऽधिकमेव जानामि । तत्र किं सन्दिह्यते ?

पुनश्चटकोऽवदत्- भो मुने ! यदि जानासि तर्हि कथं न निगदसि ?। तापसोऽवक्- अहं जानामि न जानामि वा तेन ते किम्? यन्मां महापापिष्ठमुक्तवानसि तद्दर्शय । इति तापसाग्रहं विलोक्य चटकस्तदैव कथयितुं प्रावर्तत । तथाहि- हे तापस ! निशम्यतामहं यत्कथयामि । त्वदीयदेवीभागवतादिपुराणे व्यासेनोक्तम्-

अपुत्रस्य गतिर्नाऽस्ति, स्वर्गो नैव कदाचन ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, स्वर्गं यान्ति सुखं नराः ॥१॥

इति हेतोः पुत्रमनुत्पाद्य यदकारि यत्क्रियते यच्च करिष्यत्यग्रे

तत्सर्वं निष्फलमेव जानीहि। तदा पक्षिवचनमीदृशमाकर्ण्य त्यक्तध्यानः स मनसि व्यचिन्तयत्- सत्यमेवैतदसौ पक्ष्यपि मत्तोऽधिकं वेत्ति। इत्यवलोक्य मिथ्यात्वीदेवेन जैनधर्मः स्वीकृतः इति निश्चित्य तत्कालमुत्थाय समीपवर्तिनगरे नृपान्तिकमगात्। तमागतं विलोक्य नमस्कारादि विधाय नृपस्तमपृच्छत्।

भो महात्मन्! किमर्थमत्रागतोऽसि? तद्वद। तेनोक्तम्- हे राजन्! सप्तकन्यास्ते सन्ति, मह्यमेका दीयतां। न दास्यसि चेत्सकुलं त्वां धक्ष्यामीति श्रुत्वा सभयो नृपस्तमाख्यत्- हे तपस्विन्! यत्र कन्यास्ताः क्रीडन्ति, तत्र याहि, या त्वां कामयेत तां गृहाण।

इति नृपेणाऽभिहिते स तत्राऽऽगतवान्। तं भीषणं विलोक्य सर्वाः कन्यास्ततः पलायिताः। एका कनीयसी तत्रैव तस्थौ। तस्यै चैकं बीजपूरफलं स प्रायच्छत्। साऽपि तद् गृहीतवती तदैव तामुत्पाट्य नृपान्तिकमनयत्। राज्ञाऽपि विवाहविधिना सा रेणुका कन्या तस्मै दत्ता, करमोचनकाले धनधान्यदासदासीगोमहिषीरथतुरङ्गादिकं यथेष्टमदायि, तत्सर्वं लात्वा सभार्यो मुनिः स्वाश्रममागात्।

तत्र स्थिता सा रेणुका यदा यौवनमाप तदा भर्त्तारमेवमाचचक्षे- हे स्वामिन्! अभिमन्त्रितं चरुद्वयं (हव्यान्नं) मे देहि। एकमहमशिष्यामि, अपरं निजभगिन्यै दास्यामि। तापसोऽवक्-ते स्वसा कुत्राऽस्ति? साऽवक्-हस्तिनागपुरेऽनन्तवीर्यराजगृहे। ततो जमदग्निश्चरुद्वयमभिमन्त्र्य तस्यै ददौ। साप्येकं स्वयमभुङ्क्त, द्वितीयं स्वस्रे प्रेषयामास। तत उभे अपि स्वसारौ गर्भौ धृत्वा समये पुत्रौ सुषुवाते।

अथ कियत्यपि समयेऽतीते सा रेणुका भर्तारमापृच्छ्य स्वसुर्मिलनाय हस्तिनागपुरमगात् । तत्र तामालोक्य तद्रूपमोहितो राजा तां रेणुकां स्वैरमभुङ्क्त । तेन दुराचारेणाऽन्तर्वर्त्नीमपि तामवेत्य जमदग्निस्ततः स्वाश्रममानीतवान् । इतश्च तापसीविद्यानिपुण-स्तत्कुक्षिजः परशुरामः कोपेन शीलभ्रष्टं मातरं हतवान् । तदनु हस्तिनागपुरमागत्य भ्रष्टशीलमनन्तवीर्यराजमप्यहन् । ततस्तत्पुत्रः कृत्यवीर्यस्तत्पितरं जमदग्निं निधनं निनाय । तत एधमानकोपः परशुराम सप्तवारमिमां वसुधां निःक्षत्रियां व्यधत्त । याः काश्चिदन्त-र्वत्न्यस्तत्पत्न्यो दृष्टास्ता अपि जघान ।

मारिते कृत्यवीर्ये तत्पत्नी सगर्भा तद्भयेन नश्यन्ती वनमागत्य कस्यचित्तापसस्याऽऽश्रमे भूमिगृहे छन्नमवात्सीत्, तत्रैव तस्याः पुत्र उदपद्यत । भूमिगृहे जाततया सुभूम इति तन्नाम धृतवती । ततस्तं स तापसः सर्वासु कलासु सुशिक्षितमकरोत् ।

अथैकदा सञ्जात-यौवनः स मातरमपृच्छत्- हे मातः ! पृथ्वीयत्येव वर्तते ? तयोक्तं- हे पुत्र ! पृथ्वी तु महत्यस्ति, परमहमत्र भीत्या तिष्ठामि । पुत्रोऽवदत्- कुतस्ते भीतिः ? तयोक्तम्- वत्स ! श्रूयताम्, परशुरामस्ते पितृपितामहौ निहत्य हस्तिनागपुरे राज्यं करोति । किमधिकं वच्मि-स दुर्मद इमां धरां सप्तधा गर्भगतैरपि क्षत्रियसन्तानैः शून्यामकरोत् । तत एव मे महती भीतिरस्ति ।

तदाकर्णनेन समुत्पन्नक्रोधः स तत्कालमेव भूमिगृहाद् बहिर्भूय परितः पश्यन् क्रमतः कियद्भिर्दिनैर्हस्तिनागपुरमगात् । तत्र चक्रप्रहारेण निजपित्रादिघातिनं परशुरामं निहत्य पैतृकं चक्रवर्तित्वमग्रहीत् ।

ततः सोऽप्येकविंशतिकृत्वः पृथिव्यामब्राह्मण्यं विदधे ।

भो भव्याः ! पश्यत, एतौ परस्परं सम्बन्धिनावपि क्रोधावेशादीदृशं गर्हितं कर्म चक्राते । येन तयोर्महानरके वसतिर्जाता । अतः क्रोधः सर्वथा त्याज्यः । क्रोधेन वशीकृतस्य कोटिजन्मार्जितानि संयमफलानि विलीयन्ते, नरके च निवासो जायते । अतः क्षान्तिं विधित्सुना जनेन कस्मैचिदपि नैव कोपनीयम् ।

अथ १९-मान-विषये-

विनय वन तणी जे मूल शाखा विमोडे,
सुगुण कनक केरी शृंखला बंध तोडे ।
उनमद करि दोडे मान ते मत्त हाथी,
निज वश करि लेजे अन्यथा दूर आथी ॥४९॥

इह जगति मानलक्षणः प्रमत्तहस्ती विनयतरोर्मूलं शाखां च त्रोटयन् समूलोच्छेदं कुरुते । तथा सद्गुणरूपां स्वर्णशृङ्खलां छित्त्वा स्वैरमितस्ततो धावति । अतः सकलसद्गुणविध्वंसकारी मानः सर्वथा सर्वैर्हेय एव । लेशतोऽप्येष यस्मिंस्तिष्ठति तस्माद्दूर एव विमुखीभूय विनयादिसर्वे गुणा वर्तन्ते । अत्राऽर्थे बाहुबलस्य दृष्टान्तोऽवगन्तव्यः। तेन स्वात्मना त्यक्तेऽहङ्कारे झटित्येव तस्य केवलज्ञानमप्यभूदिति प्रसिद्धतयाऽत्र नाऽलेखि ॥४९॥

विषम विष समो ए मान ते सर्प जाणो,
मनुज विकल होवे एण डंके जडाणो ।
इह न परिहस्यो जो मान दुर्योधने तो,
निज कुल विणसाड्यो मानने जे यहंतो ॥५०॥

किञ्चाऽसावतिभयङ्करो हालाहल इव जनान् व्यामोहयति। तथा मानाहिना दष्टा जना अचेतना इव जायन्ते। अतो मानमुक्ता लोका धन्या गीयन्ते। दुर्योधनो बलीयान् गुणवानप्यहङ्कारवशादेव सपरिवारो विनाशमगात् ॥५०॥



४२-अथ मानेन विनाशोपरि दुर्योधनस्य कथा-

तथाहि- पुरा पञ्च पाण्डवा दूर्योधनाद्यैः सह कुरुदेशस्याऽधिपा आसन्। परमेकदा मायाविना दुर्योधनेन द्यूतक्रीडने कपटेन पाण्डवाञ्जित्वा तान् वनवासिनो विधाय राज्यमाददे।

अथ पाण्डवा अपि वनवासप्रतिज्ञामापूर्य द्वारिकामगुः। तत्र ते कृष्णेन सत्कृताः सुखेन तस्थुः। तदनु श्रीकृष्णो दूतेन सुयोधन-मेवमचीकथत्- भो दुर्योधन! पाण्डवा वनवासाऽवसानेऽत्राऽऽगताः सन्ति, तद्राज्यं समर्पय, नो चेद्युद्धाय सज्जीभव। इति दूतोक्तमाकर्ण्य स दुर्योधनो दूतमवदत्- भो दूत! मदुक्तमशेषं कृष्णस्य वाच्यं यथावत्- ते पाण्डवाः सिंहान्मृगा इव मत्तो राज्यं जिघृक्षन्ति किम्? तेषामेषाऽऽशा शशशृङ्गायमाणा प्रतिभाति तांस्त्वहं तृणाय मन्ये। तदर्थं समराडम्बरोऽपि मे त्रपाकर एवाऽस्ति। तथापि ते यदि मत्तो राज्यमभिलषन्ति तर्हि समरसज्जितमेव मामवगच्छ।

इत्युक्त्वा विसृष्टो दूतो द्वारिकामागत्य यथावत् कृष्णमवोचत। तच्छ्रुत्वा तदैव श्रीकृष्णं सारथीकृत्य पाण्डवाः प्रचेलुः। तानागतान् वीक्ष्य कौरवा अपि ससैन्यास्तदभिमुखं ययुः। ततो युद्धे प्रवर्तमानेऽखर्वगर्वधरं सुयोधनं ससैन्यं निहत्य ते पाण्डुनन्दना राज्यं जगृहुः।

अयमेतत्सारांशः-सुयोधनो मानी भवन् सकुलो यथाऽनश्यत् तथैव गर्वकारिणामन्येषामपि सर्वनाशो भवति। अतोऽहङ्कारः सर्वथा सर्वैरेव त्याज्यः।

अथ २०-मायोपरि सदुपदेशः-

निठुरपणु निवारी हीयडे हेज धारी,
परिहर छल माया जे असंतोषकारी।
मयुर मधुर बोले तो हि विश्वास नाऽऽणे,
अहिगिलण प्रमाणे मायिने लोक जाणे ॥६१॥

इह जगति ये मायाविनो भवन्ति, ते मुखे मधुरा हृदये तु निर्दयाः क्रूरतामेव ध्रियन्ते। भव्यानपि निजकपटजाले पातयन्ति। सन्तोषलेशोऽपि तन्मनसि नैव तिष्ठति। मायाविनां मधुरवचनेऽपि विश्वासो न भवति कस्याऽपि। यथा- मयूरो मिष्टमालपन्नहिं सपुच्छं गिलत्येव। अतो माया हेया, विदितप्रायमेवैतत् यन्मल्लिनाथजीवो यावज्जीवं सावद्यं किञ्चिदपि नाचरितवान्, केवलं मायया तपोवृद्धिमकृत, तावतैव तस्य स्त्रीवेदं कर्म बद्धमभूत्। अतो भवभीरुभिरुत्तम-जनैस्त्याज्यैव माया ॥५१॥

म कर म कर माया दंभ दोषद्रु छाया,
नरय तिरिय केरा जन्म दे जेह माया।
बलिनृप छलवाने विष्णु माया वहंता,
लहुयपणु लह्युं जे वामना रूप लेता ॥५२॥

किञ्चेयं माया दोषरूपा विषवृक्षवल्ली विद्यते। जनांश्च नारकतिर्यग्गतिं नयति। अतो हे लोका! यूयं तां मायां मा कुरुत।

बलिनृपवञ्चनाय वामनीभूय वासुदेवोऽपि श्रीकृष्णो लोके लघुतामापत् । ये कपटिनस्तत्सङ्गतिरपि त्यज्यताम् । यतस्ते मायाविनोऽतिप्रियतमान्निजमातापित्रादिस्वजनानपि कर्मबन्धनमवगण्य कुबुद्ध्या वञ्चयन्ति । भव्यानपि स्वीयकपटजालेनाऽधोगतिं प्रापयन्ति ।।५२।।

अथ २१-लोभ-विषये-

सुणि वयण सयाणे चित्तमां लोभ माऽऽणे,
सकल व्यसन केरो मार्ग ए लोभ जाणे ।
इक खिण पण एने संग रंगे म लागे,
भव भव दुख्ख दे ए लोभने दूर त्यागे ।।५३।।

भो भो लोका ! यूयं धूर्तादेर्मिष्टवचनश्रवणेन मनसि मनागपि लोभं मा कुरुत यदसौ व्यसनाद्यसत्कृत्यानां मूलमस्ति सर्वापदां च निदानमस्ति । लेशतोऽपि लोभसंगमे कृते सति जन्मजन्मान्तरीयं दुःखमाप्नुवन्ति नराः । यतो लोभेन चलचित्तास्ते परत्र रौरवीयां वेदनामिहापि चातिदुःखानि सहन्ते। अतः सर्वप्रकारेण लोभस्त्यक्तव्यः ।।५३।।

४३-अथ लोभेन क्लिश्यतः सुभूमचक्रवर्तिनः कथा-

पुरा किल सुभूमचक्रवर्ती भारतस्य षट्खण्डानि साधयित्वा लोभग्रस्तोऽभवत् । सर्वतोऽधिकोऽहं भवेयमिति बुद्ध्या धातकीखण्डस्याऽपि तावन्ति खण्डानि साधयितुमैच्छत् । तदनु लवणसमुद्रे देवसहस्रवाह्यं चर्मरत्नममुञ्चत् तत्र च सकलबलयुतः स आरूढवान् । ततः सहस्रदेवास्तच्चर्मरत्नं नीत्वा सागरान्तश्चेलुः ।

कियद्दूरं गत्वा तेष्वेको देव एवं दध्यौ- अहो ! भारतस्य षट्खण्डसाधने कियन्तो वर्षा याताः । पुनरिदानीं यत्रैकमपि खण्डं कदाऽपि केनाऽपि न साधितं, तत्र षट्खण्डसिषाधयिषयैष प्रयाति । कियद्भिर्वर्षैः साध्यं स्यादित्यनुमातुमपि न शक्यते । अत एकदा गृहं समेत्य प्रेयसीं मिलित्वा पुनरिहाऽऽगमिष्यामि । तावदेकस्मिन् मयि गते चर्मरत्नवाहने कापि हानिर्न स्यादिति विचिन्त्यैको देवस्तन्मुक्त्वा गतः । इत्थमनुक्रमेण सर्वेऽपि तथा विचिन्त्यैकदैव तत्तत्यजुः । ततः पापोदयात्ससैन्यं चक्रवर्तिचर्मरत्नं तदैव तल्लवणाब्धौ ममज्ज । सर्वे कालं चक्रुः- अहो ! देवा अपि यमसेवन्त, तस्याऽपि चक्रवर्तिनो लोभाऽऽधिक्यान्नाशोऽभूत्तर्हि परेषां का वार्ता ? इति हेतोर्महाक्लेशकारी लोभोऽसौ सर्वथैव हेयः ।

कनक-गिरि कराया लोभथी नंदराये,
निज अरथ न आया ते हर्या देवतायें ।
सकल निधि लहीजे स्यायते विध्य कीजे,
मन तिणथि न रींझे लोभ तृष्णा न छीजे ॥५४॥

अन्यच्च शृणुत-पुरा प्रसिद्धिभाग् नन्दनामा राजा स्वर्णगिरि-मकृत परं तस्योपभोगस्तेन नाऽकारि, किन्तु देवैरपहृतः । स तु तृष्णोदधिनिमग्न एव कालेनाऽग्रासि । सर्वान् निधीन् सर्वाश्च वसुधामासाद्याऽपि लुब्धस्य मनः कदाऽपि न विरमति । किन्तु घृताहुत्या वह्निरिवाऽधिकं वर्धत एव ॥५४॥



४४-अथ लोभत्यागात्प्राप्तकेवलज्ञानस्य कपिलद्विजस्य कथा-

यथैकस्मिन्नगरे कश्चिद्राजा प्रभाते माषद्वयं सदैव स्वर्णं दातुं सङ्कल्पितवान्। तत्स्वरूपं तत्रस्थः कपिलनामा कोऽपि विद्यार्थी विप्रः श्रुत्वा लोभग्रस्तत्वात् कियती रात्रिरवशिष्यत इत्यजानन्मध्यरात्र एव समुत्थाय स्नातानुलिप्तो भूत्वा तल्लातुकामो नृपसौधम्प्रत्यचलत्। मार्गेऽथ रक्षकैश्चौरधिया गृहीतः प्रभाते तं नृपान्तिकमनयत्।

अथ परीक्षया नाऽसौ चौर इति निश्चत्य राजा तमपृच्छत्- भोः कस्त्वम्? तेनोक्तं- राजन्! दास्या लक्ष्म्या प्रेरितस्त्वदन्तिकमागच्छन्नहं रक्षकेण तस्करधिया गृहीतोऽभूवम्। तदाकर्ण्य राज्ञाऽचिन्ति-अहो! ममैतन्नगर ईदृशो दरिद्रो वसति। तदनु करुणया राजाऽवक्- भो ब्राह्मण! त्वमीप्सितं मार्गय, यत्त्वं याचिष्यसे तदवश्यमहं ते दास्यामि। तत्र शङ्कां मा कृथाः। ममाशोकवाटिकायां गृहं वा याहि मनसि समालोच्याऽत्राऽऽगच्छ।

ततो नृपोक्तमाकर्ण्य तत्र गत्वा स चिन्तयति स्म तथाहि- नृपो मे यथेप्सितं दित्सति मया कियत् किं याच्यं? शतं द्विशतं पञ्चशतं सहस्रमयुतं लक्षं कोटिपर्यन्तमधावत्तन्मनः परमथाऽपि तृष्णां न जहौ। ततोऽप्यधिके दधाव किमधिकं तद्राज्यजिघृक्षाऽप्युदपद्यत। प्रान्ते कुत्राऽपि मनःस्थैर्यमनधिगत्य मनस्येवं दध्यौ-सर्वा अपि सम्पदः क्षणिकाः सन्ति। मामेते विनश्वराः पदार्था हास्यन्ति, किमहमप्येतान्न त्यक्ष्यामि? इत्थं शुभकर्मोदये भवप्रपञ्चेऽपगते संयमरसलीनो व्यचिन्तयत्तदा कपिलः। तथाहि-

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दो मासकणयकज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१॥

प्राणिनां यथा यथा लाभो भवति, तथा तथा लाभाल्लोभो वर्धते। तत्रैव दृष्टान्ततया दर्शयन्नाह- 'दो मासेति' पुरा माषद्वयमात्रस्वर्णकृते ममाऽऽसीद्या तृष्णा सा कोट्यापि न निष्ठितार्था-तृप्ता नाऽभूत् किन्तु ततोऽप्यग्रेऽधिकतया च ववृधे । अतः सैव सर्वाऽधिकक्लेशकरी, केवलमेकः सन्तोष एव जगति सर्वाऽतिशयसुखदायीति मत्वा स कपिलद्विजस्तत्क्षणमेव पञ्चमुष्टिलुञ्चनं विधाय नृपान्तिकमागात् ।

तदनु यदा नृपाय धर्मलाभं दत्त्वा समस्थित। तदा तं नृपोऽपृच्छत्- भोः ! किमकारि ? तेनोक्तम्-यदादिष्टं भवता विचार्यागच्छेतीदमेव श्रेयस्करं विदित्वा चारित्रमग्राहि । अथोत्थाय नृपेण नमस्कृतस्ततो विजह्रे मार्गे च पञ्चशतचौरान् प्रत्यबोधयत् । तदनु निर्मलमप्रतिपाति केवलज्ञानमाप्य स कपिलमुनिर्मोक्षमयासीत् । स इव यो लोभं त्यक्ष्यति स सुखी भविष्यति, यो न त्यक्ष्यति स महादुःखी भविष्यति नरकादिके च । अतोऽधिकलोभो हेय एव सद्भिः ।



अथ २२-दया-विषये-

सुकृत कलपवेली लच्छि विद्या सहेली,
विरति रमणि-केली शांतिराजा महेली ।
सकल गुण भलेरी जे दया जीवकेरी,
निज हृदय धरी ते साधिए मुक्ति सेरी ॥५५॥

यथा-इह संसारे नूनमियं दया सुकृतकल्पवल्ली विद्यते ।

लक्ष्मीदेव्या अति स्निग्धा सखी, ज्ञानस्य सहचरी, विरतिलक्षणा या राज्ञी तस्याः केलिः, शान्तराजस्य सदनं, सर्वेषां सद्गुणानां च निदानमीदृशीं जीवदयां मनसि धृत्वा ये जीवानवन्ति ते निश्चयेन मुक्तिं लभन्ते। अतो हे भव्यजीवाः ! एषा जीवदया बहुगुणा विद्यते। एनामवलम्ब्य बहवो जीवाः संसारसागरमतरन् तरिष्यन्ति तरन्ति च। "सव्वे पाणा सव्वे भूआ, सव्वे सत्ता सव्वे जीवा न हंतव्वा" इति सकलतीर्थकृतामादेशः सर्वैरेव भव्यजीवैः सादरेणातिमान्यः ॥५५॥

निज शरण परेवो शेनथी जेण राख्यो,
[१६]षटदशमजिने ते ए दया धर्म दाख्यो ।
तिह हृदय धरीने जो दया धर्म कीजे,
भवजलधि तरीजे दुःख दूरे करीजे ॥५६॥

अन्यच्च-यथा षोडशस्तीर्थङ्करः शान्तिनाथो भगवान् निजशरणमागतं पारावतमवन् दयाधर्ममदर्शयत् । इत्थमन्योऽपि कोऽपि दयालुर्दयासु वर्तिष्यते, स भवप्रपञ्चान्मोक्ष्यते। इति सर्वतः प्रधाना दया विधेयैव ॥५६॥

४५-कपोतदयापालनोपरि मेघरथराजस्य प्रबन्धः-

पुरा श्रीशान्तिनाथजीवो दशमे भवे मेघरथाऽभिधो राजाऽभूत् । स चैकदा सदसि सुखासीनः समागतं वेपमानमेकं पारावतमपश्यत्। तदनु कपोतघातुकं सिञ्चानकं पक्षिणमागतं दृष्टवान्। तत्समये स श्येनपक्षी नृगिरा नृपमेवमवदत्- हे राजन् !

त्वमेकमुपकरोषि, एकं हंसि परं त्वयि धर्ममर्मज्ञे नैतत्संघटते। अहं तु त्रिभिर्दिनैः क्षुधापरिपीडितोऽस्मि, मां क्षुधातुरं पश्यतोऽपि तव दया किमिति नोदेति ? मम भक्ष्यं तवाऽन्तिके समागतमस्ति तन्मे समर्पय। येनाऽऽत्मानं तर्पयाणि, क्षुधा मामधिकं बाधते, तद्वेदना मयाऽतः परं न सह्यते। अहमाशिषं ते दास्यामि।

तत्र समये नृपोऽवदत्- हे सिञ्चानक ! त्वमितोऽन्यन्मार्गय, तत्ते समर्प्य तव क्षुधां शमयामि। सोऽवक्-अन्यैर्मे प्रयोजनं नास्ति। मम मांसाऽशनं विना कदापि मनागपि तुष्टिर्न संभाव्यते। अतस्त्वच्छरणे समागतं मां भक्ष्यमेव समर्पय। तदाकर्ण्य राज्ञाऽचिन्ति असौ सत्यं वक्ति, सर्वेषां नैसर्गिक आहार एव प्रेयान् भवति। अतोऽमुष्मै मांसाऽशिने मांसमेव देयम्। परं यदि कपोतं दास्ये तर्हि कीर्तिहानिरधर्मश्च हिंसालक्षणो भविष्यति। इति स नैव देयः किन्तु तत्परिमितमांसमेव स्वाङ्गं छित्त्वा देयमस्माभिरिति विचिन्त्य तत्कालं तुलायामेकत्र तं कपोतममुञ्चत्। चैकत्र स्वजङ्घां छित्त्वा छित्त्वा पललममुञ्चत्। परं देवमायया कपोतादधिके पलले मुक्तेऽपि तत्साम्यं नाध्यगच्छत्।

ततो राजा प्रधानादिभिर्भणितः- हे स्वामिन्! एकस्य कपोतस्य कृते निजममूल्यं शरीरं किं विनाशयसि ? नैतत्संघटते। यदुक्तम्- 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' परं तथापि गिरिरिव धर्मनिश्चलो राजा 'देहं पातयामि कार्यं साधयामि' इति निश्चित्य सकलजननिषेधमगणयन्नल्पैर्मांसैर्यदि तत्साम्यं न जायते तर्हि सकलैरपि शरीरमांसैः स रक्षणीय इत्यवधार्य सकलं वपुः सङ्कल्प्य स्वयमेव तुलामारोहत्। तत्राऽवसरे तत्साहसधैर्यं विलोक्य स निजदेवरूपेण प्रकटीभूय

प्रणम्य राजानं प्रशस्य स्वस्थानमगात्। राज्ञोऽपि तनुः पूर्वतोऽप्यधिकोज्ज्वलाऽभवत्। इत्थमेव दयासु सर्वैरेव दाढ्यं विधेयम्।

अथ २३-सत्य-विषये-

गरल अमृत प्राणी ! सांचथी अग्नि पाणी,
स्रज सम अहि ठाणी सांच विश्वास खाणी।
सुप्रसन सुर कीजे सांचथी ते तरीजे,
तिण अलिक तजीजे सांच वाणी वदीजे ॥५७॥

भो लोका ! इह जगति सत्यप्रभावतो गरलममृतायते अग्निश्च जलवच्छीतलीभवति। सर्पोऽपि स्रगिवाचरति, लोके यशः कीर्तिश्च प्रसरति। किञ्च सर्वेषां विश्वासपात्रं सत्यमेवाऽस्ति। देवा अपि सत्येन प्रसीदन्ति। सत्यादेव दुस्तरो जगत्सागरस्तीर्यते, अतः सर्वैर्मृषावचस्त्यक्त्वा सत्यमेवाश्रयितव्यम् ॥५७॥

जग अपजस वाधे कूड वाणी वदंता,
'वसुनृपति' कुगत्ये साख कूडी भरंता।
असत वचन वारी सांचने चित्त धारी,
वद वचन विचारी जे सदा सौख्यकारी ॥५८॥

मिथ्याभाषणेन लोकेऽपकीर्तिः प्रसरति। अलीकसाक्ष्यदानादाजन्मसत्यभाषी न्यायी च एकदैवासत्यभाषणेन वसुराजोऽपि दुर्गतिमाप। अतः सर्वैरेव लोकद्वये श्रेय इच्छद्भिर्मृषावादं त्यक्त्वा सत्यं मितं समुचितमेव वक्तव्यम् ॥५८॥



४६-मिथ्यासाक्ष्यदानान्नरकं प्राप्तस्य वसुराजस्य प्रबन्धः-

तथाहि- क्षीरकदम्बकनाम्नोऽध्यापकात् तत्पुत्रः पर्वतो, वसुराजो, नारदश्चैते त्रयः सहैव पेठुः। कालङ्गते तस्मिन् पर्वतस्तत्पुत्र-स्तत्स्थानेऽध्यापकोऽभूत्।

अथैकदा नारदः कुतश्चित्तद्गृहमागतवान्। तत्राऽवसरे पर्वतः "अजैर्होतव्यमित्यस्मिन् पाठेऽजशब्दार्थमजं छागं शिष्यमध्यापयत्।" तदाकर्णयन्नारदस्तमवक्- भोः पर्वत! त्वमनर्थं कथङ्करोषि? गुरवस्तु पाठनकाले त्वां मां वसुराजञ्च त्रैवार्षिकं व्रीहिमेव 'अज'पदवाच्य-माचचक्षिरे। पर्वतोऽवदत्-त्वमेवाऽलीकं जल्पसि, अहं तु यथोक्तं गुरुभिस्तदेवाऽऽलपामि। इत्थं तयोर्महान् विवादो जातः। प्रान्ते द्वाभ्यामेतद्विवादनिर्णेता सहाध्यायी वसुराजोऽवधारितः।

द्वितीयेऽहनि तौ नारदपर्वतौ विवदमानौ स्तः, इति विदित्वा तन्माता रहसि पर्वतमवोचत- हे पुत्र! नारद एव सत्यं वक्ति। अहमपि त्वत्पितृमुखात्तथैव जानामि राजा च सत्यवक्ताऽस्ति, स कदापि मिथ्या नैव वदिष्यति ततस्तेऽकीर्तिः प्रसरिष्यति। पुत्रोऽवदत्- हे मातः! त्वं नृपान्तिकं याहि, मदुक्तं यथा सत्यं भवेत्तथा यतस्व।

अथ पर्वतजननी नृपान्तिकमगमत् तथाऽऽगतां गुरुपत्नी-मासनादिना सत्कृतां प्रणम्य राजा तामपृच्छत्- हे मातः! किमर्थमागतासि? तद्वद। साऽवक्- पुत्रभिक्षार्थमागताऽस्मि। हे मातः! तव पुत्रस्य बालमात्रमपि कः कुटिलीकुर्यात्? तद्द्वेषी नैव जीविष्यति। इत्थं नृपोक्तमाकर्ण्य नारदपर्वतयोर्विवादं विज्ञाप्य

विशेषतः प्रार्थितवती- हे राजन् ! यथा मत्पुत्र एव विजयेत नारदोक्तमलीकं भवेत् तथा सदसि त्वया वाच्यम् ।

तदा राजाऽचिन्तयत्-अहो ! गुरुपत्नी मे मान्याऽस्ति । सैवं भाषते यद्यहमेतदुक्त्याऽलीकं वदिष्यामि, तर्हि मम महाऽपकीर्तिः "सत्यं वदति नाऽनृतं कदापीति" यशोऽपि न स्थास्यति । मया कदापि स्फटिकमुज्ज्वलमेतत्सिंहासनमुपविश्य मृषा नाऽवादि । तत्कथमेतत्कृते वक्तव्यम् ? अहो! सम्प्रति व्याघ्रदुस्तटीवत्सङ्कटो मे समुपस्थितः । इत्यालोच्य स राजा तामवादीत्-अयि मातः ! अहं कस्याऽपि कृते मृषा न वदामि, न वदिष्यामि । अन्यद्यदादिशसि तदहं करिष्यामि, इति नृपोक्तं श्रुत्वा सोक्तवती- राजन् ! यदि मत्पुत्रपक्षं न विधास्यसे तर्हि स मरिष्यति अहमपि मृत्वा स्वहत्यां ते दास्यामि,।

ततः परवशो नृपोऽवदत्- हे मातः! त्वं याहि, पर्वतस्य साहाय्यं त्वद्वचसा करिष्यामि । तदनु हृष्टा सा गृहमाययौ सर्वमपि पर्वतम-वादीत् । अथ द्वितीयदिने पर्वतनारदौ नृपसदसि समैतां । राजाऽवि-दितवृत्त इवाऽऽगमनप्रयोजनं तावपृच्छत् । तदा पर्वतोऽवदत्- हे राजेन्द्र ! त्वमावयोः सहाध्यायी विद्वानसि । अत आवां विवदमानौ भवत्सविधे समागच्छावः । 'अज' शब्दस्य छाग इत्यर्थो मयोच्यते नारदश्च त्रैवार्षिको व्रीहिस्तदर्थ इत्यालपति, कः साधीयानर्थ इति भवता वाच्यः ?

राजा किञ्चिद्विचार्य जगाद । अहन्तु पुरा गुरुणोक्तं तदर्थं त्रैवार्षिकं व्रीहिमजञ्चापि स्मरामीति मिश्रवचनं जगाद । तदा नारदोऽवदत्- त्वमपि जगति सत्यव्रती भूत्वा मृषा भाषसे, आश्चर्यमेतत्

। अथ तत्कालमेव शासनदेवता मृषावादिनं तं वसुराजं सिंहासनादधः पातयामास तेन तदैव स मृत्वा नरकमगमत् ।

अहो ! एवमेकवारमप्यलीकभाषणाद्यदि वसुराजस्य नारकी गतिरजायत, तर्हि भूयो भूयोऽसत्यं भाषमाणस्य यादृशी गतिः स्यात्सा तु केवलिवेद्यैव । अतो धर्ममर्मविद्भिः सन्नरैरनृतं कदाऽपि नैव भाषितव्यम् । सत्यमेव सर्वदाखिलसुखेप्सितैः सर्वैर्वक्तव्यम्।

अथ २४-चौर्य-विषये-

पर धन अपहारे स्वार्थपे चोर हारे,
कुल अजस वधारे बंध घातादि धारे ।
पर धन तिण हेते सर्प ज्यूं दूर वारी,
जग जन हितकारी होय संतोषधारी ॥५९॥

तथाहि-ये केचन कुलमर्यादां हित्वा स्वार्थसाधनाय परधनानि चोरयन्ति । तेषां लोके महती निन्दा जायते, राजदण्डकारागार-निवासादिकमाप्नुवन्ति । कुलमपि कलङ्कितं कुर्वते कुत्रचिच्चौरा मार्यन्ते च । अतः सर्पादिव चौर्यादतिदूरे स्थातव्यम् । सदैव स्वभाग्यानुकूलोपलब्धया यत्किञ्चिदपि सम्पदैव सन्तोषिणा भाव्यम् ॥५६॥

निशदिन नर पामे जेहथी दुःख कोडी,
तज तज धन चोरी कष्ठनी जेह ओरी ।
पर विभव हरंतो रोहिणी चोर रंगे,
इह अभयकुमारे ते ग्रह्यो बुद्धि संगे ॥६०॥

किञ्च-चौरा दिवानिशमनेकधा दुःखराशिमधिगच्छन्ति । अतः

परद्रव्यापहारमनेककष्टदाने कारागारं मत्वा त्रियोगेन त्वरितमेव हे भव्यजनाः ! यूयं सर्वे चौर्यं त्यजत। नो चेदिह परलोके चैतत्फलपाक-काले केऽपि त्रातारो नैव भवेयुः । पश्यत, स्मरत, रोहिणीयनामानं चोरमभयकुमारो बुद्धिचातुर्येण यथाऽग्रहीदिति तथाऽन्येऽपि नृपादिभिर्निगृहीता महादुःखानि प्राप्नुयुः ॥६०॥

अथ २५-कुशील-विषये-

अयश पडह वागे लोकमां लीह भागे,
दूरजन बहु जागे जे कुले लाज लागे ।
सुजन पण विरागे मा रमे एण रागे,
परतिय रस रागे दोषनी कोडि जागे ॥६१॥

इह संसारे नृणां परस्त्रीसङ्गतः सर्वत्र निन्दा जायते त्रपातः श्याममुखा भवन्ति शत्रवश्चोत्पद्यन्ते। कुलमवदातमपि मलिनीभवति सत्पुरुषैश्च तेऽनादियन्ते। किं बहुना परस्त्रीरागतो दोषकोटिरुत्पद्यते, अतः परदाराः परोच्छिष्टवदग्राह्यं मत्वा सदैव त्याज्याः ॥६१॥

पर तिय रस रागे नाश लंकेश पायो,
पर तिय रस त्यागे शील गंगेय गायो ।
द्रुपद जनक पुत्री विश्व विश्वे विदीती,
सुर नर मिलि सेवी शीलने जे धरंती ॥६२॥

इह महाबलीयान् मतिमानपि रावणः परस्त्रीरसरागतः सीतामपहृतवान् । ततो रामचन्द्रः सङ्गरे रावणं सकुलमनीनशत् । परदारात्यागतो भीष्मो-गाङ्गेयो महत्तरं यश आजन्मशीलपालनादतुलं बलं चाऽऽप्तवान्। तथा द्रौपदीजानकीप्रमुखाः सत्यः शीलप्रभावान्महतीं

प्रख्यातिमापुः । या अधुनाऽपि प्रभाते सर्वैः स्मर्यन्ते तर्हि नराणान्तु का वार्ता ?। एतन्माहात्म्यं सहस्रमुखैरपि वक्तुं न पार्यते । इति परदाराः सर्वैस्त्याज्या एव ।।६२।।

अथ २६-परिग्रह-विषये-

शशि उदय यधे ज्यूं सिंधु वेला भलेरी,
धन करि मनसाए तेम वाधे घणेरी ।
दुरित नगर सेरी तूं करे ए परेरी,
मम कर अधिकेरी प्रीति ए अर्थ केरी ।।६३।।

चन्द्रोदयादम्बुधिरिव परिग्रहेच्छा नितरामेधते । एतन्ममता लोकान् दुर्गतिं प्रापयति । अतः परिग्रहेऽधिका प्रीतिस्त्याज्या ।।६३।।

मनुअ जनम हारे दुःखनी कोडि धारे,
परिग्रह ममता ए स्वर्गना सौख्य वारे ।
अधिक धरणि लेया धातकीखंड केरी,
सुभूम कुगति पामी चक्रिराये घणेरी ।।६४।।

किं च-परिग्रहे बहुलप्रीतिकारी दुर्धिया मनुजो मनुष्यत्वं गमयति, कोटिदुःखपरम्परां सहते । अथ च परिग्रहे ममत्वं कुर्वन् सुभूमचक्रवर्तीव देवलोकसुखमपि गमयन् कुगतिं याति । अतः परिग्रहे ममता त्याज्या सर्वैर्भव्यजनैः ।।६४।।



४७-परिग्रहममत्वेन दुर्गतिङ्गतस्य सुभूमचक्रवर्तिनः कथानकम्-

यथा-इमां षट्खण्डां वसुधां यदा सुभूमचक्रवर्त्यसाधयत्

तदा तावताऽतुष्यन् धातक्या अपि परैरसाधितानि यानि षट्खण्डानि तानि साधितुमियेष । ततश्च परिग्रहे ममत्वोदयाद्धातकीखण्डं जिगमिषुरसौ द्विलक्षयोजनप्रमाणे लवणसमुद्रे चर्मरत्नममुञ्चत् तत्र च ससैन्यः स उपाविशत् । तदनु सहस्रदेवैर्वाहितं तच्चचाल । तदैकेन देवेनाऽचिन्ति-अहो ! एतत्षट्खण्डसाधन इयान् कालो लग्नः । पुनर्धातकीखण्डस्य सर्वखण्डसाधने कियान् समयो यास्यतीति को जानाति ? अत इदानीं छन्नोऽहं निजां देवीं मिलित्वा पुनरत्रागच्छानि चेद्वरमिति विचिन्त्यैको देवो गतः । एवं क्रमेण सर्वेऽपि देवा निजनिजप्रेयसीं मिलितुं गताः। ततस्तच्चर्मरत्ने ब्रुडिते ससैन्यः स जल एव दुर्ध्यानेन ममार । मृत्वा सुभूमचक्रवर्ती सप्तमं नरकमाप । अतः परिग्रहेऽतिममता नैव कार्या ।

अथ २७-सन्तोषगुण-विषये-

सकल सुख भराए विध्न ते वश्य थाए,
भवजलधि तराए दुःख दूरे पलाए ।
निज जनम सुधारे आपदा दूर वारे,
नित धरम वधारे जेह संतोष धारे ॥६५॥

सन्तोषी पुमान् सदैव सुखमुपैति, सकलजनं वशयति । तोयस्थलवणमिव तद्विपदो विलयं यान्ति । संतोषतो भवाम्बुधिं सुखेन तरन्ति । संतोषिणः कदापि दुःखं न जायते । सन्तुष्टस्य जन्मनः साफल्यं जायते, तदात्मनि धर्मोऽपि वरीवृध्यते ॥६५॥

सकल सुख तणो ते सार संतोष जाणे,
कनक रमणिकेरी जेह इच्छा न आणे ।

रजनि कपिल बांध्यो स्वर्णनी लोलताए,
भमर कमल बांध्यो ते असंतोषताए ॥६६॥

किञ्च-सन्तोषो हि सर्वेषां सुखनिदानमस्ति । यो हि कनकं कामिनीञ्च जहाति स एव सन्तोषी ज्ञातव्यः । पश्यत-कपिलो माषद्वयप्रमितकनकलिप्सया समयमप्यजानन् राजपुरुषैश्चौरधिया निगृहीतोऽभूत् । नवनवरसं जिघृक्षुर्भ्रमरो यथाऽस्तसमयमविज्ञाय कमलान्तस्तिष्ठंस्तत्रैव बध्यते, अतः सर्वसुखहेतुः सन्तोष एव सज्जनैः परिधार्यः ॥६६॥ तत्प्रभावो नीतिशास्त्रेऽप्युक्तं यथा-

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं,
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥१॥ *अपि च-*
ईप्सितं मनसा सर्वं, कस्य संपद्यते सुखम् ?।
दैवायत्तं जगत्सर्वं, तस्मात्संतोषमाश्रयेत् ॥२॥

अथ २८-विषय तृष्णा-विषये-

शिवपद यदि वांछे जेह आनंद दाई,
विष सम विषया तो छांडि दे दुःख दाई ।
मधुर अमृत धारा दूधनी जो लहीजे,
अति विरस सदा तो कांजिका स्युं ग्रहीजे ? ॥६७॥

हे भव्यजीवा ! यूयं यदि स्वात्मानन्दप्रदं मोक्षं वाञ्छथ तर्हि महादुःखदमिमं विषयविषं त्यजत । यतः पीयूषमिवातिमधुरं शर्करामिश्रं सुस्वादुपयो यस्य संमिलति स विरसमतिकटुकाञ्जिकं कदापि

नेच्छति । इति दुर्गतिनिदानं विषयसुखं हेयमेव ।।६७।।

विषय विकल ताणी कीचके भीम-भार्या,
दशमुख्र अपहारी जानकी राम-नार्या ।
रति धरि रहनेमी देख्र श्रीनेमि-भार्या,
जिण विषय न वर्ज्या तेह जाणो अनार्या ।।६८।।

किञ्च-विषयिणां महतामपि या दुर्दशा जायते तां शृणुत-चारुतरां पाण्डवभार्यामालोक्य रागान्धीभूतो विराटराजस्य श्यालः कीचको भीमेन दुर्दशीकृतः कालं नीतः । तथैव जानक्या रामपत्न्या अपहारेण लङ्केशः सकुलं रामचन्द्रेण विनाशितः । तथा कन्दर्पवशगो भवन् रथनेमिमुनिरपि स्वपत्नीमिव चारित्रवतीमतिरूपवती-मनावृतसर्वाङ्गीं नेमिनाथप्रभोः पत्नीं राजीमतीमालोक्य तामपि विषयसुखमयाचत । परन्तु तत्राऽवसरेऽनेकदृष्टान्तैः सा सती साध्वी राजीमती तं प्रतिबोध्य मार्गमानीतवती । तदनु सोऽपि भगवतः पार्श्वे तत्प्रायश्चित्तमकरोत् । यतो विषयिणो जना अनार्या एव भवन्ति, अतोऽहमेवं न स्यामिति विषयो हातव्यः ।।६८।।

अथ २९-इन्द्रिय-विषये-

गज मगर पतंगा जेह भृंगा कुरंगा,
इक इक विषयार्थे ते लहे दुःख जंगा ।
जस परवश पांचे तेहनुं शूं कहीजे ?,
इम हृदय विमासी इन्द्रि पांचे दमीजे ।।६९।।

इह खलु यद्येकैकस्यापीन्द्रियस्य वशीभवन्तो गज-मीन-पतङ्ग-भ्रमर-मृगादिजीवा महादुःखिनो जायन्ते, तर्हि ये जीवाः

पञ्चेन्द्रियैर्वशीकृताः सन्ति, तेषां दुःखजातन्तु गदितुं नैव शक्यते । अतः सर्वैः सर्वाणीन्द्रियाणि जेतव्यानि । अन्यथा तेषां सुखस्य लेशोऽपि न संभवति न संभविष्यति चेह परलोकेऽपि ।।६९।।

विषय-वन चरंतां इन्द्रि जे ऊंटडा ए,
निज वश नवि राखे तेह दे दुःखडा ए ।
अवश करण मृत्यू ज्यूं अगुप्तेंद्रि पामे,
स्ववश सुख लह्यां ज्यूं कूर्म-गुप्तेन्द्रि नामे ।।७०।।

अस्मिन् विषयवने यस्येन्द्रियगण उष्ट्र स्वैरं इव चरति, सदैव स दुःखमाप्नोत्येव । यश्च गुप्तेन्द्रियगणः स कूर्म इव सदैव सुखमनुभवति । अतो निजनिजविषयगत्वराणि स्वेन्द्रियाणि निजायत्तानि कृत्वा सर्वैर्गुप्तेन्द्रियगणैरेव भाव्यम् ।।७०।।

अथ ३०-प्रमाद-विषये-

सहु मन सुख वांछे दुःखने को न वांछे,
नहि धरम विना ते सौख्य ए संपजे छे ।
इह सुधरम पामी कां प्रमादे गमीजे ?,
अति अलस तजीने उद्यमे धर्म कीजे ।।७१।।

इह सर्वे लोकाः सुखं वाञ्छन्ति, दुःखं केऽपि नेहन्ते । परन्तु स्वर्गमोक्षसुखनिदानं धर्मं विना सुखमनुभवितुं न शक्यते । ईदृशं धर्ममासाद्य ये तत्र प्रमादाऽऽलस्यादिकं विदधति, तेभ्योऽधिका विमूढाः पापपरायणाः पामराः के सन्ति ? न केऽपीत्यर्थः । अतः प्रमादं त्यक्त्वा चेह परलोके सुखसौभाग्यादिदातरि धर्मे सत्प्राणिवर्गेण सदैव यतितव्यम् ।।७१।।

इह दिवस गया जे तेह पाछा न आवे,
धरम समय आले कां प्रमादे गमावे ?।
धरम नवि करे जे आयु आले वहावे,
शशिनृपति परे त्यूं सोचना अंत पावे ॥७२॥

किञ्च-भो जीवा ! यद्दिनं याति तद्दिनं पुनर्नैवाऽऽगच्छति, इति पश्यद्भिर्भवद्भिः प्रमादालस्यादिपारवश्येन धर्मसमयो वृथा न गमनीयः । धर्ममकुर्वता निजाऽऽयुर्वृथैव हार्यते प्रान्ते च स शशिराज इव पश्चात्तापमुपैति तत्कथा धर्मवर्गे ६ प्रबन्धे द्रष्टव्या ॥७२॥

अथ ३१-साधुधर्म-विषये,
शार्दूलविक्रीडित-छन्दसि-

जे पंच व्रत मेरु-भार निवहे निःसंग रंगे रहे,
पंचाचार धरे प्रमाद न करे जे दुःपरीसा सहे ।
पांचे इन्द्रि तुरंगमा वश करे मोक्षार्थने संग्रहे,
एवो दुष्कर साधु-धर्म धन ते जे ज्यूं ग्रहे त्यूं वहे ॥७३॥

इह खलु ते साधवो धन्या विरलाश्चैव जायन्ते, ये किल मेरुवद्दुर्धराणि प्राणातिपात-मृषावादाऽदत्तादान-मैथुन-परिग्रहत्याग-रूपाणि पञ्चमहाव्रतानि सम्यक् पालयन्ति । पुनर्ये बाह्याभ्यन्तर-संयोगनिःसङ्गा विचरन्ति, पञ्चविधानाचारान् पालयन्ति, शीतादि-दुःखपरीषहं सहन्ते, वशीकृतपञ्चेन्द्रियतुरङ्गवेगा मोक्षमीहन्ते । ईदृशमतीव दुष्करं साधुधर्मं गृहीत्वा यावज्जीवमवन्ति ॥७३॥

मयण शिर विमोडी कामिनी संग छोडी,
तजिय कनक कोडी मुक्तिसूं प्रीत जोडी ।

भव भव भय वामी शुद्ध चारित्र पामी,
इह जग शिवगामी ते नमो जंबूस्वामी ॥७४॥

यो हि कन्दर्पदर्पं जिगाय कामिनीमत्यजत्। अधिगतस्वर्णकोटिं मुक्त्वा मुक्तिस्त्रियामरंस्त शुद्धञ्चारित्रञ्च यावज्जीवमपालयत्। सकलभवभीतिमपनीतवान् प्रान्ते चाऽसारसंसारतो मुक्तवान्। एतादृशं जम्बूस्वामिनं नमत भृशमहमपि तञ्च नमस्यामि ॥७४॥

अथ ३२-श्रावकधर्मविषये
शार्दूलविक्रीडित-वृत्तम्-

जे सम्यक्त्व लही सदा व्रत धरे सर्वज्ञ सेवा करे,
संध्यावश्यक आदरे गुरु भजे दानादि धर्माचरे।
नित्ये सद्गुरु-सेवना मन धरे एवो जिनाधीश रे !,
भाख्यो श्रावक धर्म दोय दशधा जे आदरे ते तरे ॥७५॥

यथा-भो भव्यप्राणिन् ! जिनेश्वरो भगवान् भवाब्धिं निस्तरीतुमीदृशं सद्धर्मं भाषते-यो हि सम्यक्त्वमेत्य सदैव व्रतं कुरुते। सर्वज्ञं पूजयति प्रातः सायञ्च प्रतिक्रमणं नियमतो विधिवत्करोति। भक्त्या सादरं गुरून् सेवते तथा दानशीलतपोभावलक्षणञ्चतुर्धा धर्ममाचरति। सदैव सद्गुरौ भक्तिं तनोति तथा द्वादशविध-श्राद्धधर्मं परिपालयति। ईदृशो यः श्रावकः स एव भवाम्बुधिं निस्तीर्य मोक्षसुखमनुभवति ॥७५॥

निशदिन जिनकेरी जे करे शुद्ध सेवा,
अणुव्रत धरि जे ते काम आनंद देवा।
चरम जिनवरिंदे जे सुधर्मे सुवास्या,

समकिति सतवंता श्रावका ते प्रशंस्या ॥७६॥

किञ्च, शुद्धमनसा दिवानिशं प्रभुसेवातत्परः तथाऽणुव्रत-परिपालको द्वादशविधव्रताराधक ईदृग्गुणविशिष्टः श्रावक आनन्दनामा कामदेवनामा चाऽभूत्, ययोः सम्यक्त्वं धर्मदृढत्वं सत्यवादित्वं च जिनवरेण श्रीवीरप्रभुणा वर्णितं स्वमुखेन तौ च प्रान्ते सौधर्मे देवलोके समुत्पन्नावभूताम् ॥७६॥



४८-अथ दृढधर्मे कामदेवश्रावकस्य कथानकम्-

यथा-चम्पापुर्यां धर्मध्यानैकधामा कामदेवनामा श्रावको निवसति स्म स चैकदा कायोत्सर्गध्याने रात्रौ तस्थौ । तस्मिन्नवसरे द्वात्रिंशल्लक्षविमानस्वामी प्रथमदेवलोकाधिपतिः स्वसदसि तत्प्रशंसाम-करोत् । तदाकर्ण्य कश्चिन्मिथ्यात्वी देवस्तत्परीक्षायै तत्राऽऽगत्य गजरूपं विकृत्य तमधःपात्य दन्तैरपीलयत् तथापि स ध्यानं न जहौ । तदनु महाकायं सर्परूपं विकृत्योच्चैः फूत्कुर्वन्मुहुर्मुहुस्तं ददंश । परमेतावत्युपसर्गेऽपि स निश्चलतां नाऽत्यजत् । ततो राक्षसरूपं विकृत्याऽट्टहासं विदधदनेकधा तमभीषयच्च घोरोपद्रवमकार्षीत् । इत्थं रात्रौ चतुर्यामं तदुपद्रुतोऽपि मेरुवन्निश्चल एवाऽदर्शि । तदनु तत्पदे प्रणतो देवः स्वाऽपराधं क्षमयित्वा निजस्थानमगात् ।

एतदेवाह-उपदेशमालायां-

देवेहिं कामदेवो, गिही वि नवि चालिओ तवगुणेहिं ।
मत्तगइंदभुअंगम-रक्खसघोरट्टहासेहिं ॥१॥

"देवैः कामदेवो गृही-गृहस्थोऽपि नापि चालितस्तपोगुणेभ्यो,

मत्तगजेन्द्रभुजङ्गमराक्षसघोराट्टहासैः"। ततः प्रभाते ध्यानं समाप्य श्रीवीरप्रभुं वन्दितुमगात् तत्र च वन्दनानन्तरं प्रभुर्द्वादशविधपर्षदग्रे तमेवं प्रशशंस यथा-भो लोका ! एष कामदेवः श्रावको भूत्वापि यादृशं नियममपालयत् तादृशनियमपालयितारः साधवोऽपि विरलाः सन्ति। तदनु नैशिकोपसर्गजातं सर्वानवोचत। ततः श्रमणाः श्रमण्योऽपि जिनवचनं तत्तथेति कृत्वा, पालयन्ति निरतिचारं चारित्रं सहित्वोपसर्गान्। ततो हृष्टस्तुष्टः पृष्ट्वा प्रश्नान्स लब्धप्रश्नपरमार्थः कामदेवश्राद्धो, वन्दित्वा वीरं, गतः स्वगृहमिति, तथैव सर्वैः सुश्रावकैर्भाव्यम्।

इम अरथ-रसाला जे रची सूक्तमाला,
धरमनृपति-बाला मालिनी छंदशाला।
धरममति धरंतां जे इहां पुन्य बांध्यो,
प्रथम धरम केरो सार ए वर्ग साध्यो ॥७७॥

सूक्तानि, सुभाषितान्येव मुक्ताया आवली- पङ्क्तिरिव विद्यन्ते यस्यां सैषा सूक्तमुक्तावली धर्मराजस्य पुत्रीवन्निरवद्यं छन्दोऽर्थादिदोषरहितं सर्वमङ्गं यस्यास्तथाभूता, अत एव महार्था उदारार्था अपि च वैराग्यादिसद्रसैराढ्यतरा तथाऽनेकैः शार्दूलविक्रीडतेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रास्वागतावसन्ततिलकादिवृत्तैर्निबद्धाऽपि प्रायेण सर्वजनश्रवणसुखरुचिररसोत्पादकमालिनीवृत्ते निर्मिता। ततस्तामेनां व्याख्याने सर्वजनपठनश्रवणानन्दायिनीं सद्बोधविधानशालिनीं सरलसरससंस्कृतमयीं सूक्तमुक्तावलीं धर्मधिया ये पठिष्यन्ति ते धर्मराशिं बन्धयिष्यन्ति ततश्चान्ते सर्वसुखानीप्सितानि प्राप्स्यन्ति।



इति सर्वजीवहितेच्छुकेन पण्डित-
श्रीमत्केसरविमलगणिना भाषाकवितामयविरचितायां
ततः श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-
सुविहितसूरिशक्रचक्रपुरन्दरसकलजैनागमपारदृश्व-
परमयोगिराज-जैनाचार्यभट्टारक-
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरान्तेवासि-
सिद्धान्तमहोदधि-न्यायचक्रवर्ति-परम्परानुग-
श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरीश-पट्टप्रभावक-साहित्यविशारद-
विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरेण सरलसरस-
संस्कृते सङ्कलितायां सूक्तमुक्तावल्यां प्रथमो
धर्मवर्गः समाप्तः ॥



अथ द्वितीयोऽर्थवर्गः प्रारभ्यते ।

अथार्थवर्गे हितचिन्तनं श्री,-र्मितम्पचार्थ्यस्वमहीशसेवाः ।
खलादिमैत्रीव्यसनादि चैव,-मिहाऽवधार्याः कतिचित्प्रसङ्गाः॥१॥

तत्र स्वपरहितचिन्तनं १, सम्पद्-लक्ष्मीः २, कृपणता ३, अर्थी-याचना ४, अस्व-निर्धनता ५, राजसेवा ६, खलता-दुर्जनता ७, आदिशब्दादविश्वासः ८, मैत्री-मित्रता ९, सप्तकुव्यसनानि-द्यूत-क्रीडनं १०, मांस-भक्षणं ११, चौर्यकरणं १२, मद्यपानं १३, वेश्याऽऽसक्तिः १४, आखेटकं १५, परस्त्रीप्रसङ्गश्च १६, पुनरादिशब्दात्-कीर्तिः १७, मन्त्री १८, कला १९, मूर्खता २०, लज्जा २१, चैवमर्थवर्गेऽस्मिन्नेकविंशतिविषयाः क्रमेण वर्ण्यन्ते ॥१॥

१-अथ स्वपरहितचिन्तन-विषये मालिनी-छन्दसि-

परहित करवा जे चित्त उच्छाह धारे,
परकृत हित हीये जे न कांई विसारे ।
प्रतिहित पर थी ते जे न वांछे कदाई,
पुरुष-रयण सोई वंदिये सो सदाई ॥१॥

ये हि सदैव परेषां हितं कर्तुमुत्साहं दधति वाञ्छन्ति च । ये च कदाचित्सकृदपि परकृतोपकारं न विस्मरन्ति । तथा परानुपकृत्य ततः प्रतिफले धनादिकं किमपि नेच्छन्ति ते रत्नसन्निभाः सत्पुरुषाः सदैव लोकमान्याः सन्तस्सर्वत्र जयन्ति ॥१॥

निज दुख्ख न गणीने पारकुं दुःख वारे,
तिहतणि बलिहारी जाइये कोडि वारे ।

जिम विषभर जेणे डंक पीडा सहीने,
विषधर जिनवीरे बूझव्यो ते वहीने ॥२॥

ये सत्पुरुषा दुःखानि सहमाना अपि परेषां दुःखं निराकुर्वते ते जनाः सदा सर्वेषां वन्दनीया विलसन्ति। यथा-वीरप्रभुश्चण्डकौशिक-महाहिदंशनवेदनां सहमानस्तस्मै प्रतिबोधमदात्। तत्प्रभावतः सोऽष्टमसहस्रारदेवलोकं प्राप्तवान्। एवं यः स्वयं दुःखीभवन्नपि परकीयक्लेशं वारयति हितञ्च करोति स एव धन्यो जगत्पूज्योऽस्ति ॥२॥



१-अथ परहितचिन्तकमहावीरस्वामि-क्रूरात्मचण्डकौशिकयोः कथानकम्-

तथाहि-चण्डकौशिकनामा फणी भवान्तरे साधुरभूत्। स चैकदा कनिष्ठशिष्येण सह गोचर्यै गतः। अग्रे गुरुः पृष्ठे च शिष्य इत्थं चलतस्तस्य गुरोः पादतलेन मर्दितो मण्डूको ममार। परं गुरुर्नाऽपश्यत्, शिष्यो दृष्टवान्, स तदा गुरुमवक्-स्वामिन्! भवदङ्घ्रिणा मर्दितो मण्डूको मृतः। तस्मादेतत्पापाऽपनोदनाय भवानीर्यापथिविधिं प्रतिक्रम्य तदालोचनं करोतु। गुरुणोक्तम्-गच्छ गच्छ मत्पादतले नैव कोऽपि दर्दुरो मर्दितः।

तदनु गोचरीं लात्वा स्वस्थानमागतो गुरुस्तात्कालिकं गमना-गमनमालोचितवान्। तदापि शिष्येण तस्मिन् स्मारिते गुरुरूचे-अरे! मुहुर्मुहुर्निष्फलं किं ब्रूषे? मत्पादतले क्वापि किमपि नैव पीलितम्। तदा शिष्येणाऽचिन्ति-इदानीमनवकाशतो नाऽकारि, सायन्तनप्रति-

क्रमणसमय एतत्प्रायश्चित्तमालोचयिष्यते ।

तत्राऽपि प्रतिक्रमणं समाप्य गुरुस्तत्पापं यदा नाऽऽलोचितवांस्तदा शिष्यो मनसि दध्यौ – एतस्य गुरोः शिरसि पञ्चेन्द्रियहत्याऽलगत् संयमश्चाऽस्य दूषितो भवति । गुरुर्वृद्धत्वान्न बुध्यते, अतो मया तद्विजानताऽसौ दोषमुक्तो विधातव्यः, नो चेन्ममाऽप्यतिचारो लगिष्यतीति विचार्य तत्रावसरे शिष्यस्तत्स्मारितवान् । तदा गुरुर्महाकोपं कृत्वा निजरजोहरणं गृहीत्वाऽतिवेगेन शिष्यं ताडयितुमधावत् । धिक् कोपं ! येन रजोहरणेन जीवा रक्ष्यन्ते तेनैव स शिष्यजीवं घातयितुमैच्छत् । तत्रावसरे गुरुभयेन सोऽन्यत्र पलायितः, तत्पृष्ठ धावन् स गुरुर्निशि तमो–बाहुल्यात्केनचिदपि स्तम्भेन मर्मणि हतो दुर्ध्यानेन मृत्वा ज्योतिषदेवोऽभवत् ।

ततश्च्युत्वा चण्डकौशिकनामा तापसोऽभूत्, स फलपुष्पमयमुपवनमकरोत् । तत्र क्रीडन्तो नृपकुमाराः प्रत्यहं तमुपद्रुद्रुवुः, निवारिता अपि दुर्वारास्ते यदा न न्यवर्तन्त, तदा स तापसः कुठारमादाय तान्प्रत्यधावत् । तेषु पलायितेषु कर्मयोगात्कुत्रापि गर्ते पतन् कुठारेण वक्षसि हतस्तापसो दुर्ध्यानेन मृत्वा महाकायो भीषणो नागोऽभूत् । तस्य विषज्वाला महती जाता स च लोकान् दृष्टिमात्रेणाऽपि भस्मीकुर्वन्नाऽऽसीत् । ततो लोकास्तन्मार्गमप्यत्यजन् ।

अथैकदा तेनैव मार्गेण गच्छन्महावीरस्वामी सर्पभीतिं निगद–द्भिर्लोकैः प्रतिषेधितोऽपि तस्य बिलोपरि कायोत्सर्गध्याने तस्थिवान् । तदा बिलाद् बहिरागतश्चण्डकौशिको महाहिर्विषज्वालामुद्वमन् वीरप्रभोश्चरणं ददंश, परं स निश्चल एवातिष्ठत् । किन्तु तस्य दष्टप्रदेशतो

रक्तं न निरगात् पय एव किञ्चिदुदगच्छत् । तदाश्चर्यं विलोक्य स दध्यौ-अहो ! अन्येषां मया दष्टे रक्तं प्रस्रवति, एतस्य तु दुग्धं वहति, इति महाश्चर्यं लगति ।

इत्थं विचिन्तयन् स प्रभुणा भणितस्तथाहि-हे चण्डकौशिक! इदानीमपि त्वं न प्रतिबुद्धोऽसि ? कोपकरणादेव त्वमत्र सर्वभयदो भीषणः सर्पोऽभूः । अधुनापि तथा कुरुष्व येनेमं संसारमुत्तीर्य सद्गतिमधिगच्छ । इति प्रभुमुखाच्छ्रुत्वा सञ्जातजातिस्मरणो बिलाद् बहिरागतः स फणी प्रभुं त्रिःप्रदक्षणीकृत्य त्रिवारं शिरसा नमस्कृत्य तमूचे-हे स्वामिन् ! शरणागतवत्सल ! मामधुना तारय तारय । हे अनन्तभवसन्तापवारक ! संसारसागरनिमज्जत्प्राणिसमुद्धरणपटो ! मद्भाग्योदयवशादेवाऽत्राऽऽगतोऽसि, ततो निरशनं व्रतं दीयतां, तदा प्रभुस्तस्मै पञ्चदशदिवसानशनमदात् ।

तदनु गृहीताऽनशनः स स्वशरीरमुत्ससर्ज । तथाहि-ममैतच्छरीरे ममता नास्ति, यदेतदनित्यमित्यवधार्य मुखं बिलान्त-र्निधाय शेषाङ्गं बहिर्विधाय तस्थौ । ततःप्रभृति कस्याऽप्यपराधं मनागपि नाऽकरोत् । ततश्च नागदेवः सर्वोपरि तुष्टोऽभूदतो न कमपि कदापि दशतीति लोकास्तं तुष्टुवुः । अस्माकमेष पूज्य इति विदन्तः सर्वे जनास्तं भक्त्या पूजयन्ति स्म । तदङ्गे कियन्तो घृतं, कियन्तो दुग्धं, चान्ये नवनीतमित्यादि नित्यं क्षेप्तुं लग्नाः । ततस्तच्छरीरं घृतमेलकीटि[1]काः समागत्य भृशं भक्षयन्ति स्म । तदनु तत्कायश्चालनीव सहस्रच्छिद्रतामापत् । तथापि स शमतां न जहाति स्म । ततः शुभध्यानतो मृत्वाऽष्टमदेवलोकं गतः ।

1. वज्रतुण्डकीटिका, इत्पर्थः

अयमत्र सारः-यथा भगवान् श्रीमहावीरस्वामी सर्पमुद्धर्तुकाम-स्तद्दंशनजां वेदनामसहिष्ट । तथैव परोपकारहेतवेऽन्यैरपि दुःखं सोढव्यं, तत्सर्प इव शमतां बिभ्रद्यः परानुपकरिष्यति स ध्रुवमुभयलोके सुखी भविष्यति ।

अथ २-सम्पद्-लक्ष्मी-विषये मालिनी-छन्दसि-

अरथ अरजि जेणे स्यायते विश्व होवे,
जिण विण गुण विद्या रूपने कोण जोवे ।.
अभिनव सुखकेरो सार ए अर्थ जाणी,
सकल धरम एथी साधिए चित्त आणी ॥३॥

इह जगति सम्पत्तिमतामखिलं जगद्वश्यतां याति । तदर्थं विना महानपि गुणवान् विद्वान् रूपवान्न शोभते । सम्पत्तिमांस्तु धीविद्यादिगुणहीनोऽपि लोके संपूज्यते सर्वैश्च रूपवान् गुणवानुच्यते । यदाह-

लक्ष्मीर्भूषयते रूपं, लक्ष्मीर्भूषयते कुलम् ।
लक्ष्मीर्भूषयते विद्यां, सर्वो लक्ष्म्या विशिष्यते ॥१॥

इति हेतोः सर्वेषां गुणानां सदनं, लक्ष्मीरेवास्ति, लौकिकसकल-विधसुखस्य मूलमपि सैवास्ति ।

धनेन सुखं प्राप्यते पुनर्धर्म्मोऽपि समुत्पद्यते । अपि च चित्तस्थैर्यमपि संभवति धनसद्भावे ॥३॥

२-अथ संपदाऽऽप्तसुखस्योत्तमकुमारस्य दृष्टान्तः-

वाराणसीनगर्य्यां मकरध्वजो राजाऽस्ति तत्पत्नी लक्ष्मीवती विद्यते। तयोः पुत्रः शीलवान् सत्यवक्ता दयालुर्न्यायनिपुणः स्वधर्मतत्परः परदाराविमुखः सन्तोषी देवगुरुभक्तिकरो धर्मानुरागी परोपकर्त्ता द्विसप्ततिकलाकौशलवान् नाम्नोत्तमकुमारोऽस्ति ।

स चैकदा देशान्तरं निजभाग्यपरीक्षायै निरगात्ततोऽनेक-नगरग्राम-पट्टणादिकौतुकं पश्यन् चित्रकूट-गिरिमागच्छत्। तत्रत्य-नृपस्य महासेनस्य मेवाड-मालव मरुदेश-सौराष्ट्र-कर्णाटकप्रमुख-देशाधिपस्य निरपत्यत्व-समुत्पन्नवैराग्यस्य कस्मैचिद्योग्याय सत्पुरुषाय गुणशालिने राज्यं दत्त्वाऽऽत्मसाधनाय दीक्षाजिघृक्षा समुत्पेदे ।

अथैवं चिन्तयन् स राजा नवमश्वमारुह्य पथि गच्छन् तुरगगतिमान्द्यं प्रधानमपृच्छत्-तदा तत्रस्थः स उत्तमकुमार ऊचे-भो राजन् ! एष घोटको महिषीक्षीरमपिबदतो मन्दगतिरेतस्यास्ति। तद्वच आकर्ण्य राजा तमपृच्छत्-भो वत्स ! त्वयैतत्कथमवेदि ? तेनोक्तम्-राजन् ! अश्वविद्यां जानामि । तदा नृपोऽवक्-त्वदुक्तं सत्यमस्ति शैशवे मृतमातृकोऽसौ महिष्याः क्षीरं पपौ। पुनरुक्तम्-हे सौम्य ! त्वं कोऽसि ? कुत्र ते वसतिर्विद्यते ? तदोत्तमकुमारो नृपस्य यथोचितं प्रश्नोत्तरमदात्। नृपो नूनमसौ कोऽपि राजकुमारोऽस्तीति मत्वा तमेवमवदत्-हे सौम्य ! त्वं ममेदं राज्यं गृहाण । यतोऽहं संसारादुद्विग्नोऽस्मि, तेनोक्तं-हे पितः ! त्वदुक्तं सत्यमस्ति, परं ममेदानीमनेकदेशाटन-चिकीर्षैवाऽस्ति पश्चाद्यथा कथयिष्यसि तथा

करिष्यामीति निगद्य ततोऽग्रेऽचलत् ।

अथानुक्रमेण स भृगुकच्छनगरमागत्य नगरश्रियं पश्यन् मुनिसुव्रतस्वामिचैत्यमालोकितवान् । तत्रान्तः प्रविश्य भक्त्या प्रभुं नमस्कृत्य यथाविधि संस्तुत्य बहिरागतः । तत्रैव कस्यचिन्मुखादशृणोत्- यदेतन्नगर-श्रेष्ठी कुबेरदत्तनामा पोतव्यापारी क्रेयवस्तुभिः पोतं भृत्वाऽष्टादशशतयोजनात्परं मुग्धद्वीपं जिगमिषति । तत उत्तमकुमार- स्तदन्तिकं गत्वा भाटकं निर्णीय तेन सह तत्राऽगच्छत्, ततः पोतः समुद्रमार्गेण चचाल ।

अथ कियद्दिनानन्तरं समानीतजलनिःशेषे सर्वे तृषाकुलाश्चिन्ता- मापुः । तदा द्वीपान्तरं मिष्टानि जलानि लातुमागताः सर्वे । तत्र ते जलानि ललुः पश्चात्तत्र भ्रमरकेतुराजो राक्षससैन्यसमाकुल- स्तत्राऽऽगत्य कियतो लोकान् पादतलैरपीलयत्, कियतो जनान् निजकच्छेऽग्रहीत्, कियतो निजपाणिभ्यां जग्राह । तद्भीत्या कियन्तो लोकाः पोतान्तर्नेशुरित्यादि लोककदर्थनमालोक्य स धीरः सत्यवादी दयालुस्तं राक्षसराजमवादीत्- भो राक्षसेन्द्र! दीनान् किं कदथर्यसि ? यदि युयुत्ससि तर्हि मया सह युध्यस्वेत्युदीरयन् कुमारस्तेन सह भृशं युद्ध्वा तं पराजितवान् । स यावत्तेन सह युध्यमानो दूरं गतस्तावत् स श्रेष्ठी निजपोतमचालयत् ।

तत्राऽऽगत्य पोतमपश्यन्नेवं व्यचिन्तयत्-अहो ! लोकस्थितिः कीदृशी वर्त्तते ? यानहं तस्मादरक्षं तेऽत्रैव मां मुक्त्वा गताः । जगति सर्वे स्वार्थलम्पटा एवाथ वा कोऽपि कस्यापीष्टमनिष्टं वा कर्त्तुं न शक्नोति । यद्दैवं समीहते तदेव भवति, कृतं कर्म भोगेनैव क्षयं याति ।

अतो हे जीव ! तव धर्म एव सर्वत्र समुपकर्त्तास्ति, नान्यः कोऽपि, इत्येवं विचिन्तयन् फलादिनाऽऽत्मानं पोषयन् पुरश्चचाल ।

मार्गे च मदनमूर्तिमिव तमुत्तमकुमारमालोक्य तद्द्वीपदेवी तत्क्षणं षोडशशृङ्गारसज्जिता, हावभावादिकं कुर्वती परितः कटाक्षयन्ती मदनशरजालपीडिताङ्गी तदभिमुखी बभूव । तदग्रे तज्जिगीषया प्रथमं कामराजस्य सामन्तभूतभ्रमरायितकटाक्षविशिखान्मुमोच । तदनु स्मितजितशरदिन्दुवदनविनिर्गतवाग्बाणवृष्टिमकरोत् । ततः कन्दर्पराजस्य प्रयाणसमये हृदयभूधरोपरि तत्सैन्यभेरीमिव स्तन-कमलकोरकमदर्शयत् । इत्थं बहुभिर्युवजनमोहनकरैर्हावैर्भावैश्च मोहितोऽपि स मेरुवन्निश्चल एवादर्शि । वशीकृतात्मनां राजादयोऽपि मनागप्यनिष्टं कर्तुं न प्रभवन्ति । यतः-

यस्य हस्तौ च पादौ च, जिह्वा चाऽपि सुयन्त्रिता ।
इन्द्रियाणि सुगुप्तानि, रुष्टो राजा करोति किम् ? ॥२॥

ततस्संतुष्टा सा तं संस्तुवती तदग्रे सार्धद्वादशकोटिस्वर्णवृष्टिं विधाय निजस्थानमयात् । कुमारोऽप्यग्रे गच्छन् समुद्रद्रत्तव्यापारिणः पोतमपश्यत् । स उत्तमकुमारं सादरं निजपोतमारोहयत् । कियद्दिना-नन्तरं तस्मिन्नपि जलव्यये सर्वे लोकास्तृषाकुलाश्चिन्तामापुः । तत्राऽवसरे तत्रस्थनियामकः शास्त्रमवलोक्य जगाद- मिष्टवारिपूर्णः कूपोऽत्र पर्वते विद्यते, परं ततो जलाहरणमतिकठिनमस्ति । पुनरत्र भ्रमरकेतुनामा राक्षसेन्द्रो जनान् हिनस्तीति श्रुतं मया । इतोऽन्यत्र कुत्रापि समीपे मिष्टं वारि नास्तीत्यत्रैव पोतः स्थाप्यताम् । इत्युदीर्य पोतः स्थापितस्तदा राक्षसभीत्या केऽपि तस्मादुत्तीर्य जलान्यानेतुं नोत्सेहिरे ।

तदा दयासिन्धुः स उत्तमकुमारः पोतादवतीर्य कूपस्थान-मागतस्तत्र कूपे डोरकं पातयन् जलार्थिनो भयाद्दूरे स्थितान् लोकानवोचत्-भो लोका ! आगच्छत जलमाहरत यतो मयि सति राक्षसः कमपि पराभवितुं नो शक्ष्यति। तदनु स तद्राक्षसेन्द्रसमीप-मुपाविशत्, तदालोक्याऽन्येऽपि पात्रहस्तास्तत्राऽऽययुः । ते सर्वे कूपे गुणं पातयामासुः परमञ्जलिमात्रमपि जलं केऽपि नाऽऽददुः ।

तत्रावसरे कुमारश्चिन्तयति-अहो ! जलं दृश्यते परं पात्रे कथं नाऽऽगच्छति ? एते च तृषाकुलाः पीड्यन्ते । अतोऽत्र केनापि कारणेन भवितव्यम्, लोकाश्च कूपान्तः पश्यन्तः स्वान्ते राक्षसभी-तिमावहन्ति । तदा पोताधिपेनोक्तम्-कोऽप्येतदन्तः प्रविश्य जलानि समानेतुं शक्नोति? परं राक्षसभीत्या कोऽपि तदा नाऽवदत् सर्वे मौनमाजग्मुः ।

तदा वीरशिरोमणिः परमसाहसिकः परोपकरिष्णुः कुमारो लोकैर्निवारितोऽपि परदुःखमसहिष्णुस्वभावतया गुणं दृढं बद्ध्वा तदवलम्बनतः कूपान्तर्ययौ तत्र च जलोपरि स्वर्णजालकमपश्यत् । तद् वीक्ष्य दध्यौ- अहो ! ईदृशं जालकं कुत्रापि न दृष्टं न श्रुतम् । अत्रापि कोऽपि हेतुरस्ति । तदनु स बलेन जालकमत्रोटयत् ततो जलं सर्वे यथेष्टं नीतवन्तः, सर्वे तुष्टुवुश्च कुमारसाहसम् । अत्रापि भाग्यं परीक्ष्यमिति ध्यात्वा कौतुकी स इतस्ततः पश्यन् कूपभित्त्येकभागे समुन्नतमेकं जालकं पुनर्ददर्श, तदन्तश्च स्वर्णमयसुरत्नजटित-सोपानपङ्क्तिरालोकि ।

ततस्तेन कुमारेण तज्जालकान्तः प्रविश्याग्रे गच्छता दिव्यमेकं

प्रासादमालोक्य तद्द्वारि वृद्धैका स्त्री दृष्टा। तत्रान्तिकमागतं कुमारं साऽवादीत्-हे भाग्यमुक्त ! त्वं कोऽसि ? राक्षसेन्द्रं भ्रमरकेतुं किं न जानासि, यदत्राऽऽगतोऽसि ? तदुक्तमाकर्ण्य कुमारो जगाद-भो वृद्धे ! तमहं जानामि, संग्रामे च तं जित्वाऽत्राऽऽगतोऽस्मि त्वङ्कासि ? कस्य चाऽयं प्रासादोऽस्ति? तद्वद।

तदुक्तमेवं निशम्य वृद्धा वदति-हे धीर ! वीर ! श्रूयताम्, सर्वं त्वां कथयामि। इह राक्षसद्वीपे लङ्कानामनगर्यस्ति, तत्र भ्रमरकेतुनामा राजाऽस्ति, तत्पुत्री महालसानाम्नी महासुन्दरी चतुश्षष्टिकलानिपुणा वर्तते। कदाचित्स निमित्तज्ञमपृच्छत्-भो नैमित्तिक ! ममैतस्याः पुत्र्या वोढा को भविता ? इति पृष्टे, तेनोक्तम्- भूचारी उत्तमकुमारस्ते पुत्रीं परिणेष्यति। स राजराजेश्वरोऽनेकविद्याधरकुलस्य सेव्यो भविष्यति। तदाकर्ण्य स भृशं खेदमकरोत्। यन्मे राक्षसस्य सुताया मनुष्यो भर्ता स्यादेतदयोग्यमिति हेतोरत्रैतद्भवने पञ्चरत्नानि दिव्यानि दत्त्वा मया सह तां पुत्रीमतिष्ठिपत्। अन्यदा तदर्थं किमप्याऽऽनीय समायान्ती दासी कूपेऽस्मिन्नपतत्। ततस्तेनेदृशं जालकं कूपे जलोपरि दत्तवान्।

अथैकदा पुनरसौ तमेव नैमित्तिकमपृच्छत्-भोः कथय मत्पुत्रीं कः परिणेष्यतीति ? तेनोक्तम्-क्षत्रियो भूचर उत्तमकुमारः। पुनरपृच्छत्तत्र कमपि दृष्टान्तं (चिह्नं) गदितुं शक्यते चेद्वद ? तेनोक्तं शृणु-स हि पोतमारुह्य समुद्रे गच्छन् सर्वेषां भीतिप्रदं त्वां युद्धे विजित्य लोकानभयान् विधास्यति। इति नैमित्तिकभाषितं श्रुत्वा चिन्तातुर इतस्ततः पर्यटन् कालं गमयति।

इत्थं निगद्य सा यावद्विरराम, तावत्तत्र महालसाप्याऽऽययौ। तदनु सा कुमारदर्शनादतितरां कामुकी भूता। तत्रावसरे द्वयोर्मिथोऽनुरागं ज्ञात्वा वृद्धा स्त्री तदैव तयोर्गान्धर्वविधिना विवाहमकरोत्। तदा दास्या रत्नकरण्डकमानाय्य दासीसहिता कुमारेण सह कूपोपकण्ठमागात्। तत्रावसरे कियन्तः पोतयायिनो लोका उपरिस्थितास्तान् वीक्ष्य रज्ज्वा कूपादूर्ध्वं नीतवन्तः। तस्मिन् समये तौ दृष्ट्वा किमिदं देवयुगलं विद्याधरयुगलं वेत्यादि शशङ्किरे ?

ततः कुमारस्तया सह तत्र पोते समागत्य पुरश्चचाल। कियद्दिनानन्तरं पुनरपि तत्र महापोते व्ययितेषु पानीयेषु सर्वे तृषापीडिताश्चिन्तामापुः। तदा तानतिदुःखितानालोक्य महालसा प्राणेशमेतदूचे-हे कान्त! ममैतत्करण्डके पितृप्रदत्तानि दिव्यानि पञ्च रत्नानि सन्ति। तेष्वेकं पृथिवीरत्नं पूजितं नानाविधमन्नं मणिकनकरत्नमयभाजनं प्रयच्छति। द्वितीयं जलरत्नं पूजितं सद्वाञ्छितमतिमिष्टं वारि वर्षति। तृतीयं वह्निरत्नमस्ति तत्प्रभावात् सूर्यपाकं रसवद्यथेष्टं भोज्यं लभ्यते। चतुर्थं वायुरत्नमस्ति, तेन पूजितेन ग्रीष्मार्त्तिरुपशाम्यति मनोऽनुकूलञ्च वायुर्वाति। पुनरेवमेव पञ्चमे रत्ने पूजिते यथेच्छदेवदूष्यवसनानि लभ्यन्ते। ईदृशेषु पञ्चरत्नेषु सत्सु लोकोपकारः क्रियताम्।

इति प्रेयसीनिगदितमाकलयन् प्रमोदमानः कुमारस्तदैव जलरत्नं संपूज्य पोतस्तम्भे न्यबध्नात्। तदा तत्क्षणमेव जलवृष्टिरजायत लोकाश्च तैर्जलैः स्वस्वपात्राण्यपूरयन्, मुदिता लोकाः कुमारं प्रशशंसुः। कियत्कालानन्तरं तत्र पोतेऽन्नमपि क्षीणमभूत्। तदा लोकानन्नविकलानालोक्य

पृथिवीनामरत्नं परिपूज्य धान्यस्थानेऽस्थापयत्, ततो धान्यराशि-स्तत्प्रभावाज्जज्ञे। ईदृशोपकुर्वन्तमुत्तमकुमारं प्रशस्य समस्ता अपि पुरुषास्तदादेशवर्तिनोऽभूवन्। पोतनायकः समुद्रदत्तश्च रम्भोपमां महालसां तानि दिव्यरत्नानि च विलोक्य नितान्तं तदर्थं लुलुभे।

तत एकदा नरकादप्यबिभ्यत् समुद्रदत्तः सत्यवसरे कुमारं सागरेऽपातयत् तदा सर्वे दुःखमापुः। महालसापि तद्वियोगजं दुःखमसहिष्णुस्तदैव मर्तुकामाभूत्। तदा सख्या भणिता- हे स्वामिनि! मा म्रियस्व, बालमरणेन दुर्गतिरेव जायते, यतः शास्त्रेऽपि तन्निषिद्धमस्ति। अत इदानीं शीलरक्षार्थं केनाप्युपायेनाऽसौ पापीयान् वञ्चनीयः। अग्रे च रत्नप्रभावेणाऽभीष्टं सेत्स्यति भर्तापि च तेऽवश्यं समेष्यति। नो चेदन्ते चारित्रं लात्वाऽऽत्मसाधनं विधातव्यमिति वयस्योक्तं साधु मत्वा सा तथैवाऽकरोत्।

इतस्तमुत्तमकुमारं तत्र सागरे कश्चिन्महाकायो मत्स्योऽ-गिलत्। ततस्तटागतं तं धीवरो जाले गृहीत्वा विददार, तदुदरा-दुत्तमकुमारो जीवन्नप्यचेतनो निरगाद्, धीवर उपचारेण कुमारं सज्जीचक्रे।

महालसाऽपि वायुरत्नप्रभावाद्दिनद्वयेनैव पल्लीनामबन्दरे पोतस्थितिस्थानमागात् तत्र च जैनधर्मी नरवर्मनामा राजास्ति। समुद्रदत्तव्यापारी महार्हरत्नभृतस्थालमादाय महालसया सह नृपान्तिकमागत्य तञ्च नमस्कृत्य तत्स्थालकमुपदीचक्रे। राज्ञा च कुशलप्रश्नानन्तरमुक्तम्- भोः श्रेष्ठिन्! तव को देशः? कस्माद् द्वीपादिहागतोऽसि? तत्कथय। तेनोक्तम्- स्वामिन्! चन्द्रद्वीपादागतो-

ऽस्मि मार्गे चेयं स्त्री लब्धा। श्रीमतामादेशेनैनामहं भार्यां चिकीर्षामि। तन्निशम्य महालसा राजानमेवं विज्ञप्तवती- राजन्! असौ महापापी धूर्तराट् सर्वमलीकमेव निगदति। असौ मम भर्तारं सागरान्तरमपातयदित्येतस्य चाण्डालस्य मुखदर्शनादपि पापं लगति। अतो दुष्टस्यास्य मुखं नैवाऽवलोकनीयम्।

इति तद्वचनमाकर्ण्य तदुपरि भृशं प्रकुपितो नृपस्तस्य पञ्चशतपोतान् जग्राह। तञ्च कारागारेऽस्थापयत् महालसाञ्च राजाऽवक्- हे वत्से! पुत्रीवत्त्वं मम गृहे सम्यक्तया सुखेन तिष्ठ।

तदनु नृपप्रदत्तावासे तिष्ठन्ती रत्नप्रभावात्प्रत्यहं धनधान्यसुवर्णादि निराधारेभ्यो जनेभ्यश्च ददती कालं यापयति। अहर्निशं स्वधर्मतत्परा प्रत्यहं जिनेन्द्रमर्चति, प्रासुकाऽऽहारवस्त्रादि सुबुद्ध्या सुपात्रेभ्यो दानं प्रयच्छति, पुनरनुकम्पया दीनानुपकरोति, शरीरपुष्टिकरमाहारमेकमपि न गह्णाति भूमावेव शेते। स्नानमुत्तमवस्त्राऽऽभरणादिकं त्यजन्ती शरीरं सुगन्धिद्रव्यैर्न विलिम्पति, ताम्बूललवङ्गैलादिसर्वमत्यजत्। सकलशाकदधिदुग्धशर्करादिमिष्टपदार्थं सा जहौ। सदैवं नीरसं लब्धाहारं सकृदेव भुङ्क्ते, महत्कार्यं विना कदापि बहिर्न याति, गवाक्षवीक्षणमट्टालिकोपवेशनं न विधत्ते। विवाहाद्युत्सवे कुत्रापि न गच्छति। सख्या सह शृङ्गारवार्त्तामपि न कुरुते। दासदास्यादिभिः सह कार्यं विना किमपि नाऽऽचष्टे। सदैव वैराग्यमेव विचिन्तयति, इत्थं नानाविधधर्मकृत्यैर्महालसा कालं गमयति स्म।

इतश्चोत्तमकुमारस्तेन धीवरेण सह कस्मैचित्कार्याय तत्रैव

नगरे समाययौ । तत्रावसरे नरवर्मनृपो निजपुत्रीकृते क्रियमाणं सप्तभौमिकमुत्तमं प्रासादं द्रष्टुं तत्राऽऽगत्य तदीयशिखरासीनः पुरकौतुकं वीक्षते । तत्र निपुणास्तक्षाणः कार्यं कुर्वन्ति । कुमारोऽपि तत्र गत्वा स्वचातुर्यमदर्शयत तेन च सर्वे कारुवराश्चमत्कृता अभूवन्। सर्वे किमसौ विश्वकर्म्मेति विदाञ्चक्रुः? कुमारस्तत्प्रार्थनया तत्रैव तस्थौ । धीवरश्च पश्चाद् गतः ।

पुनरन्यदा चित्रादिभिः सज्जिते तत्र प्रासादे नृपादयः सर्वे द्रष्टुमाजग्मुः- तदोत्तमकुमारस्य रूपादिकं विलोक्य नृपो मनस्य-चिन्तयत् । असौ रूपेण, गुणेन, व्यवहारेण च कश्चिदुत्तमकुलवान् लक्ष्यते । सत्कुलं विना किलेदृशं रूपादिकं कथं संभाव्यते ? अतोऽसौ कश्चित्सद्वंशजात एवेति मनसाऽवधार्य स नृपो नैमि-त्तिकमप्राक्षीत् । यथा- भो ! मम पुत्र्या भर्ता को भावीति विचार्य ब्रूहि? तेनोक्तं- राजन् ! कश्चिद्दैदेशिकः सकलकलाकुशलो महाभाग्यशाली त्रिलोचनाभर्ता भविष्यति । ततः शुभदिने शुभमुहूर्ते राजा त्रिलोचना-मुत्तमकुमारेण सह महता महेन परिणाय्य तस्मै धनधान्यादिसहितं तदेव सप्तभौमिकं प्रासादमदात् । तत्र कुमारः प्रेयस्या सह सुख-मनुभवन्नास्ते ।

इतश्चैकदा महालसा दासीमवादीत्- भो दासि ! अद्यावधि मम भर्तुः शुद्धिर्न जाता, तेनाऽनुमीयते यत्स सागरे त्यक्तासुरभूत् । अतो मे जीवितेनाऽलम्, किन्तु रत्नप्रसादेन वीतरागस्य मन्दिरं स्वामिवात्सल्यञ्चाऽकार्षम् । बहूनि ज्ञानपुस्तकानि लेखितानि, दानादिकमकारि, किमपि नाऽवशिष्यते । अतः परमेतद्धनादिकं

त्रिलोचनायै समर्प्य संसारसागरतरीं दीक्षामेव ग्रहीतुमिच्छामि। तदा दासी जगाद- हे स्वामिनि ! एवं त्वरां मा कुरु। मया श्रूयते राज्ञा त्रिलोचनापुत्री केनचिद्वैदेशिकेन सर्वगुणाकरेण रूपलावण्यवता परिणायिता, को जानाति तवैव भर्ता सो भवेत् ? इति तवाऽऽदेशेन तं द्रष्टुमिच्छामि।

तदा दासी तदादेशं लात्वा, त्रिलोचनान्तिकमागत्य, तया सहाऽऽलप्य कुमारं किञ्चिदभिलक्ष्य च समागता तस्यै कथयति-हे स्वामिनि ! सोऽपि त्वत्प्राणेश्वरसदृश एव लक्ष्यते, परंतु स एवेति मया निश्चेतुं न शक्यते। तदाकर्ण्य महालसाऽवक्-धिग्मां यत्परपुरुष-रागोऽभूत्। अतोऽहं पापिनी जाता, ततः पुनर्वैराग्यमापन्ना धर्मकृत्ये प्रयताभूत्।

इतो दासीगमनानन्तरं कुमारस्त्रिलोचनामपृच्छत्- अयि प्रेयसि ! सा वृद्धा का ? या त्वयाऽऽलापिता। तयोक्तम्- हे नाथ ! शृणु काचिन्महालसानाम्नी वैदेशिकी युवती गुणवती महारूपवत्यपि निरन्तरं धर्मतत्परा मद्गृहे तिष्ठति, सा भगिनीत्युच्यते मया, तस्या विचक्षणा दासी साऽऽसीत्। इत्याकर्ण्य कुमारः स्वमनसि शशङ्के सा किं मम दयिता तु नास्ति ? अहो ! कोऽयं मे व्यामोहः ? तस्या अत्र कः संभवः? इत्यालोच्य मनसि खेदमावहन् स्वात्मानं निनिन्द।

अथान्यदा स समीपवर्तिनि चैत्ये भगवन्तं पूजयितुं गतः। कियत्कालानन्तरमनागतं तं वीक्ष्य तस्य शोधनार्थं दासीमप्रैषीत् त्रिलोचना। दासी समागत्य तत्र सर्वत्र तच्छुद्धिमकरोत्, परं कुत्रापि स नैव दृष्टः। पश्चादागत्य त्रिलोचनां तदकथयत्, तदनु पतिमलभमाना

सा भृशं शोकमकरोत् ।

तदानीं तत्र नगरे महेश्वरदत्तनामा व्यवहारी षट्पञ्चाशत्कोटि-द्रव्यनायकोऽस्ति । तस्य द्वीपान्तरं गत्वा क्रयविक्रयार्थं पञ्चशत-प्रवहणानि सन्ति, पञ्चशतानि शकटानि वर्तन्ते, गृहाणां पञ्चशती, तावन्ति हट्टानि विद्यन्ते, तथा धान्यानां सदनानि पञ्चशतानि, गोकुलानि पञ्चशतानि, पञ्चशतगजास्तावन्तस्तुरगाः, पञ्चलक्षसेवकाः, परमेता-वत्सम्पत्तिमतोऽप्यस्य पुत्रो नाऽऽसीत् । बहुधा यतमानस्य तस्यैका पुत्री जाता । सा शशिकलेव सकलजननयनयोरानन्ददात्री, सहस्र-कलानाम्नी, सदध्यापकेन सम्यक् पाठिता, चतुष्षष्टिकलाकुशला, शैशवात्परं वयःप्रपन्नास्ति, कस्मैचिद्योग्यवराय तां दत्त्वा संसारविमुखः श्रेष्ठी चारित्रं जिघृक्षति स चैकदा नैमित्तिकमाहूयाऽपृच्छत् ।

भो निमित्तज्ञ ! मम पुत्र्याः को भर्ता भविष्यतीति ? तेनोक्त-मद्यतनदिनात् त्रिंशत्तमे दिवसे तव पुत्र्या वरो मिलिष्यति स सार्वभौमो भविष्यति । तदुक्तदिनावधारणं सत्यं मन्यमानः स पुत्र्या लग्नसामग्रीं सकलां सज्जीकृत्य महामहं वितनुते । विस्तृते सुरचिते मण्डपे मङ्गलगीतं प्रावर्तत, तथा करमोचनकालिकजामातृप्रदानार्थं गजतुर-गरथदासदासीवसनाभरणादिसर्वमपि सज्जीचक्रे । एतत्सकले पुरे प्रख्यातमस्ति तेन सर्वेषामाश्चर्यं लगति यद्वरं विना विवाहसामग्री-मखिलामसौ श्रेष्ठी सज्जयामास । इतोऽन्यदाश्चर्यं किं स्यात् ? राजाप्येतत्स्वरूपं ज्ञात्वा चकितोऽस्ति । स्वयं महेश्वरदत्तः श्रेष्ठी कन्यां विवाह्य दीक्षाजिघृक्षां धत्ते । तेन तस्मै धन्यवादमपि नृपो ददानो विचारयति संसारविमुखीभूत- अहो ! यदा जामाता मे मिलिष्यति

तदैव तस्मै राज्यं समर्प्य प्रव्रजिष्यामि ।

ततो नृपो महेश्वरदत्तश्रेष्ठिनं समाहूय तेन सह सर्वं विमृश्य नगरे पटहमवीवदत् यथा- "यो हि त्रिलोचनाभर्तुः शुद्धिं महालसाया मूलतत्त्वं निगदिष्यति तस्मै राज्यं श्रेष्ठिनः पुत्रीं सहस्रकलाञ्च दास्यामीति ।"

अथ दैवज्ञकथितविवाहदिवसे चैकः कीरः पटहं स्पृशन् नृभाषया राजपुरुषमवादीत्- भो ! अहं नृपं सर्वं कथयिष्यामि कथिते च तयोर्लाभो मे स्यात्, अहो ! ममापि भाग्यमुद्बभूव । कीरवाचमीदृशीमाश्चर्यजननीमाकर्ण्य ते तं नृपान्तिकं निन्युः । तदा कीरो राजानमवक्- राजन् ! अहं त्रैकालिकज्ञानवानस्मि । अत्र सदसि त्रिलोचनां महालसाञ्चाऽऽनीय वसनादिना व्यवहितां स्थापय तदा सर्वमामूलं गदिष्यामि राजापि तथैवाऽकरोत् । कीरो विचारयति- राज्येन मे प्रयोजनं नास्ति परं महालसायास्तत्त्वं कथनीयमस्ति । इति ध्यात्वा कीरो वदति- राजन् ! निशम्यतां यथा-

वाराणसीनगरीनाथस्य ज्यायान् पुत्र उत्तमकुमारो देशाटनचिकीर्षया समुद्रे महापोतमारुरोह । तदनु सागरे व्रजन् तत्र जलकान्तगिरौ कूपान्तरुत्ततार । तत्र राक्षसराजस्य लङ्केशभ्रमरकेतोः पुत्रीमुदवोढ । तदनु पत्नीयुतः स कूपान्निर्गत्य समुद्रदत्तव्यापारिणः पोते समुपाविशत् तत्र च लोकान् पञ्चरत्नप्रभावादन्नवस्त्रजलैः सुखिनश्चक्रे । ततः स्त्रीधनलिप्सया समुद्रदत्तः कुमारं सागरेऽक्षिपत् तत्र तं महामीनो निगिरति स्म । तं मीनं जालेन गृहीत्वा गृहमानीय कश्चिद्धीवरस्तदुदरं विददार, तत्र च कुमारमपश्यत् । स तमुपचारेण

सज्जीचक्रे पश्चात्तेन सह सोऽत्र नगरे समायातः । ततो नैमित्ति-कवचनाद्राजा तस्मै त्रिलोचनां पुत्रीं विवाहविधिना दत्तवान् । तया सह सुखेनाऽत्र सप्तभौमभवने निवसितवान् । सोऽन्यदा मध्याह्ने समीपस्थचैत्ये पूजायै गतस्तत्र जिनेन्द्रं पूजयन् सर्पेण दष्टोऽ-चेतनोऽभवत् । अहिश्च तत्रत्यपुष्पराशिमध्ये तस्थौ, इत्थं महाल-सोत्तमकुमारयोः सम्बन्धं निगद्य कीरोऽवदत् ।

मया सर्वं कथितं ततो मे राज्यं कन्याश्चाऽर्पय.निजं वचनं सत्यं नय । तच्छ्रुत्वा राजा मनसि शुशोचपक्षिणे राज्यं कथं दीयते? तदा किञ्चिन्मौनीभूय कीरः कथयति- राजन् ! दीयतां राज्यम् । यदहं तदनुभवामि राजा च तदा शून्यचेताः किं कर्त्तव्यतामूढोऽ-भवत् । पक्षी पुनः कथयति- स्वामिन् ! मम का हानिः ? तवैव वचनं याति । अहं सदैव वने सुखमनुभवामि सर्वदा नवनवफलमश्नामि मया तु त्वत्परीक्षा कृतास्ति ।

इत्थं कीरोदितं निशम्य तं स्वहस्ते निधाय पाणिना तदङ्गं संस्पृशन्नृपोऽवादीत्- हे कीरराज ! ते राज्यं दास्यामि । चिन्तां मा कृथाः, परं शिष्टवचनं कथय यत्कुत्र कुमारस्तिष्ठति, सुखी वा दुःखी वा जीवति कदा ? कथं मिलिष्यतीति ? तदा पुनः कीरो वदति- राजन् ! निशम्यतामग्रे यदभूत्तत्कथयामि-सर्पदंशनानन्तरं तत्रैकाकिनी गणिकाऽऽगता मदनमिव रूपलावण्यवन्तं कुमारञ्चाऽऽलोक्य तदनुरागिणी बभूव । पश्चात्सा निजकरस्थितां विषापहारिणीं मणिरत्नमयीं मुद्रिकां प्रक्षाल्य तदङ्गमसिञ्चत् तत्क्षणञ्च विषमुक्तः कुमार उदतिष्ठत् तदैव सा गणिका कुमारं निज-भवनमानीतवती ।

तत्र चतुर्थ्यां भूमौ चित्रशालायामस्थापयत् तया सह स विषयसुखं स्वैरं भुङ्क्ते ।

इत्थं स स्वस्तिमान्सुखमनुभवति, राजन् ! स्वस्त्यस्तु ते, मुञ्च मां यदहं वनं गत्वा सुखेन फलादिकं खादामि । तव सुखमस्तु यतस्त्वं सत्यवक्तासि । मम राज्येन किं प्रयोजनम् ? नाऽहं तदिच्छामि । किन्तु राजन् ! अन्यदपि किञ्चिच्छृणु-लोकास्तानेव वैद्यानभिलषन्ति ये धर्मार्थं रोगानपहरन्ति, धनं नेच्छन्ति ये च रोगं शमयित्वा ततो धनमिच्छन्ति, ते महामूर्खाः । अहमपि तथैव भवामि, यत्सर्वं त्वत्कार्यं संपाद्य भवतो राज्यमाशासे ।

एतदाकर्ण्य नृपस्तमेवमवदद्- भोः कीर ! स्फोटके स्फुटिते भिषग्वैरायते इति दृष्टान्तं यज्जगदिथ तदधुना न घटते । यदेतत्प्रत्यक्षमन्तरा कथं प्रत्येमि ? तदा शुकः पुनर्जगाद- राजान्निदानीमेव गणिकागृहं गत्वा तं विलोकय । राजा तदैव प्रधानादिकतिपयपरिवारैः सह तत्र गत्वा सर्वत्र विलोकितवान् परं कुमारं यदा कुत्रापि न दृष्टवान् । तदा पश्चादागत्य कीरमवदत्- हे कीर ! त्वमेवं मां मुधा किं वञ्चयसि? वञ्चनमात्रेण तव को लाभो भविता ? कीरो निगदति स्म-

स्वामिन् ! नाऽहं वञ्चामि परमत्र कारणं निशम्यताम्-या गणिका कुमारं सज्जितं कृतवती सा दध्यौ- एष राज्ञो जामाता नाऽत्र स्थास्यति तर्हि मम प्रयत्नो वैफल्यं व्रजिष्यतीति विचिन्तयन्ती सा मन्त्रबलेन कुमारं कीररूपं विधाय तच्चरणे सूत्रमबध्नात् । यदा तेन सह सा रिरंसति तदा तत्पदात्सूत्रमपनीय नैसर्गिकं रूपं विधत्ते ।

ततः पुनः सूत्रं बद्ध्वा कीरं कुरुते पुनरुड्डयनशङ्कया तं पिञ्जरे स्थापयति ।

इत्थं तत्कृत-कीरत्वमापन्नः सोऽहमुत्तमकुमारो दध्यौ- मया भवान्तरे कीदृशं कर्माऽकारि येनाऽत्र भवे नरो भूत्वापि पक्षित्वं यातोऽस्मि । तथा राक्षसराजपुत्रीं महालसां छन्नं परिणीतवान् । इत्याद्यघटिताऽऽचरणयोगादिदानीमीदृग्दुःखमन्वभूवम् । को जानाति पुनर्भवान्तरे कां गतिमेष्यामीति विमृशन्मासमेकमनङ्गसेनावेश्यालये तिष्ठन्नद्य पिञ्जराद्बहिर्मुक्त्वा कुत्राप्यन्यत्र गतां तां दृष्ट्वा पटहनादमाकलय्य तत उड्डीय पटहमहं स्पृष्टवानस्मि ।

तच्छ्रुत्वा राज्ञा तत्पदः सूत्रे मोचिते स्वरूपं प्रपन्नः कुमारः प्रादुरासीत्, नृपाद्याः सर्वे लोकाः प्रमोदमापुः । तस्मिन्नवसरे महेश्वरदत्तः श्रेष्ठी नैमित्तिकप्रोक्तदिने मिलिते निजप्रतिज्ञाप्रतिपालनाय कुमारेण सह सहस्रकलां पुत्रीं महता महेन विवाहितवान् । करमोचनसमये प्रचुरं धनादिकं प्रादात्, तदनु महालसात्रिलोचना-सहस्रकलाऽनङ्गसेनाभिश्चतसृभिः पत्नीभिर्भोगं भुञ्जानः कुमारः सुखेन कालं गमयति स्म ।

ततो राजा तां चपलमालाकारीमाकार्य तत्सर्वमपृच्छत् । तयोक्तम्- राजन् ! समुद्रदत्तः श्रेष्ठी कुमारमारणाय पञ्चशतदीनारदानलोभं प्रदर्श्य मया तत्र पुष्पकदम्बके सर्पं स्थापितवान्, लोभान्धीभूतया मयैतन्महापापं कृतं, तन्निशम्य राजाऽधिकं चुकोप । तयोर्द्वयोश्च शूलिकारोपणमादिशत्परं दयालुरुत्तमकुमारो राजानं भृशमनुनीय तौ तस्मादमोचयत् । पश्चाद्राजा तयोः सर्वस्वं गृहीत्वा देशान्निष्काशितवान् ।

तदनु जामात्रे राज्यं दत्त्वा संसारादुद्विग्नचेता राजा चारित्रमग्रहीत्, तेन सह महेश्वरदत्तादि कियन्तो व्यवहारिणोऽपि दीक्षां ललुः। उत्तमराजश्च न्यायतो राज्यं कुर्वन् प्रेयसीचतसृभिः सह विषयसुख-मनुभवति स्म तत्र नगरे।

अथैकदा भ्रमरकेतुर्निमित्तविज्ञमाहूय पप्रच्छ- भो ! मम शत्रुरुत्तमकुमारः सम्प्रति कुत्राऽऽस्ते ? तेनोक्तं- त्वत्पुत्रीसहितः स इदानीं पल्लीवेलाकूले राज्यं करोति। तदाकर्ण्य क्रोधारुणाक्षो भ्रमरकेतुरष्टादशसहस्रसैन्यानि तेन सह योद्धुमेकत्रीचक्रे, परं प्रयाणसमये स दध्यौ- अहो ! कीदृशं निमित्तशास्त्रं ? यत्पुरोदितं नैमित्तिकवचनं सत्यमेवाऽभूत्, कुमारसाहसमपि श्लाघ्यं यदेकाकिनैव कूपान्तर्गत्वा मत्पुत्री परिणीता, महामूल्यानि पञ्च रत्नानि जगृहिरे, स चेदानीं प्रशस्यो जामाताऽभूत्, भवितव्यं केन वार्यते ? यदाह-

अवश्यं भाविनो भावा, भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य, महाहिशयनं हरेः ॥३॥

किञ्च-

ललाटे लिखितं यत्तु, षष्ठीजागरवासरे।
न हरिः शङ्करो ब्रह्मा, चान्यथाकर्तुमर्हति ॥४॥

इति पूज्येन महीयसा तेन जामात्रा सह सङ्गरो मे त्रपाकर एव भविष्यति। लोके हि महता प्रयत्नेनापि कदाचिदेवेदृशो जामाता प्राप्यते। मम त्वभिमत एवैषोऽभूदतो हर्षस्थाने विषादो न घटते। इत्थं विमृशन् प्रशान्तक्रोधरयः स हृष्टस्सन् कुमारनगरमागत्य पुत्रीं जामातरञ्च मिलित्वा कियन्ति दिनानि तत्र स्थित्वा पुनर्भ्रमरकेतू राक्षसराजः स्वपुरमागात्।

अथाऽन्यदा सदसि सुखासीनस्योत्तमभूभुजः कश्चिद् दूत एक आगत्य पत्रमेकमार्पयदित्थं तत्र पत्रे लेख आसीत् । यथा- स्वस्ति श्रीवाराणसीनगरतो लिखति मकरध्वजो राजा निजप्रिय-पुत्रमुत्तमकुमारं निर्भरमालिङ्गन् तदीयकुशलमीहते ! हे प्रियपुत्र ! त्वयि निर्गते मया तव शुद्धिः सर्वत्र कारिता प्रतिग्रामनगरपर्वतादौ बहुधा मार्गितोऽपि त्वं कुत्रापि न मिलितस्तेन महान्मे खेदोऽवर्तत । परं साम्प्रतं तव शुद्धिमासाद्य हृष्टमनास्त्वां द्रष्टुकामोऽहं त्वामानेतुं सपत्रं दूतं प्रहिणोमि, पत्रं वाचयित्वा सत्वरमत्राऽऽगच्छ । अहमिदानीं वार्धक्याद्राज्यकार्यं यथावत्कर्तुं न शक्नोमि, त्वद्वियोगाद्विशेषतः खिन्नमना अस्मि । पल्लीवेलाकूले त्वया राज्यं प्राप्तं, तच्छ्रुत्वातिहर्षो जातः । तल्लोभेनाऽत्राऽऽगमने विलम्बं मा कार्षीरिति पितृपत्रं पठित्वा तत्कालं मन्त्रिणमाहूय राज्यभारं तदायत्तीकृत्य पत्नीचतुस्सहितः कतिपयसैन्यादिभिः सहोत्तमनृपो वाराणसीं प्रतस्थे, क्रमेण चित्रकूटगिरिमाययौ ।

तत्र महासेननृपो वैराग्याद्दीक्षार्थी भवन् पुत्राऽसत्त्वाद्राज्यदानाय कञ्चन योग्यपुरुषमपेक्षमाण आसीत् । स स्वकुलदेवतामाराध, सा तुष्टा सद्यः प्रत्यक्षीभूय तमवक्-प्रभातेऽत्र राज्यधुरन्धर उत्तमभूपाल आगमिष्यति, तस्मै राज्यमिदं दत्त्वाऽऽत्महितं साधनीयम् । ततः प्रभाते तमागतमालोक्य सादरं तस्मै स्वराज्यं दत्त्वा महासेनो राजा श्रीचन्द्रशेखरसूरिनिकटे दीक्षितो भूत्वा सुनियमेन संयमं परिपाल्य सुदुस्तरमपि भवाब्धिं त्वरितमेव ततार ।

इत उत्तमः क्षितीशस्तत्र कियत्कालं स्थित्वा निजपुण्यप्रतापं

सर्वत्र प्रसार्य बहून्देशान् जिगाय। अथैकदा सिन्धुसौवीरनगराधीशं निजाज्ञामुरीकर्तुं दूतमुखेनोत्तमः क्षितिप इदं न्यगादयत् यथा-यदि मदादेशमुरीकरोषि तर्हि करं देहि नो चेत्समराय समुद्यतो भवेति। यदा तदाज्ञां स नोररीकृतवान् तदा मन्त्रिणं राज्यकार्ये नियुज्य चतुरक्षौहिणीं सेनामादायोत्तमनरेशः सिन्धुसौवीरपुरीपरिसरमागत्य तस्थौ। तत्र द्वयोस्तुमुले सङ्गरे प्रवृत्ते निर्जितो वीरसेनो नृप उत्तमकुमाराय राज्यं दत्त्वा सहस्रपुरुषैः सह चारित्रं ललौ।

तदनु क्रमशः स उत्तमभूपालो वाराणसीमागात् पिता च तदभिमुखमेत्य महता महेन पुरीं प्रावेशयत्। तस्मिन्नेव दिने पुत्रं राज्येऽभिषिच्य मकरध्वजो नृपो दीक्षां ललौ। इत्थमुत्तमनृपस्य चत्वारिंशल्लक्षकोटिग्रामा बभूवुः। चत्वारिंशल्लक्षमिता गजाऽश्वाश्चाऽऽसन् तावन्तो रथाः पदातयश्च। इत्थं चतुरङ्गबलयुतो प्राज्यं राज्यं न्यायतः परिपालयन् सर्वत्र राज्ये वीतरागस्य दिव्यानि बहूनि चैत्यानि, प्रतिवर्षं रथयात्रामहोत्सवमकरोत्। प्रतिग्रामं दानशालाज्ञानशालादिकं कारयन् शाश्वतमहिंसामयं धर्मं पालयन् दीनानुद्धरन् सदैव धर्मकार्ये तत्परोऽवर्तत।

तत्राऽन्यदोद्याने कश्चित्केवली समायातो, वनपालेन तदागमे निवेदिते तस्मै तुष्टिदानमदादुत्तमनरेशः। तदनु नृपादयः सर्वे पौरास्तं वन्दितुं तत्राऽऽजग्मुः। देशनान्ते राज्ञा पृष्टम्- भगवन्! भवान्तरे मया किमकारि येनात्र भवे चैतावती समृद्धिरात्मा? केन कीरत्वमितः? केन कर्मणाब्धौ पतितः? केन चाऽनङ्गसेनागणिकायाः वशंवदोऽभूवं तत्प्रकाशं कृपया कथय।

केवली वदति स्म- राजन् ! श्रूयताम-त्वं भवान्तरे हिमालय-चूलिकायां सुदत्तनगरे 'कणवी' जातौ धनाभिधो बभूविथ, पुनस्तव चतस्रो भार्या आसन्। पूर्वं धनधान्यादिसमृद्धिमानभूः किन्तु पश्चात्पुरा-कृतकर्मयोगाद् दारिद्र्यवाञ्जातः, परमेकदा पथि चौरलुण्टितवस्त्रपात्रा-दयश्चत्वारः सत्यसाधवस्तत्र नगरे समाजग्मुः । तेभ्यस्त्वं भक्त्या पात्राणि, वस्त्राणि प्रासुकाहारांश्च ददिथ, तव चतसृभिश्च पत्नीभिस्तद-नुमोदितं, तेन हेतुनाऽत्र भवे सुसमृद्धिमान् त्वं राजाऽभूः । चतुर्मु-निदानपुण्याद्राज्यचतुष्टयं लब्धं, चतस्रः प्रेयस्योऽप्यभूवन्, पञ्चामूल्य-रत्नानि मिलितानि। किं बहूक्तेन यानि यानि लोके श्रेष्ठानि वस्तूनि वर्तन्ते तानि सर्वाणि त्वया लब्धानि । परमेतत्सर्वं साधुदानपुण्य-योगादेवाऽत्र भवे लब्धमवेहि। भवान्तरे त्वयैकः कीरः पञ्जरे क्षिप्तस्तेनाऽत्र भवे त्वमपि शुकीभूय पञ्जरेऽवात्सीः, भवान्तरे त्वमेकदा कञ्चन साधु-मालोक्याऽसौ मत्स्य इव दुर्गन्धिरस्तीति निन्दितवान्। तदुत्थकर्म-योगादिह जन्मनि त्वमपि समुद्रे पतितश्च मकरेण ग्रस्तोऽभूः । पुनः साऽनङ्गसेना भवान्तरे महासुन्दरीं सपत्नीं हास्येनाऽनेकधा तद्रूपाधिक्याद् गणिकामचीकथदतः, साप्यस्मिन् भवे वेश्याऽभूत्, पूर्वभवपत्नीस्नेहादत्रापि तद्वशोऽजनि ।

इत्याकर्ण्य सञ्जातसंसारवैराग्योऽथोत्तमनृपः पुत्राय राज्यं दत्त्वा तदैव तत्केवलिपार्श्वे दीक्षामादात्। उग्रं तपश्चरन्नायुषि सम्पूर्णे कालं कृत्वा देवोऽभवत्। ततश्च्युत्वा महाविदेहक्षेत्रेऽवतीर्य कर्माणि क्षपयित्वा मोक्षं लप्स्यते ।

भो भो लोका ! असारेऽस्मिन्संसारे भवन्तोऽपि स्वस्वद्रव्यस्य

सदुपयोगं कुरुत, यतो निर्धनोऽप्युत्तमकुमारो भवान्तरे सुपात्रदानमदात्तेनाऽत्र भवे महतीं राज्यसमृद्धिं सुखसंपत्तिं च प्राप। अतस्तद्वद् यः प्राणी निष्कामं धनं सुपात्रक्षेत्रे वपति वप्स्यति च स तद्वदेवात्र परत्र सुखी भवति भविष्यति च।



धन विन कयवन्नो जेह वेश्याइ नाख्यो,
धन ज विन वशिष्ठे राम जातो न भाख्यो।
सुकृत सुजसकारी अर्थ ते ए उपार्जो,
कुवणिज उपजन्तो अर्थ ते दूर वार्जो ॥४॥

भो भो लोका! इह संसारेऽर्थसञ्चयोऽपि कर्त्तव्य एवास्ति। यतस्तद्विना महतामपि दुःखमेव जायते यथा-कयवन्नानामा श्रेष्ठी यदा द्रव्यहीनोऽभूत्तदा भुक्तभोगया गणिकया हठान्निजालयान्निष्काशितः। रामचन्द्रमपि वनवासगमनसमये कुलगुरुरपि वशिष्ठो निर्धनत्वान्नाऽऽद्रियत। अर्थे सति सुकृतशतमपि कर्तुं शक्नोति। अर्थतः सर्वाण्ययि महान्ति कार्याणि सिध्यन्ति। अतः सर्वैर्धनसङ्ग्रहः कर्त्तव्य एव ॥४॥

३- द्रव्यहीनतया वेश्यानिष्कासितस्य कयवन्नाश्रेष्ठिनोः रामचन्द्रस्य च कथा-

कश्चित्कृतपुण्यनामा श्रेष्ठी द्वादशवर्षाणि यावद्वेश्यालये स्थित्वा तस्यै षोडशकोटिद्रव्यमदात्। मृते च पितरि निर्धनतामापन्नं कयवन्नाश्रेष्ठिनं ज्ञात्वा साऽक्का गणिकामुवाच- पुत्रि! निर्धनमेनं मुञ्च।

पुत्री वदति- हे मातः ! एतस्य षोडशकोटिधनानि त्वया मया च गृहीतानि। तेनैतदन्यस्य कस्यापि सङ्गो न कृतः, सम्प्रति निर्धनत्वेऽपि पुरा दत्ताऽमितद्रविणं भुञ्जानाऽहमेनं कथं त्यजानि ? तत्राऽवसरे साऽङ्का प्रकुपिता कयवन्नाश्रेष्ठिनं निर्भर्त्स्य निष्काशितवती।

अहो ! कीदृशः स्वार्थसाधनतत्परो जनस्वभावो यतो यावत्तस्य धनान्यासन् तावत्तं भृशमादृतवती। रिक्ते चार्थे तमेव निर्भर्त्स्य निरकाशयत्स्वगेहादिति हेतोरर्थ एव जगति सर्वतः श्रेयानस्ति। अर्थैश्च दुष्करमपि सुकरायते। धनिनं सर्वो लोक आद्रियते। किञ्च- द्रव्यहीनं रामचन्द्रमवेक्ष्य गुरुणापि सोऽनादृतः।

यथा पुरा वनगमनकाले रामचन्द्रो धर्मबुद्ध्या कुलगुरुं वशिष्ठं प्रणमन्तुकामस्तदाश्रममाययौ। शिष्येण तदागमने निवेदिते वशिष्ठ उवाच- कियत्परिवारैरागतोऽस्ति रामचन्द्रः ? शिष्योऽवक्-एका- क्येव। तदाकर्ण्य तस्य भाषणदर्शनादिदानं विनैव गुरुर्ध्यानमन्दिरं प्राविशत्। इत्थं तं निर्धनं विदित्वा कुलगुरुरप्युपेक्षितवान्। रामचन्द्रोऽपि तदभिप्रायं जानन् परावर्तमानोऽग्रे चचाल। अतोऽस्मिन् संसारे लक्ष्मीं विना कोऽपि कुत्रापि नैव सत्कृतिं सुकीर्तिञ्च लभते।

यतो लक्ष्मीप्रभावोऽप्येवं नीतिशास्त्रे प्रदर्शितः-

वारांराशिरसौ प्रसूय भवतीं रत्नाकरत्वं गतो लक्ष्मि !
त्वत्पतिभावमेत्य मुरजिज्जातस्त्रिलोकीपतिः।
कन्दर्पो जनचित्तरञ्जन इति त्वन्नन्दनत्वादभूत्,
सर्वत्र त्वदनुग्रहप्रणयिनी मन्ये महत्त्वस्थितिः ॥

हरिसुत रति-रंगे जे रमे रात सारी,
शिवतनय कुमारो ब्रह्मपुत्री कुमारी ।
हित करि दृगलीला जेहने लक्ष्मी जोवे,
सकल सुख लहे सो सोहि विख्यात होवे ॥५॥

यथा-हरिसुतो-जयन्तोऽनङ्गो वा घनं धनं ददानो रत्या सह रेमे । शिवसुतो गणेशः कार्तिकेयो वा ब्रह्मपुत्रीमसेवत प्रचुरतरलक्ष्मीप्रदानतः । यतो धनवाञ्छनः सदैव लक्ष्म्यनुभावतः सर्वसुखमश्नुते । लक्ष्मीकटाक्षवीक्षितोऽपि जनः सर्वत्र प्रख्यातिमेति । अतः सम्पदेव सर्वेषां सदैव सुखकारिणी संसारे सर्वैर्जनैर्विज्ञेया ॥५॥

लख्मि बल यशोदा नंदने विध्य मोहे,
लख्मि विण विरूपी शंभु भिक्षू न सोहे ।
लख्मि लहिय रांके जे शिलादित्य भंज्यो,
लख्मि लहिय शाके विक्रमे विध्य रंज्यो ॥६॥

लक्ष्मीपतिसत्त्वादेव श्रीकृष्णो जगन्मोहयति विश्वविजयी च वर्तते, शम्भुश्च तद्राहित्येन भिक्षाशी विलसति । लक्ष्मीप्रसादाद्दुर्बलोऽपि रङ्कनामा श्रेष्ठी शिलादित्यसदृशं बलीयांसं भूपतिमजयत् । पुनस्तथैव लक्ष्मीप्रसादाद्विक्रमो जगद्विजयीभूय जनतामृणमुक्तां कृत्वा स्वनाम्ना संवत्सरं प्रावर्तयत ॥६॥



४-अथ धनप्रभावेण रङ्कश्रेष्ठिजित-शिलादित्यनृपस्य कथानकम्-

अस्ति गुर्जरदेशस्य पश्चिमभागे सर्वसमृद्धिसम्पन्नाऽऽर्हद्धर्माऽनुरागिमहामहेभ्यैराढ्या वल्लभीनामपुरी। तस्यामतिप्रतापी शिलादित्यनामा राजा राज्यं करोति स्म। तत्रैव नगरेऽतिधर्मिष्ठो धनधान्यसमृद्धो नित्यं देवगुरुभक्तिकारको दीनजनपरिपालको रङ्कनामा श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म। राजमहिष्याः श्रेष्ठिन्या सह प्रीतिरासीत्। एकदा राज्ञोऽन्तःपुरे कुतश्चित्कार्यवशादागतायाः श्रेष्ठिन्याः करे रत्नजटितस्वर्णकङ्कतिका राज्ञ्याऽवलोकिता। तल्लुब्धया तयाऽवसरं प्राप्य भूपो भणितः- स्वामिन्! रङ्कनाम्नः श्रेष्ठिनो भार्याया यादृशी प्रसाधनी वर्तते तादृशी तु ममाऽपि नास्ति। ततो यथा सा मे देयात्तथा कुरु नो चेदहमन्नोदकं न ग्रहीष्यामि। तन्निशम्य राज्ञोक्तं- प्रिये! त्वं मा शोचीः, साम्प्रतमेवानीय दीयते।

ततः श्रेष्ठिगृहं गत्वा राज्ञा श्रेष्ठी गदितः भोः-श्रेष्ठिन्! तव गृहे रत्नकङ्कतिका वर्तते सा मे राज्ञ्यै देहि नो चेद्बलाद् ग्रहीष्यामि। श्रेष्ठी भार्यया निषिद्धः कथमपि दातुं नाङ्गीचक्रे। अथ नृपेण भृशं तदर्थमुपद्रुतः श्रेष्ठी गज्जनपतिहमीराय प्रभूतद्रविणं दत्त्वा तत्साहाय्येन शिलादित्यं पराजितवान्। इत्थं धनमहिमानं विलोक्य भो भव्या! यूयमपि सर्वापद्विनाशकं धनं मत्वा तदर्थं निरन्तरं प्रयतध्वम्। षोडशतीर्थकल्पेऽयं प्रबन्धः।

अथ ३-कृपणता-विषये-

कण कण जिम संचे कीटिका धान्यकेरो,

मधुकर मधु संचे भोगवे को अनेरो ।
तिम धन कृपिकेरो नोपकारे दिवाये,
इम हि विलय जाये अन्यथा अन्य खाये ॥७॥

यथा-कीटिकागणः कणशो धनानि सञ्चित्य न स्वयं भुङ्क्ते, न परान् भोजयति, न वा धर्मार्थं व्येति, किन्त्वन्य एव तदीयसञ्चितं धनं भुङ्क्ते । पुनर्यथा क्षुद्राभिः सञ्चयकृतं मधु परो भुङक्ते, तथैव कृपणो धनसञ्चयमेव करोति । तत्स्वयं धर्मादौ नैव व्येति, किन्तु राजा यक्षादिश्चौरादिको वा तद्धनं हठादपि गृह्णाति ॥७॥

५- कार्पण्ये मधुमक्षिकायाः दृष्टान्तः-

यथा-कोऽप्येको दाता ज्ञानिनमप्राक्षीत्- हे दयानाथ ! कृपणस्य मधुमक्षिकासाम्यं कथं दीयते ? ज्ञानी जजल्प- हे दातः ! श्रूयताम्- मधुमक्षिका हि महता परिश्रमेण नानादेशतो रससञ्चयमेकत्र कुर्वते इयन्तं परिश्रमं कृत्वाऽपि रसेषु माधुर्यरूपां लक्ष्मीं स्वयं मनागपि न भुञ्जते, नैव कस्मैचिदपि सुपात्राय दानबुद्ध्या ददते । तथैव ये कृपणा जायन्ते तेऽपि समर्जितं निजं द्रव्यं भूमावेव निदधते । स्वयं किञ्चिदपि नोपभुञ्जते। नैव कुत्रापि धर्मार्थं विनियुञ्जते । अतः लोके कृपणा मधुमक्षिकासमा गीयन्ते ।

कृपणपणु धरंता जे नवे नंदराया,
कनकगिरि कराया ते तिहां अर्थ नाया ।
इम ममत करंतां दुःख-वासे वसीजे,
कृपणपणु तजीने मेघ ज्यूं दान दीजे ॥८॥

किञ्च-कृपणाग्रेसरा नवनन्दराजाः पृथक् पृथक् कनक-

गिरींश्चक्रुः परं तेषामेकोऽपि तैर्नोपभुक्तः, सर्वमत्रैव मुक्त्वा कालश्चक्रुः । तादृशाः कृपणा इह परत्र च दुःखमेव सहन्ते । अतो धनवद्भिः कृपणैर्नैव भाव्यम् । किन्तु यथा तोयदः स्वार्थनिरपेक्षो जलं वर्षति, तथा सदुपार्जितं धनं सुपात्रादिसप्तक्षेत्रेषु वपनीयम् । तदैव लक्ष्म्याः साफल्यं भवितुमर्हति नान्यथा ।।८।।

अथ ४-अर्थि-याचना-विषये-

निरमल गुणरागी त्यां लगे लोग राजी,
तब लगि लहि जी जी त्यां लगे प्रीति झाझी ।
सुजन जन सनेही त्यां लगे मित्र तेही,
मुख थकि न कहीजे ज्यां लगे देहि देहि ।।९।।

यावज्जनो लोभपिशाचवशीभूय निजाभिमानं मुक्त्वा "मां देहि मां देहीति" दीनवचनं मुखान्न निस्सारयति, तावदेव तस्मिन् विद्यमानाः सर्वे निर्मलाः सद्गुणाः सर्वत्र सुशोभन्ते । लोकाश्चाऽपि तमेवातिप्रियवचनेन समालपन्ति समाद्रियन्ते श्लाघन्ते च । पुनर्बान्धवा मित्राण्यपि च तत्रैव जनेऽनुरक्ता जायन्ते । ततोऽखिलगुणापहो याचनादुर्गुणोऽवश्यमेव सर्वैः सज्जनैर्हेय एवेति । किं बहुना ? तस्मिन् याचके येऽतिपरिचिता अपि तेऽपरिचिता इव तेन सह समाचरन्ति । कस्मिंश्चिदवसरे तु याचनभिया ते तन्मुखमपि द्रष्टुं नेहन्ते । अतो ये गुरुत्वं महत्त्वं लोकमान्यत्वं चाभिलषन्ति ते कदाचित्केषाञ्चित्समक्षेऽतिलघुत्वनिदानं याचनं नैव कुर्युः । यतो याचकाँल्लोकास्तृणादपि लघून् मन्यन्ते । इति हेतोर्दुःस्थत्वेऽपि येन केनोपायेनाऽपि स्वनिर्वाहः करणीयः । परं लघुत्वमूलं परयाचनं नैव कर्त्तव्यमित्येव परमार्थः।।९।।

जइ बडपन वांछे मांगजे तो न कांई,
लहु पण जिण होवे केम कीजे ति कांई ।
जिम लघु थइ सोमे वीरथी दान लीधुं,
हरि बलि-नृप आगे वामना रूप कीधुं ॥१०॥

हे भ्रातः ! यदि महत्त्वमभिलषसि तर्हि कदापि किमपि कञ्चन मा याचस्व। यदाह-'गुणशतमप्यर्थिता हरति' याचकस्य तूलादप्यधिका लघुता जायते। पुरा किल सोमिलनामा द्विजातिर्महावीरप्रभोर्लघूभवन् दानमाप्तवान् । सर्वशक्तिमान् विष्णुरपि बलेः सकाशाद्वामनीभूय दानमग्रहीत् ॥१०॥

अथ ५-निर्धनता-विषये-

धन विण निज-बंधू तेहने दूर छंडे,
धन विण गृह-भार्या भर्तृसेवा न मंडे ।
निरजल सर जेवो देह निर्जीव जेवो,
निरधन पण तेवो लोकमें ते गणेवो ॥१२॥

यथा-जगति धनहीनजनं स्वबन्धुरपि नाद्रियते, भार्या तिरस्करोति, त्यक्तमर्यादीभूय कदाचिदपि स्वपतिं न सेवते, भृशं भर्त्सयति, शुष्कं सर इव निर्धनो न शोभते। यथा जीवं विना देहो न भाति तथा धनं विना प्राणी कुत्रापि कथमपि शोभां नैव धत्ते क्वापि न च गण्यते ॥१२॥ अन्यच्च-

सरवर जिम सोहे नीर पूरे भरायो,
धन करि नर सोहे तेम ते जे उपायो ।
धन करिय सुहंतो माघ जे जाण हूतो,

धन विण पग सूझी तेह दीठो मरंतो ॥१३॥

वारिपूर्णं सर इव धनवान् पुमानेव शोभते, नो निर्धन इति विदन् महाकविर्माघोऽपि निर्धनतया चरणरुजार्तो मृतिङ्गतोऽतोऽत्र लोके धनमपि महत्त्वप्रदायकं सर्वत्र यशःकीर्तिमहिमादरादिगुणप्रख्यातिकरञ्च समस्तविपत्तिरक्षणेऽप्यतिशक्तिमद्बोद्धव्यमिति सज्जनैः ॥१३॥

अथ ६-राजसेवा-विषये-

सुजन सुहित कीजे दुर्जना सीख दीजे,
जग जन वश कीजे चित्त वांछा वरीजे ।
निज गुण प्रगटीजे विधना कार्य, कीजे
प्रभु सम विचरीजे जो प्रभू सेव कीजे ॥१४॥

हे भ्रातरः ! यदि यूयं लोकमान्यतामिच्छथ, तर्हि सज्जनजनाग्रे विनयं कुरुत, दुर्जनसङ्गतिं त्यजत, गुरुजनशिक्षां मनसि धरत । तथा सदाचारेण विश्वं वशयत, लोकानुपकुरुत, स्वार्थमुज्झत, राजसेवया गुणानुद्घाटयत । निजस्वामिन इव निगदितैर्गुणैर्लोके पूज्या यदिवा निखिलकार्यकरणे शक्तिमन्तो भवेयुः ॥१४॥ किञ्च-

भगति करि बडानी सेव कीजे जिकांई,
अधिक फल न आपे कर्मथी ते तिकांई ।
जलधि तरिय लंका सीत संदेश लावे,
हनुमत करमे ते राम कच्छोट पावे ॥१५॥

गुरून् भक्त्या भजत, लोको हि सर्वत्र प्रारब्धानुसार्येव फलमाप्नोति । यथा सागरमुत्तीर्य लङ्कातः सीताशुद्धिमानीय रामचन्द्राय

यदा महावीरोहनुमान् न्यवेदयत्तदा तुष्टो रामस्तस्मै कच्छबन्धनवसन-मात्रमदात् । अतः कर्मानुसारि फलं मत्वा महतां भक्तिं कुरुत ।।१५।।[1]

अथ ७-खलता-दुर्जनता-विषये-

रस विरस भजे ज्यूं अंब निंब-प्रसंगे,
खल मिलण हुवे त्यूं अंतरंग प्रसंगे ।
सुण सुण ससनेही जाणि ले रीति जेही,
खल जन निसनेही तेहशूं प्रीति केही ? ।।१६।।

यथा निम्बरसालयोरेकदेशस्थयोः सम्पर्कात् निम्बकटुतागुण आम्ररसे समायाति अर्थादाम्रस्य नैसर्गिकं यन्माधुर्यं तदपि निम्बसंगेन कटुत्वमुपैति। तथा खलसंसर्गात्सज्जनोऽपि दुर्जनायते द्वौ शुकाविव यदाह-

"माताप्येका पिताप्येको, मम तस्य च पक्षिणः ।
अहं मुनिभिरानीतः, स च नीतो गवाशनैः ।।५।।
गवाशनानां स गिरः शृणोति, अहं च राजन् ! मुनिपुङ्गवानाम् ।
प्रत्यक्षमेतद्भवतापि दृष्टं, संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।।६।।

अतो द्यूतपरस्त्रीरमणादिकात्मिकोभयलोकदुर्गतिदुःख-प्रदायिकैतादृशी दुर्जनसङ्गतिः सदैव सर्वैस्त्याज्या ।।१६।। अन्यच्च-

मगर जल वसंतो ते कपीराय दीठो,
मधुर फल चखावी ते कस्यो मित्र मीठो ।
कपि कलिज भखेवा मत्स खेली खलाई,
जलमहि कपि बुद्धी छांडि दे ते भलाई ।।१७।।

1. अजैनरामायणप्रसङ्गः

कश्चिन्मर्कटो जलस्थमेकं मकरमतिमिष्टं फलं भोजयित्वा मित्रमकरोत् । स खलतरो जलचरस्तु तदीयहृदयमेव भक्षयितु-मयतत । तद्विदित्वा बुद्धिमहिम्ना तं मकरं तत्रैव मुक्त्वा स मर्कटो जलाद्बहिराययौ । अतः खलेन कपटिना सह मैत्री कदापि नैव विधातव्या ।।१७।।



५- अथ सरलकपटिमित्रोपरि-कपिमकरयोः कथा-

समुद्रे कश्चिन्मकरः प्रतिवसति, तमेकदा तीरागतं मर्कटो-ऽपश्यत् । सरलस्वभावः कपिस्तस्मै मिष्टं फलं प्रदाय तेन सह मैत्रीञ्चकार । मकरोऽपि तद्भक्षयित्वा तदपूर्वरसलोभेन प्रत्यहमुपती-रमागत्य तस्थौ । कपिरपि प्रतिदिनमनेकविधममृतोपमं परिपक्वं फलमानीय तस्मै स्नेहवशाददात् ।

अथैकदा स मकरस्तत्फलानि स्वमकरीं भोजितवान् । साप्यतिमिष्टदिव्यफलाऽशनप्रमुदिता स्वपतिमपृच्छत्- हे नाथ ! त्वमेतत्फलममृतस्वादु कुत्र कथं लेभिषे ? तेनोक्तं- प्रिये ! ममैकः कपिः सखा वर्तते तेनाऽर्पितम् । तत्रावसरे साऽवक्- स्वामिन् ! यः प्राणी सदैवेदृशान्यमृतोपमानि फलान्यश्नाति, तस्य शरीरस्य माधुर्यमनुपममेव स्यात् । ततो मे तस्य हृदयमशितुं वाञ्छास्ति, साम्प्रतमन्तर्वत्नीत्वादयमेव दोहदो ममोत्पन्नोऽस्ति । एष केनाप्युपायेन कपटादिनापि त्वयाऽऽशु पूर्यताम्, नो चेद् गर्भे विकृतिमुपैष्यति ।

इति मकरीवचः समाकर्ण्य मीनोऽचिन्तयत् - एषाऽतिदुष्कर-

कार्यमादिशति, यदि न पूरयिष्यामि तदाऽनिष्टमपि स्यादिति विमृश्य तेनोक्तं- प्रिये ! दुष्करस्ते दोहदस्ततस्तयोक्तं- नाथ ! छलप्रपञ्चादिना स्वमित्रं तमत्र समानय । पश्चादहं चातुर्य्येण तदीयहृदयमांसमशित्वा पूर्णदोहदा भविष्यामि ।

अथ तद्दिने स मकरश्चिन्तित इव तत्राऽऽगत्य तस्थौ, कपिनाऽर्पितफलमपि भक्षयितुं नैच्छत् । तदा प्रेमपात्रेण कपिना भणितो- मित्र ! किमद्य जातम् ? येनौदास्यं भजसे, सस्नेहेन न भाषसे न किमप्यत्सि ? तदा दीर्घं निःश्वस्य कपटेन मकरोऽवक्- मित्र ! किं वच्मि ! अद्य मे प्रियङ्करी मकरी केनचिद्धेतुना कुपिता जाता । अतो न खादति, न पिबति, न मय्यालपति, न मया सह प्रेम्णा वक्ति । शतशः प्रार्थितापि न प्रसीदतीति दुःखातुराय मेऽशनलपनादि किमपि न रोचते, अतोऽत्राऽऽगन्तुमपीच्छा नासीत् । तथापि तवाऽतिस्नेहेन कथमप्याऽऽगतोऽस्मि, यावत्सा प्रसन्ना न भविष्यति तावन्मे मनोऽपि स्वस्थं नैव स्यात् । मम तु तत्प्रसादकृते कृता यत्नाः सर्वे वैफल्यमीयुः । त्वं मे स्निग्धः सखाऽसि, अतस्त्वदुपायेन सा प्रसन्ना भविष्यति । अतस्त्वं भ्रातृजायां प्रसादय, येनाऽहमपि सुखी स्याम् ।

तदुक्तमाकलय्य कपिनाऽचिन्ति-सज्जना हि सर्वस्यापि कलहादिक्लेशं मोचयन्त्येव, मम त्वसौ परमस्नेही सखा वर्तते । एतदीयदुःखन्तु मोचितव्यमेवेति विमृश्य तमवक्- सखे ! चिन्तां मा कुरु, त्वरितमहमवश्यमेव केनचिदुपायेन तां प्रसादयिष्यामि । परं सा जले तिष्ठति, मित्र ! तत्र मे गमनं कथं भविष्यसि ? तच्छ्रुत्वा

मकरोऽवक्-तत्राऽहं त्वां सुखेन नेष्यामि, त्वं मम पृष्ठे समारोह, तत्राऽहं त्वामक्लेशेन शीघ्रं नयामि ।

ततः कपिस्तत्पृष्ठोपर्युपाविशदथो मकरस्तं नीत्वा ह्रदि मुदमावहन् स्वस्थानं प्रत्यचलत्कियद्दूरं गत्वोवाच- हे सखे ! मम मकरी तव ह्रदयं बुभुक्षति । सा सगर्भा वर्तते, तस्या ईदृगेव दोहदः समुत्पन्नोऽस्ति । तच्छ्रुत्वा कपिर्दध्यौ- अहो ! मया त्वस्यातिमिष्टानि फलानि भोजितानि । तत्प्रतिफले त्वेष खलतामेव प्रकटयन् मामेव जिघांसति, अतोऽसौ स्वबुद्ध्या वञ्चनीयस्तदैव जीविष्यामीति विचार्य प्रत्युत्पन्नबुद्धिः कपिर्विहस्याऽवोचत्- मम भ्रातृजाया मद्धृदयं बुभुक्षति चेत्का हानिः ? सहर्षमहं दास्यामि । परमेतत्त्वया तत्रैव कथं नोक्तम्? यतोऽहं ह्रदयं वृक्षोपर्येव स्थापितवानस्मि, ततस्तत्र गत्वाऽपि तस्यै किं दास्यामि ? अतो मां पश्चात्तीरं नय । तत्र गत्वा ह्रदयं लात्वा सत्वरमागमिष्यामि, ततस्ते पत्न्यै दत्त्वा प्रसादयिष्यामि ।

निर्बुद्धिर्मकरस्तदैव तटमाययौ, कपिस्तूत्प्लुत्य वृक्षमारुरोह । किञ्चिद्विरम्य मकरेण समाहूतः कपिरवादीत्- रे विश्वासघातक खल! त्वं जलचरोऽहं च भूचर इति त्वया सह मम का मैत्री ? मया ते यन्मधुरं फलमेतावद्भोजितं तत्फलमदर्शि । त्वन्तु मामेव जिघांससि, याहि याहि । कपिनोक्तमन्योऽपि यः कश्चन खलेन सह मैत्रीं कुरुते करिष्यते वा तस्यापि मकरवत्स खलः सत्यवसरे जीवितं लाति लास्यति चातः प्राणधनसुखादिकापहारिणी खलमैत्री सर्वथा त्याज्यैव।



अथ ८-अविश्वासविषयेउपजाति-छन्दसि-

विश्वासि साथे न छले रमीजे,
न वैरि विश्वास कदापि कीजे ।
जो चित्त ए धीर गुणे धरीजे,
तो लच्छिलीला जगमां वरीजे ॥१८॥

यो हि विश्वस्तेन सह कपटं न करोति, तथा शत्रौ न विश्वसिति पुनर्यो धैर्येणामुं गुणं हृदि धत्ते, स नरो लक्ष्मीं सुखेनाऽऽप्नोति ॥१८॥

इन्द्रवज्रा-छन्दसि-

चाणायके ज्यूं निज काज सार्यो,
जे राजभागी नृप तेह मार्यो ।
जो धूअडे काक विश्वास कीधो,
तो वायस घूकने दाह दीधो ॥१९॥

यथा-चाणक्यनामा द्विजः पुरा मायाप्रपञ्चेन पर्वतराजं विश्वस्तं विधाय पश्चात्तमुपायेन निहत्य निजकार्यमसाधयत् । तथा जगद्धूर्त्तैकचतुरे काके विश्वासकरणादुलूको मृत्युमियाय ॥१९॥



६ अथाऽविश्वासे घूककाकयोः कथानकम्-

कश्चिदेक उलूकः प्रत्यहं रात्रौ तत्रस्थकाककुलमुपद्रवन्नासीत् । तेन सर्वे काका एकत्र गोष्ठीं विधायैतदपायोपायं व्यमृशन् । तदा काकनायको न्यगदत्-वयं सर्वे तं जेतुं न शक्नुमः, यतः स बलीयान् वर्त्तते । अतः केनचिदुपायेन तं विश्रब्धं कृत्वा पश्चात्समीहितमनायासेन साधनीयम् । यावदस्मासु तस्य विश्वासो न भविष्यति

तावत्तस्याऽपायङ्कर्त्तुं नैव शक्ष्यामः। अतः प्रथममस्माभिस्तथा विधातव्यं यथाऽस्मासु तस्याऽऽत्मीयबुद्धिरुत्पद्येत, लेशतोऽपि भेदबुद्धिर्न तिष्ठेदिति सर्वैरनुमोदितम् ।

तदनु सर्वे काकास्तदन्तिकमेत्य तं नमश्चक्रुः सर्वे च तत्रोपाविशन् । तत्राऽवसरे तेषां मध्ये यो नायकः स जगाद- हे पक्षिराज निशाटन ! त्वमस्माकं स्वाम्यसि, वयं ते प्रजाः स्मः । सदैव त्वत्सेवायै समुद्यतास्तिष्ठामोऽतो मनसि कस्मादपि भीतिं मा गाः । अस्मासु सत्सु सुरक्षकेषु तव नामाऽपि लातुं केऽपि नार्हन्ति । किमधिकेन ? तवार्थे सर्वे वयं प्राणान्दित्सामः । अस्माकन्तु तव सुखेनैव सुखं दुःखेन च दुःखं भविष्यति, अत्र मनसि मनागपि शङ्कां मा कृथाः । परमस्मास्वपि त्वया कृपा विधातव्या, यतः सेवकाः प्रभोः सदैव प्रसादमेव वाञ्छन्ति। यथाऽधुना वयं पीड्यन्ते, हे नाथ ! तथाग्रे पीडां मा देहि तथा सति जीवितदानमेवाऽस्माभिस्त्वत्तः प्राप्तमिति ज्ञास्यामः ।

अथ काकस्येदृशं वचनमाकर्ण्य तेनोक्तम्-यूयं सर्वे मामभिरक्षत, युष्माकमद्यप्रभृति कापि भीतिर्न भविष्यति । तन्निशम्य सकला अपि काका उलूकवचनं सहर्षं मेनिरे ।

अथ तस्मिन्नेव दिने स उलूकः कतिपयपरिवारयुतो गिरिगह्वरे तस्थिवान् वायसाश्च तद्द्वारि रक्षाकृते तस्थुः । तदा पूर्ववैरं स्मरन्तः काका दध्युः-ईदृशोऽवसरो न मिलिष्यति, इतीदानीमेव समीहितं साधयामः । तदनु ते काका अनुक्रमेण चञ्चा बहूनि शुष्केन्धनान्येकैकशः समानीय तत्र गुहाद्वारि समचिन्वन् । तदनु सञ्चितेषु तेषु तेऽर्धज्वलदङ्गारं समानीय क्षिप्तवन्तः । तत इन्धनेषु प्रज्वलितेषु गृहान्तःस्थास्ते

उलूकपक्षिणो भस्मसाद्बभूवुः ।

ततः कृतकृत्याः काकास्तदर्थं स्वच्छजलवति सरसि स्नात्वा स्वस्थानमगुः । परस्परमूचुः- भो भोः ! काकाः ! पश्यत-पश्यत विश्वासमुत्पाद्य दुष्करं यद्वैरिनिकृन्तनमासीत्तदनायासेनैव सम्पादित-मस्माभिरन्यथा तन्नैव स्यात् । अयमत्र ज्ञातुं सारोऽस्ति यदुलूको रिपोः काकस्य मिष्टवाक्यैर्विश्रब्धीभूय यथा सकुलो ममार, तथा-ऽन्योऽपि यः कोऽपि शत्रौ विश्वासं विधास्यति स नूनमुलूकवज्जीवितं हास्यति । अतोऽहं वच्मि दुर्जनजनस्य कदापि विश्वासो नैव कर्त्तव्यः।

अथ ९-मैत्री-मित्रता-विषये-

करि कनक सरीसी साधु मैत्री सदाई,
घसि कसि तप वेधे जास वाणी सवाई ।
अहव करहि मैत्री चंद्रमा सिन्धु जेही,
घट घट वध वाधे सारिखा वे सनेही ॥२०॥

यथा-सुवर्णमग्नितापितं समुज्ज्वलति, यथा वा कषणोपलसंघृष्टं कनकं महार्घतामुपैति । पुनः कनकं कदापि निजगुणं न मुञ्चति, तथा *परीक्षितेन सज्जनेन सह मैत्री कर्त्तव्या ।* स एव सन्मित्रमुच्यते, यो विपद्यपि न जहातीति सुवर्णवत्सन्मित्रस्य लक्षणमवसेयम् । पित्तलमग्नौ यथा श्यामायते, तथा यः कार्यकाले मित्रं त्यजति, अन्यदा स्वार्थवशेन तमुपैति, ईदृशेन सह मैत्री न विधेया, यदियं सत्यवसरे विफलायते । यदाह भाषाकविः-

सज्जन तब लग जाणिये, जब लग पड्यो न काम ।
हेम हुताशन परखिये, पीतल निकसे श्याम ॥७॥

अतः साधुजनैः सह कृता मैत्री सदैव सुखदा भवति कदापि दुःखदा न जायते। यदुक्तम्-

साधु मिले सुख ऊपजे, तोय मिले मल जाय।
सामाने पावन करे, पोते पावन थाय ॥८॥

अतः साधुमैत्री हेमोपमा ज्ञातव्या। यथा-हेम्नो दहनादिसंतापे कृतेऽपि जात्वपि स्वगुणं न त्यजति, किन्त्वधिकं द्योतते तथा साधुजनमैत्री जातेऽप्यपराधे न हीयते, लेशतोऽपि द्वेषं नोत्पादयति, प्रत्युत संयमगुणा एधन्ते। किञ्च-साधवोऽपकर्त्तुरपि गुणानेव ख्यापयन्ति परीषहसहने तत्कृतसाहाय्यं मन्वते। अपि च पूर्णचन्द्रोदयात्सागरो यथा वर्धते तथा जलयोगाच्चन्द्रकला नितरां शोभते। इत्थं चन्द्रसागरयोः स्नेह इव साधुजनमैत्री प्रतिदिवसमेधते इति तात्पर्यार्थः ॥२०॥



७-साधुजनमित्रतोपरि सहस्रमल्लसाधोः प्रबन्धः

यथा-पुराऽवन्तीनगरे जितशत्रुनृपस्य पार्श्वे वीरसेननामा कश्चन क्षत्री जीविकायै समायातस्तस्य तत्र सेवायां महान् कालो यातः। अत्रान्तरे राज्ञः कालसन्दीपननामा रिपुरासीत्, स निर्बुद्धिः परमाभिमानी राज्ञः प्रणामं तदादेशञ्च न चिकीर्षति।

अत एकदा राजा सदसि सर्वसभ्यानवोचत-भो भो! वीरा! यो हि कालसन्दीपनं गृहीत्वाऽत्राऽऽनेष्यति तस्मै सत्पारितोषिकं दास्यामि, परं कोऽपि तन्नाङ्ग्यकरोत्। तदैव वैदेशिको वीरसेनो नृपं जगाद-अहमेकाक्येव तमत्र समानेतुं शक्नोमि। राजाऽवक्-तर्हि गच्छ सत्वरमत्राऽऽनय, ततो नृपादेशात्स तत्र गत्वा छलप्रपञ्चादिना

तं नृपान्तिकं निनाय । तेन च तुष्टो राजा तस्मै देशमेकं दत्त्वा राजानमकरोत्, तद्दिनात्तस्य सहस्रमल्ल इति नाम पप्रथे, स राज्ञः प्रेमपात्रमभूत् । कालसन्दीपनञ्च गर्वमुक्तं व्यधात्, तदनु नृपादेशमशेषमङ्गीचक्रे, नृपाऽऽज्ञया च स्वनगरमाययौ । सहस्रमल्लनृपो राजस्नेहितयाऽन्यान् सर्वान् तृणाय मन्यमानः सर्वत्राऽकुतोभयः केसरीव बभ्राम ।

अथैकदा तत्र चतुर्ज्ञानी श्रुतसारसूरिराययौ, तद्वन्दनार्थं नृपादयः सर्वे लोका आययुः । सहस्रमल्लोऽपि निजपरिवारयुतस्तत्राऽऽगात् । वन्दित्वा यथास्थानमुपविष्टे नृपादिके लोके स सूरिर्भविकजनमुद्दिश्य देशनां प्रारभत तथाहि- भो भो ! लोकाः सावधानतया शृणुत-यदिह संसारे कोऽपि शूरो, दाता, विद्वांश्च नास्ति । अथवा कस्यापि वाक्पटुता नास्ति, तदैतन्मात्रमेव श्रुत्वा सहस्रमल्लो जगाद-भगवन् ! भवदुपासको भवदग्रेऽहमेव शूरस्तिष्ठामि । योऽहं नृपादेशात्परैरग्राह्यं सुदुष्टं कालसन्दीपनमेकाक्येव बद्ध्वा नृपान्तिकमनयम् । इत्थं मयि शूरे विद्यमाने नास्ति कोऽपि शूर इति किं ब्रूषे ? तत्रावसरे गुरुणोक्तम्-

अप्पा चेव दमेअव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥९॥

अयमर्थोऽस्या गाथायाः- भो ! आत्मा एव दमितव्यो-वशीकर्तव्यः, हु इति निश्चयेन, खलु-यस्मात्कारणादात्मा दुर्दमो-दुर्जेयो वर्तते आत्मानं दमन् जीवोऽस्मिन् लोके परत्र-परभवे च सुखी भवति । यतः परेषां दमनेन शौर्यं न जायते यो हि निजेन्द्रियैः सह निजात्मानं जयति, स एव शूरो निगद्यते ।

इति गुरूक्तं श्रुत्वा सञ्जातविषयवैमुख्यः सहस्रमल्लस्तदैव तस्यैव गुरोः पार्श्वे चारित्रं ललौ । पुनर्विहरन् स्वपरात्मानं पुनानः कालसन्दीपननगरमागत्य कायोत्सर्गध्यानमाश्रित्याऽग इव निश्चलस्तस्थौ ।

अथ रथवाटीतः[1] परावर्तमानः कालसन्दीपनस्तत्र तथावस्थं तमालोक्य सम्यगुपलक्ष्य च मनसि व्यचिन्तयत्- अरे ! स एवाऽयमत्राऽऽगतो दृश्यते धर्मधूर्तः, यः पुराऽत्राऽऽगत्य मां बद्ध्वा नृपान्तिकमनयदेष एव मे वैरी । न जाने पुनरपि किमपि विधातुमेतद्वेषेण समागतो भवेदतो वध्य एवेति ध्यात्वा सेवकानादिशद्- भो ! एनं घातयत । ततस्ते लोकास्तत्कालमेवे शस्त्रैरस्त्रैर्लोष्टैर्दण्डैश्च ताडयितुं लग्नाः । परमेवं महोपसर्गेऽपि सहस्रमल्लो मुनिस्तेभ्यः किञ्चिदपि न चुकोप न वा मनसि खेदं चकार, किन्तु सर्वं समभावेन सेहे । ततः क्रमशः क्षपकश्रेणीमारूढोऽन्तकृत्केवलीभूय मोक्षमियाय । ईदृशां साधूनां सदैव षट्कायजीवैः सह मैत्री तिष्ठति । अत ईदृशसाधुभिरेव मैत्री कार्या । किञ्च-

इह सहज सनेहे जे लहे मित्रताई,
रवि परि न चले ते कंज ज्युं बन्धुताई ।
हरि हलधर मैत्री कृष्णने जे छ मासे,"
हलधर निज खंधे ले फिर्यो जीव आसे ॥२१॥

सूर्यकमलयोर्मित्रतेव यस्य स्वभावो निश्चलो जायते तेन सह कृता मित्रता यावज्जीवां न विमुञ्चति । यथा कृष्णबलभद्रयोरभूद् यो हि बलभद्रः कृष्णशवं षण्मासपर्यन्तं मोहवशान्निजस्कन्धे स्थापित-

1. रेवाडी (रयवाडी)

वान् । तथैवाऽन्येऽपि सज्जनैः सह मैत्रीं कुर्युः ।।२१।।



८-अथ मित्रतोपरि कृष्णबलभद्रयोः कथानकम्-

यथा पुरा द्वारिकापुरे दग्धे कृष्णबलभद्रौ ततो निर्गत्य काञ्चिदेकामटवीमीयतुः । तत्र श्रीकृष्णस्य तृषा लग्ना, तेन बलभद्रो जलं याचितः । तत्राऽवसरे श्रीकृष्णस्तरोरधस्तादुपाविशत् बलभद्रश्च जलं लातुं गतवान् । मार्गे केनचिद्वैरिणा सह युध्यमानस्य बलस्य विलम्बे जाते तृषातुरः श्रीकृष्णचन्द्रः पादोपरि पदं निधाय तत्रैव सुष्वाप, परं तदीयचरणे यत्पद्मलक्ष्माऽऽसीत्तद् दूरत एव रोचिष्णु विलोकमानस्तद्बन्धुर्मत्तः कृष्णस्य विनाशो मा भूदिति धिया पूर्वत एव वने वसन् जराकुमारो मृगभ्रमाद्वाणं मुमोच, तेन च तच्चरणं विद्धमभूत् । तदाऽतिव्यथितः कृष्णोऽपि अरे किञ्जातमित्युच्चैरजल्पत्तदा लक्ष्ये संलग्नं बाणं लातुं तत्राऽऽगतो जराकुमारः स्वबाणेन विद्धं यदुपतेश्चरणं वीक्ष्य पश्चात्तापं कुर्वन् तदीयचरणयोः पतन् भृशं शुशोच अवदच्च- हे बन्धो ! मया मृगभ्रान्त्या शरो मुक्तस्तदागः क्षम्यताम् । तदा कृष्णेन भणितः- हे कुमार ! त्वमितः सत्वरमपसर, नो चेद्बलभद्रः समागतस्त्वामपि हनिष्यति ।

अथ निर्गते जराकुमारे कृष्णस्तद्बाणमुद्दध्रे, तदा तस्य महती वेदनाऽभूत् तेन तस्य जराकुमारोपरि विद्वेषो जातः । तत आयुषः क्षीणत्वात्तथैव भवितव्यत्वाच्च स ममार ।

तदनु समागतो बलभद्रस्तमेवमवदत्- हे भ्रातः ! मया जलमानीतं सत्वरमुत्तिष्ठ जलं पिब । इत्थं बहुधाऽऽलपितोऽपि स यदा नोत्तस्थौ,

नचोत्तार तदा बलभद्रेण ज्ञातं, अहो ! मम विलम्बोऽभूत्तेनाऽसौ कुपितो न वदति, न वोत्तिष्ठति, ततस्तत्पदयोः पतन्निजापराधः क्षमितश्चिरमनुनीतश्च । अहो ! जन्मत एवाऽसौ रोषणस्वभावोऽस्ति, सम्प्रति मम विलम्बत्वे विशेषेण रुष्टोऽस्ति, तेन नोत्तरति । इत्यादि विलपतस्तस्य महान् कालो यातः ।

ततः स्नेहग्रथिलः स निजस्कन्धे तं नीत्वा षण्मासानितस्ततो भ्राम्यन् व्यतीयाय । किञ्चोत्तमपुंसां तादृशां शवाः षण्मासपर्यन्तं विकृतिं नाधिगच्छन्तीति तच्छवविकृतिशङ्कावकाशोऽप्यत्र नोत्पेदे । स्नेहात्कृष्णशवं वहन् स बलभद्रस्तं मृतं नाऽवबुध्यते स्म । तेन संस्कारादिक्रियामपि न विदधाति ।

तत्रावसरे बलभद्रप्रतिबोधनाय कश्चिद्देवो नररूपेण तदग्रे तैलनिष्कासनयन्त्रे सिकताः पीलयितुं प्रारभत । तं तथा कुर्वन्तं बलदेवोऽवदत्- किं भो ! लोको हि तिलानि निपील्य तैलमधिगच्छति, बालुकन्तु न कोऽपि पीलयति । त्वमेतत्कथं पीलयसि ? देवोऽवदत्- भोः ! तैलमवश्यमेव निर्गमिष्यति । बलदेवोऽवक्-नहि नहि, एतस्मात्तु रजांस्येवोत्पत्स्यन्ते। सिकतापेषणात्तैलोत्पत्तिः कुत्रापि दृष्टा श्रुता वा ? एतत्कर्मणा त्वं मूर्ख एव प्रतीयसे । अरण्यरोदनवदेष ते प्रयत्नः कदापि नैव सफलीभविष्यति । तदा देवोऽवदत्- भो ! अहं नास्मि मूर्खस्त्वमेव मूर्खराडसि । यतः षण्मासमृतमपि बन्धुं जीवन्तं मन्वानस्तच्छवं वहसे । यदि ते शवोऽयं जीविष्यति तर्हि बालुकेभ्योऽपि तैलोत्पत्तिर्भविष्यत्येव ।

तच्छ्रुत्वा बलदेवस्त्वं मूर्खोऽसीति तं निगद्याऽग्रे यातस्तावत्पुरो

गत्वा देवोऽपि शिलोपरि कमलबीजं वप्तुं लग्नः। तदालोक्य तमप्यवदत्- भोः किङ्करोषि ? जलेष्वेतदुप्यते, प्रस्तरे तु कमलानि नोप्यन्ते। अनेन कर्मणा त्वामतिमूर्खं जनाः कथयिष्यन्ति। देवो जगाद- भो ! अहन्तु मूर्खः परं त्वन्तु मूर्खराज एव लक्ष्यसे। यत्त्वं मासषट्कमेनं शवं जीवितधिया वहन्न बुध्यसे। यदि मृतो जीवितो भविष्यति तर्हि शैलेऽपि कमलमुप्तं रोक्ष्यत्येव। इति तदुक्तमाकर्ण्य व्यचिन्तयद् बलः- अहो ! किमेष तथ्यं ब्रूते ? तावदवधिपूर्तौ शवे च वैकृत्यमजायत तदालोक्य कृष्णं मृतमवेदीत्। तदनु तदीयं शवं क्षीरसागरे निक्षिप्तवान्। तत्राऽसीमस्नेहं त्यक्त्वा चारित्रं गृहीत्वा तपश्चर्यायै तत्परोऽभवत्। बलभद्रस्य कथा पुरात्र धर्मवर्गे ४०-प्रबन्धे दर्शितास्ति ग्रन्थान्तरे च विस्तरतया वर्तते, तत एव विशेषदिदृक्षावताऽवलोकनीया। इह तु प्रसङ्गतः संक्षिप्तैव साऽलेखि।

अथ १०-कुव्यसन-विषये-

नलिन मलिन शोभा सांझ थी जेम थाए,
इह कुव्यसनथी त्यूं संपदा कीर्ति जाए।
कुव्यसन तिण हेते सर्वथा दूर कीजे,
जनम सफल कीजे कीर्ति कांता वरीजे ॥२२॥

दिने शोभमानं कमलवनमपि रजन्यां ग्लानतामुपैति। यादृशी सम्पत्तिः-शोभा तस्य दिने वर्तते तादृशी रात्रौ न जायते। तथा सदाचारवतां या शोभा, या कीर्तिर्या च सम्पत्तादृशी दुर्व्यसनरतजनस्य सा पूर्वोक्ता कापि न सम्भवति। ताः सर्वा अपि दुर्व्यसनिनं नरं त्यजन्ति। सम्पदादिहीनः कुव्यसनी लोक-निन्दामनेकविधं दुःखञ्च

सहते । अतो दुर्व्यसनं त्याज्यं येन सदाचारेण जन्मनः साफल्यं भवेत्तदाऽऽचरणीयम् । कुव्यसने त्यक्ते समाश्रिते च सदाचारे मोक्षोऽपि सुलभायते ।।२२।।

अथ ११-द्यूत-विषयेद्रुतविलम्बित-वृत्तम्-

सुगुरु देव जिहाँ नवि लेखवे,
धन विनाश हुवे जिण खेलवे ।
भव भवे भमवूं जिण ऊवटे,
कहि नि कोण रमे तिण जूवटे ।।२३।।

द्यूतव्यसनी पुमान् विशुद्धेषु देवगुरुधर्मेषु रागं न कुरुते, सन्मार्गं नाश्रयति, सर्वतोऽपि भ्रष्टीभूय द्यूतरमणसमासक्तमना धनानि गमयति । संसारसागरान्मुक्तो भवितुं नार्हति । अनन्तकालपर्यन्तं भवाम्बुधौ ब्रुडन्नेव क्लेशपरम्परां सहते । यद्रमणेन नलयुधिष्ठिरादयो महापुरुषा अपि राज्यदारादिकं हारयामासुर्वनवासादि-क्लेशमपि सेहिरे । सर्वे श्रुता दृष्टा ये दोषास्ते द्यूतं रममाणस्यैव वर्तन्ते । अतः श्रेयोऽर्थिना मतिमता तत्त्याज्यमेव ।।२३।।



९-द्यूतरमणत्यागात्सुखीभवतः पुण्यसारस्य कथा-

यथा-इहैव भरतक्षेत्रे गोपालपुरनगरे धनद इवाऽसीम-सम्पत्तिमान् राजप्रमुखसकललोकमान्यः पुरन्दरनामा श्रेष्ठी निवसति। तस्य भार्या शीलगुणमण्डिता पुण्यश्रीर्वर्तते । परं सकलसमृद्धिसत्त्वेऽपि तयोर्दम्पत्योः पुत्रार्थं महती चिन्ताऽऽसीत् ।

अथैकदा पुत्रार्थी स श्रेष्ठी लोकोक्त्या धूपदीपादिनानोपचारै-र्निजगोत्रदेवीमाराराध । कियद्दिनान्येवमाराधयतस्तस्य सा तुष्टा देवी प्रत्यक्षीभूय जगाद- वत्स ! किमीहसे ? तन्मार्गय तदा श्रेष्ठी देवीं पुत्रमयाचत । अथ तथास्त्वित्युदीर्य देवी निजस्थानमगात् ।

स्तोकेनैव दिनेन तत्पत्नी गर्भं दधार तत्प्रभावतः सा निशि सुस्वप्नमपश्यत् । ततो जागृता सा तत्फलं पतिमपृच्छद् । विचार्य सोऽवक्- हे प्रिये ! तव गर्भे कोऽपि महान् पुण्यात्मा जीवोऽवतीर्णोऽस्ति तेन सा हृष्टाऽभूत् । तृतीये मासे श्रेष्ठी स्वामिवात्सल्यं, सङ्घपूजनं, जिनेन्द्राराधनं च महामहेन चक्रे । तथा सप्तक्षेत्र्यां यथाशक्ति धनान्यदात् पुण्यश्रियाश्च गर्भप्रभावत उत्तमा दोहदा अभूवन् सर्वे च ते श्रेष्ठिना पूरिताः । तदनु दशमे मासि शुभमुहूर्त्ते स्वोच्चस्थानैकसद्ग्रहे सा पुण्यश्रीः पुत्रमजनिष्ट, श्रेष्ठी महोत्सवं कृतवान् । ततस्तस्य पुण्यसार इत्यभिधानमकरोत् । पञ्चमाब्दात्परं तं लेखकशालां प्रावेशयत् । स चाऽचिरेण कालेन पुंसो द्विसप्ततिकलाकुशलोऽभवत् ।

तत्रैव नगरे रत्नसारनामा श्रेष्ठी वर्तते, तत्पुत्री रत्नवत्यपि तस्यामेव शालायामागत्य पठति स्म । अथैकदा तया सह केन हेतुना पुण्यसारस्य कलहो जातो द्वयोः हुङ्कारतुङ्कारादिकमभवत् । छात्रैर्वारिते तयोः कलहो यदा न न्यवर्तत, तदा शिक्षकाः समेत्य तौ वारयामासुः । तदा पुण्यसारस्तामुवाच- हे रत्नवति ! त्वं गर्वं मा कुरु, नूनमहं त्वां परिणीय दासीं करिष्यामि, एषा मे प्रतिज्ञाऽभूत् । एतत्सत्यं कृत्वैव स्वस्थीभविष्यामि । तयोक्तम्-कदाप्यहं त्वादृशं रङ्कं गुणहीनं न वृणुयाम् । त्वादृशास्तु मम गृहाणि मार्जयन्ति जलाहारका भृत्याश्च

विद्यन्ते, स्वप्नेऽप्येष ते मनोरथो न सेत्स्यति। तदा पुण्यसारोऽवदत्- नूनमहमेव त्वां परिणेष्यामि, अत्र मनागपि सन्देहं मा गाः। ततःप्रभृति तावेकत्र पठन्तावपि मिथो भाषणादि नाऽकुरुताम्।

अथ पुण्यसारः स्वमन्दिरमागत्य विच्छायवदनः कुत्राप्येकान्त-प्रदेशे तस्थौ। मात्रादिपरिवारैः सह न वदति स्म न च भुङ्क्ते। केवलं तामहं कथं परिणीय कृतां प्रतिज्ञां पूरयिष्यामीति विचारसागरे निमग्नस्तथा रत्नवत्यास्तादृग्वाग्बाणैरङ्गुष्ठतः शिखापर्यन्तं विद्धः किङ्कर्त्तव्यविमूढ इवाऽदृश्यत। यदाह-'उन्नतो न सहते तिरस्क्रियाम्'। अन्यच्च-

पादाहतं यदुत्थाय, मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवाऽपमानेऽपि, देहिनस्तद् वरं रजः ॥१०॥

इति परमेषा तत्कृता प्रतिज्ञा तामपरिणीय कदापि न गन्तुमर्हति पुनस्तदुद्वाहस्तु दैवायत्त इति हेतोस्तस्य पुण्यसारस्याऽधिकं वैलक्ष्य-मभूत्। अत्रावसरे तत्पिता पुरन्दरो गृहमाययौ। भोजनसमये समाकारितोऽपि पुण्यसारः कुत्रापि केनाऽपि न लक्षितस्तदा स्वयमेव श्रेष्ठीतस्ततः शोधयन्नेकान्ते त्रुटिते मञ्चके विलक्षवदनं सुप्तं तमपश्यत्।

तदा पित्रोक्तम्- वत्स ! उत्तिष्ठ, भोजनं कुरु, अद्य किं जातं, येनाऽत्र म्लानमुखः सुप्तोऽसि ? तेनोक्तं- हे पितः ! त्वं याहि, भुङ्क्ष्वाहमिदानीं न भोक्ष्ये। पिताऽवक्-कथम् ? पुत्रोऽगदत्- हे पितः! मयाद्य प्रतिज्ञातम् यावद्रत्नवतीं न परिणेष्यामि तावदन्नोदके न ग्रहीष्यामीति। यावदियं प्रतिज्ञा मे न पूर्येत तावत्कथं भुञ्जीय ? अत एनामपूरयित्वा प्राणात्ययेऽपि भोजनं नैव कुर्यामिति तथ्यं विद्धि।

तच्छ्रुत्वा पित्रोक्तम्- हे वत्स ! इदानीमध्ययनसमयो वर्ततेऽतो यत्नेन विद्याभ्यासः क्रियताम्, परिणयनकाले प्राप्ते त्वदनुकूलया तयाऽन्यया वा सह ते विवाहं कारयिष्यामि। इदानीमुत्तिष्ठ भुज्यतां, पुत्रोऽवदत्- पितः ! तामुद्वाह्यैवाऽशिष्यामि। श्रेष्ठी जगौ- वत्स ! एतदाग्रहं त्यज किं त्वत्कथनेन त्वां परिणाययिष्यामि ? मम तु स्वत एव महतीच्छा वर्तते तव परिणयार्थम्। पुण्यसार आख्यत्-पुत्रपरिणयेच्छा पितुर्भवत्येव। मया त्वेषा प्रतिज्ञा कृतास्ति यद्रत्नवत्याः पाणिग्रहणं कृत्वैवाऽशिष्यामीति। प्रान्ते पित्रोक्तम्- हे वत्स ! उत्तिष्ठ, भोजनं कुरु। तस्याः पितुः पार्श्वङ्गत्वा त्वदुक्तं साधयिष्यामि। तदनु पित्रा सह गत्वा पुण्यसारो बुभुजे।

अथ पुण्यसारः पितरमवादीत्- हे पितः ! त्वमिदानीं तत्र गच्छ, कार्यं साधय। तदा पुरन्दरश्रेष्ठी बहुयोग्य-परिवारयुतो रत्नसारगृहमाययौ। तमायान्तं विदित्वा रत्नसारस्तदभिमुखमागात, गृहागतं तं बहु सम्मेने। स्वागतप्रश्नानन्तरं सोऽपृच्छत्- भोः ! स्वामिन्! त्वदागमनेनाहमद्य स्वं धन्यं मन्ये, गृहं मे पवित्रमभूत्। अत आगमनप्रयोजनं ब्रूहि कार्यञ्चेत्किमपि तदादिश।

तेनोक्तम्- भोः श्रेष्ठिवर्य ! मत्पुत्रेण सह तव पुत्र्या विवाहो यदि स्यात्तर्हि शोभनं भवेत्। एतदर्थमेवागतोऽस्मि, तच्छ्रुत्वा रत्नसारश्रेष्ठिना सहर्षङ्गीचक्रे। परं तत्रस्था तत्पुत्री त्रपां विहाय जगाद नहि नहि पुण्यसारमहं कदापि न वरिष्ये, तदन्यमेव वरिष्यामि। आजन्मकौमारव्रतिनी स्यामिति वरं तं तु स्वप्नेऽपि वरीतुं न कामये।

तत्रावसरे मनसि दध्यौ पुरन्दरः। अहो ! इदानीमेव यस्या

ईदृशी निर्लज्जता साऽग्रे किमाचरिष्यति ? परं रत्नसारश्रेष्ठिना तदोक्तम्- हे श्रेष्ठिवर्य ! इयं मे पुत्री मुग्धा किमपि न वेत्ति । अत एतद्वचनेन मा खिद्येथाः । अहमेनां परिबोध्य स्वीकारयिष्यामि त्वं मान्योऽसि, त्वदुक्तं सर्वेषां शिरोधार्यं मम तु विशेषतः । इत्थमवसरोचितवचोभिः सत्कृतः पुरन्दरश्रेष्ठी निजालयमागात्, सर्वमपि पुत्राय न्यवेदयत् ।

तदा पुण्यसारो मनसि निश्चिक्ये यत्कदापि सा मां स्वेच्छया न वरिष्यति परमहं निजगोत्रदेव्या दत्तोऽस्मि । अत एतदर्थं सैव समाराध्या साऽवश्यं मदीप्सितं पूरयिष्यति । इति निश्चित्य धूपदीपनैवेद्यादिभिः प्रत्यहं त्रिसन्ध्यं तां गोत्रदेवीमाराधयितुं लग्नः ।

अथैकदा तुष्टा देवी तं प्रत्यक्षीभूय जगाद- वत्स ! तवाराधनेन तुष्टाऽस्मि स्वेप्सितं प्रार्थय । सोऽवदत्- हे मातः ! यदि प्रसन्नासि तर्हि रत्नवती मां यथा वृणुयात्तथा कुरुष्व । एतदर्थमेव समाराधितासि । देव्युवाच-अस्तु सापि तुभ्यं दत्तात्र संशयं मा कार्षीः । इत्युदीर्य देव्यदृश्याऽभूत्, पुण्यसारोऽपि हृष्टः स्वकार्यमध्ययनादिकं सयत्नतया कर्त्तुं लग्नः ।

अथ पुण्यसारस्य केनचिद् द्यूतकारिणा सह सङ्गतिर्जाता, ततःप्रभृति स द्यूतासक्तोऽभवत् । अथैकदा राज्ञा लक्षमूल्यकमाभरणं पुरन्दराय रक्षितुं दत्तं कथितञ्च कार्यकाले त्वयैतद्दातव्यं गृहे स्थाप्यतामिदानीमिति । सोऽपि तदाभरणं पृथगेव सुरक्षितप्रदेशे स्थापितवान् । पुण्यसारेण तदालोकि, अथान्यदा तदादाय द्यूते पुण्यसारेण हारितम् ।

कियद्दिनानन्तरं राज्ञा मार्गिते तस्मिन् पुरन्दरो गृहमागत्य तत्र मञ्जूषायां समुद्घाटितायां तन्नाऽपश्यत्तदा स पुण्यसारम-पृच्छत्- हे पुत्र ! मयाऽत्र त्वत्समक्षे राजकीयमाभरणं स्थापितम् । परमत्र तन्न पश्यामि किं त्वया नीतं तत् ? नृपोऽद्य मार्गयति । पुत्रोऽवक्-मयैव गृहीतम् । तदा पित्रोक्तं- तदानीय देहि राज्ञे देय-मस्ति । पितुर्वचनं श्रुत्वा तदैव स निजगृहाच्चिन्तातुरो निरगच्छत् ग्रामाद्बहिरागतः स सन्ध्यां विलोक्य निशि कुत्र कथं व्रजेयमिति विचिन्त्य तत्रैकस्य वटवृक्षस्य कोटरे समुपविष्टः ।

इतश्च निशि पुत्रमपश्यन्ती तन्माता श्रेष्ठिनमवक्- स्वामिन् ! पुण्यसारः क्व गतः ? श्रेष्ठी न्यगदत्- मया राज्ञो लक्षमूल्यकमाभरणं स्थापितं तत्तेनाऽपहृतमतो मयैव शिक्षार्थं निष्काशितः । हा ! रात्रौ त्वया पुत्रो निष्काशितो धन्योऽसि, याहि, सत्वरं संशोध्य पुत्रमत्रानयेति भार्योक्त्या पुरन्दरः स्वयमेव सर्वत्र संशोधितुमलगत् । सर्वत्रैवान्विष्टोऽपि कुत्राऽपि तच्छुद्धिर्न लब्धा । इत्थं पुत्रं शोधयतस्तस्य सकला रजनी निरगात् । यदा नगरान्तस्तस्य शुद्धिर्न लब्धा तदा श्रेष्ठी प्रभाते जाते नगराद्बहिरितस्ततस्तं संशोधयन्नासीत् ।

इतश्च यद्वृक्षकोटरे स तस्थिवान्, तद्वृक्षोपर्यागते द्वे स्त्रियौ मिथ एवमालपितुं लग्ने । यथा तयोरेकाऽवक्-अयि सखि ! अद्य मे कस्याप्यद्भुतकौतुकस्य दिदृक्षा वर्तते । द्वितीयाऽवदत्-कुत्र ? साऽवक्- सखि ! इतश्चतुःशतक्रोशोपरि वल्लभीपुरनगरं वर्तते । तत्र धनप्रवरनामा महर्धिकः श्रेष्ठी निवसति, तस्य सप्तपुत्र्यो विद्यन्ते । ता युवतीः पश्यता पित्रा वरचिन्तां कुर्वता लम्बोदरो देवः समाराधितः स

प्रत्यक्षीभूय तमवोचत्- अमुकमासे अमुकतिथौ निशि प्रथमयामे नगरद्वारे स्त्रीद्वयाऽऽगमनानन्तरमेकः पुमान् महाभाग्यवान् सकलगुण-वानागमिष्यति तस्मै त्वया सप्तैव कन्या देयाः। इति हेतुना स सकलां विवाहसामग्रीं सज्जीचक्रे सुन्दरमद्भुतं विशालं मण्डपमरीरचत्। तेन विवाहोत्सवः प्रारम्भि पर वरस्य नियमोऽद्यावधि न जातः। देवोदितदिनमद्यैवास्तीति तत्र गत्वा कौतुकं द्रष्टव्यं किं भवतीति निश्चित्य तं वृक्षमभिमन्त्रितवती। तदा स वृक्षः समुड्डीय क्षणादेव वल्लभीपुरपरिसरमागात्।

तत्र च ते स्त्रियौ ततो वृक्षादवतीर्य रात्रेः प्रथमे यामे द्वारं प्रविश्याऽन्तरागच्छताम्। तदनु पुण्यसारोऽपि तत्कोटराद् बहिर्भूय तदनुपदं तद्द्वारेण पुरान्तः प्राविशत्। तत्रावसरे देवतोदितवचनानुसारतः स्त्रीद्वयप्रवेशानन्तरं प्रथमे यामे प्रविशन्तं तमालोक्य श्रेष्ठिभटास्तं पुण्यसारं श्रेष्ठिसमीपमानिन्युः। श्रेष्ठ्यपि तं कन्यावरं मत्वा घनं सत्कृतवान्। तदा सोऽचिन्तयदेष महर्द्धिर्भूत्वा मामपरिचितं कथमेवं सत्करोति ?

ततः श्रेष्ठी महता सत्कारेण जगाद- हे महाभाग्य ! मम सप्त पुत्र्यः सन्ति तास्त्वमुद्वहस्व। तच्छृण्वन् पुण्यसारो मनसि नितरां जहर्ष, ततस्तमुत्तमवस्त्राभरणैरलञ्चक्रे। तदनु वरो घोटिकारूढो महता महेन नृत्यगीतवादित्रैः सह पौरलोकैः पुरे बभ्राम। ततो विधिना ताः सप्तकन्याः पुण्यसारः उपायंस्त। करमोचनवेलायां स श्रेष्ठी पुण्यसाराय वराय प्रचुरं धनमदात्। जाते च विवाहे तस्य सप्तभौमं प्रासादं शयनाय दत्तवान्। तत्र प्रासादे सप्तपत्नीभिः सह पुण्यसारः

सप्तम्यां मालायामागतः ।

तत्र च ताः सप्तभगिन्यः परस्परं कलां विकलां बहिर्लापिकामन्तर्लापिकां काव्यनाटकादिकञ्च सरसमालपन्ति । परं तस्मै किमपि न रोचते यतस्तत्रावसरे तन्मनसि महती चिन्ताऽऽसीत्- मया नृपस्थापितमाभरणं द्यूते हारितं तदर्थं मत्पितरं राजा किङ्करिष्यति? यदि ते स्त्रियौ गमिष्यतस्तर्हि मम का गतिर्भविष्यतीत्यादिचिन्तातुरः पुण्यसार आसीत् । ताश्च नानाविधहावभावादिकं दर्शयन्त्यो मुहुस्तमालापयन्ति, परं स तु चिन्तया किमपि नोत्तरति ।

तत्रावसरे तं चिन्तातुरं शून्यमानसं विदित्वा तासु काचिदपृच्छत्- हे नाथ ! किं क्षुधा बाधते ? तेनोक्तं-नहि नहि, तयोक्तं, तर्हि चिन्तातुरो मौनं कथं भजसे ? तेनोक्तमन्यत्किमपि नास्ति, परं देहशङ्कां निवर्तयितुमिच्छामि । तदैव सप्तमी सुदक्षा गुणसुन्दरी स्त्री भृङ्गारके जलं लात्वा जगाद- नाथ ! उत्तिष्ठ, ततस्तया सह पुण्यसारस्तत्र बहिर्गतवान् । परमसौ दध्यौ-एता हि मम ग्रामनामादिकं न विदन्ति । एतास्त्यक्त्वा यदि गमिष्यामि तर्हि परिणीतानामासां का गति-र्भविष्यति सर्वाश्च महादुःखिन्यो भविष्यन्ति । अतः किमपि सूचनीयं ततो गन्तव्यमिति ध्यात्वा तत्र कुड्ये तदैवं लिखित्वा नीचैरुदतरत् । तथाहि-

"क्यां गोवालय वल्लही, क्यां लम्बोदर देव ?।
आव्यो बेटो वहि वसण, गयो सत्त परिणेव ॥११॥

अथ बहिरागतः स तामवादीत्- अयि प्रेयसि ! त्वयात्रैव स्थीयताम् । अहं शौचं विधाय समागच्छामि, सा तत्राऽतिष्ठत् ।

पुण्यसारस्तन्नेत्रे वञ्चयन्नितस्ततः पश्यन् द्रुतं व्रजन् वटवृक्षकोटरे तस्मिन्नतिष्ठत् । तावता नगरकौतुकं वीक्ष्य ते स्त्रियावपि तत्र वृक्षे समुपाविशताम् । मन्त्रप्रयोगेण क्षणादेव स वृक्षो गोपालपुरे निजस्थाने समागतवान् । ते वनिते निजालयं जग्मतुः । पश्चात्पुण्यसारोऽपि कोटराद्बहिर्भूय द्युतकारगृहे गत्वा निजाभरणानि दत्त्वा राजकीयाभरणानि तात्वा नगरकौतुकं विलोकमानः कुत्रापि चतुष्पथेऽतिष्ठत् ।

तावत्पुत्रं शोधयन्पुरन्दरः श्रेष्ठी तत्राऽऽययौ । पुत्रदर्शनादतिहृष्टीभूय पुत्रं गृहमनयत् । तत्र पिताऽपृच्छत्- हे वत्स ! त्वं कुत्राऽऽसीः ? अहं सर्वत्र विलोकयन्नैव त्वां कुत्राप्यपश्यम् । तदा सोऽवक्- हे पितः ? त्वमेव निजगदिथ यद्राजकीयं स्थापितमाभरणमशेषमानीय देहि तदेव लातुमहं गत आसम्, ततो सर्वान्याभरणानि पित्रे ददौ । श्रेष्ठ्यपि तानि लात्वा नृपाय समार्पयत् ।

इतश्च वल्लभीपुरे सा गुणसुन्दरी तत्रैवं चिरं स्थित्वा भर्तारमपश्यन्ती तत्रागत्य ताः सर्वा अपि भगिनीस्तत्स्वरूपं न्यवदत् । तद्वज्रपातोपममुदन्तं श्रुत्वा विच्छायवदनाः सर्वा अपि चिखिदिरे । जाते च प्रभाते भित्तौ तल्लिखितां गाथां वाचयित्वा ज्ञातं यत्कोऽपि व्यसनी नः परिणीय गोपालपुरमगमत् । तदनु तासां पित्रादिभिरप्येतद्विदित्वौदासीन्यं लेभे । तत्रावसरे गुणसुन्दरी पितरमाचचक्षे- हे तात ! शोकेन किम् ? मां पुंवेशं कुरु, ततोऽहं षण्मासाभ्यन्तरं तं संशोध्याऽत्राऽऽनयामि नात्र संशयीथाः । यदाह-

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१२॥

सर्वं हि यत्नतः प्राप्यते, तदा तस्यै पुंवेषं समर्प्य शकटोष्ट्रेष्वनेकेषु क्रेयवस्तूनि भृत्वाऽनेकपरिवारैः सह तां कनीयसीं पुत्रीं गुणसुन्दरीं भर्तुः शुद्ध्यै प्रास्थापयत्। ततः प्रस्थिता सा कियद्भिर्दिनैर्गोपालपुरमागात्। तत्र च विशिष्टं रत्नादि लात्वा तत्रत्यनृपायोपहृतवान्। राजा च कुशलप्रश्नादिना सत्कृत्य तस्य निवासाय चैकं महाभवनं समर्पितवान्। तत्र स्थित्वा सुखेन नानाविधं व्यापारमारब्धवान्। अल्पदिनैरेव तत्र प्रख्यातोऽभवद् गुणसुन्दरनाम्ना सर्वे च व्यापारिणस्तत्पार्श्वमागन्तुं लग्नाः।

पुण्यसारोऽपि तदन्तिके क्रयविक्रयावालोकितुं लग्नः। तमुपलक्ष्य पुंवेषे व्यापारयन्त्या गुणसुन्दर्या निश्चितम्- यदयमेवाऽस्माकमुद्वोढाऽस्ति तेन हेतुना तत्साकं महती मैत्री चक्रे। ततःप्रभृति द्वयोर्महान् स्नेहः पप्रथे चैकं विनाऽपरस्मै किमपि न रोचते स्म।

अथ गुणसुन्दरस्य वैदेशिकस्य गुणसम्पत्त्यादिकमालोक्य सा रत्नवती पितरमवोचत- हे तात ! मह्यं गुणसुन्दर एव रोचते, अतस्तमेव वृणोमि, तेन सह मम पाणिग्रहणं कारय। तच्छ्रुत्वा रत्नसारश्रेष्ठी निजपरिवारयुतस्तदन्तिकमागत्यैवमवदत् - हे गुणसुन्दर ! त्वं मम पुत्रीं परिणय। यथा गुणैरुदारैस्त्वं शोभसे, तथैव सापि सकलैर्ललनागुणै रूपैश्च शोभते। तदाकर्ण्य मनसि सोऽचिन्तयत्- हा दैव ! त्वया प्रथमं ममेदृशं दुःखं दत्तं। पुनरस्या अपि किं दित्ससि?। तथापि तदवसरे यथा भाव्यं तथा भविष्यतीति विमृश्य गुणसुन्दर-

स्तदुक्तिमङ्गीकृतवान् । ततो महोत्सवेन रत्नसारश्रेष्ठी निजपुत्रीं रत्नवतीं गुणसुन्दरेण साकं परणायितवान् ।

अथ रत्नवतीपरिणयं श्रुत्वा पुण्यसारः कुलदेवीमवदत्- मातः! तवाऽपि वचनमलीकमभवत् यद्रत्नवत्या गुणसुन्दरेण सह विवाहो जातः । देव्यवदत्- पुत्र ! मद्वचनं वृथा नाऽभून्न भविष्यति । पुण्यसारः पुनरवदत्- मातः ! सा परस्त्री जाता सा मदुपयोगे नागमिष्यति । देवी जगौ- त्वं निश्चिन्तो भव, सा रत्नवती तु पूर्वमेव तुभ्यं मया दत्ता । सा कदापि परस्त्री नाऽभून्न भविष्यति, ततः स देवीं प्रणम्य निजकार्ये लग्नः ।

ततो गुणसुन्दरेण सह तस्याः स्नेहो ववृधे, यथा नखमांसयोरस्ति, पर दाम्पत्यसंयोगसम्बन्धस्तयोस्तावदप्रकटित एवाऽऽसीत् । अथैकदा गुणसुन्दरी दध्यौ-यन्मया प्रतिज्ञातं तस्याप्यवधिरासन्नो दृश्यते । पतिः प्राप्तस्तत्र संशयो नास्ति, अतो भर्तृवियोगजदुःखसहनमनुचित-मेव । इति केनाप्युपायेन पतिं व्यक्तीकृत्य सुखमनुभवनीयमिति विचार्य श्मशानभूमौ चिता कारिता । तस्यां मर्तुकामोऽभवद् गुणसुन्दरस्तत्स्वरूपं सर्वेऽपि नृपादयो विविदुः । सर्वेषां विस्मयो जज्ञे यत्केन हेतुना गुणसुन्दरसार्थवाहो नवयौवनश्चितां प्रवेष्टुमिच्छति ? कारणन्तु केऽपि न विदुः । सर्वत्र नगरे हाहाकारो जातो, नृपो दध्यौ-यदि स एवं विधास्यति तदा मे महत्यपकीर्तिर्भविष्यति । यदेतद्राज्येऽमुकः सार्थवाहश्चितां प्रविश्य ममारेति । अतस्तथा स न कुर्यादिति यतित-व्यम् ।

तदनु राजा स्वयमेव गुणसुन्दरान्तिकमागत्य तत्कारणम-

पृच्छत्। बहुधा पृष्टोऽपि स किमपि नोत्ततार। तत्रावसरे केनिचदुक्तम्- हे स्वामिन्! स गुणसुन्दरः पुण्यसारस्य महान् स्नेही वर्तते, तादृशं मित्रं तस्याऽत्र कोऽपि नास्ति। अत एनमादिश, स तदन्तिकं गत्वा कारणं पृच्छेन्निवारयेच्च। तदाकर्ण्य नृपेणोक्तम्- भोः पुण्यसार! तव मित्रं किमर्थं म्रियते? तदेनं पृच्छ निवारय च।

अथ राजादिष्टः पुण्यसारस्तत्पार्श्वमागत्य तमवक्- हे मित्र! तव किमभूद्येन यौवन एव मुमूर्षसि? तत्कारणं वद येन तदुपायं कुर्याम्। असति प्रतीकारेऽहमपि त्वया सहैव मरिष्यामि, क्षणमपि ते वियोगो मया नैव सह्यते। तदा चिरं निःश्वस्य सोऽवक्- हे मित्र! मम यद्भूतं तस्य प्रकाशेनाऽपि किं स्यात्? अत एतद्विषये किमपि मा पृच्छ। पुण्यसारेण पुनरुक्तम्- भो! यदि मां मित्रं जानासि तर्हि रहस्यगोपनं सर्वथा नैव युज्यते। यदुक्तम्-

प्रीति तहां पडदो नहीं, पडदो तहां शी प्रीत।
प्रीति बिचे पड़दो करे, वही बडी विपरीत ॥१३॥

इत्याकर्ण्य तेनोक्तम्- हे मित्र! त्वं मे महामित्रमसि। त्वं महताग्रहेण पृच्छसि तेन त्वां निजेदृशदुःखस्य कारणं वच्मि, शनैः शनैः कर्णे न्यगदत्-कुङ्ये यदलेखीस्तत्स्मर्यते न वा? तन्निशम्य पुण्यसारोऽप्यवदत्-सत्यमेव मयाऽलेखि। तत्रावसरे सर्वमादितो यथा जातं तथा सा जगाद। सर्वं श्रुत्वा पुण्यसारस्तदैव स्वगृहाद् स्त्रीपरिधानीयवस्त्रमानाय्य तस्यै समार्पयत्। मूलतत्त्वं विदन्तः सर्वे नृपादय आश्चर्यमापुः।

तत्रावसरे रत्नसारः श्रेष्ठी नृपं व्यजिज्ञपत्स्वामिन्! मम

पुत्र्याः का गतिः ? नृपोऽवक्-सापि पुण्यसारस्य भार्याभूत् । तदनु तामपि सत्कृत्य महता महेन गृहमानयत् । तदा तन्मनसि पूर्वजात-कलहद्वेषो लेशतोऽपि नासीत् । तस्या अपि पुरातनकलहकालीनप्रतिज्ञा विस्मृतिरेवाभूत् । ततस्तयोरपूर्व एवानुरागः परस्परमुदैत् । तदनु गुणसुन्दरीभर्तृमिलनवार्तामाकर्ण्य ता अपि षड्भगिन्यस्तत्राऽऽययुः । ततस्ताभिरष्टाभिः पत्नीभिः सह देव इव स सुखमभुक्त । तत्र नगरे तदभितोऽपि सर्वत्र पुण्यसारस्य कीर्तिः प्रससार ।

तत्रावसरे तन्नगरोद्याने चतुर्ज्ञानी शीलन्धराचार्य आगात् । वनपालेन तस्य वर्धापनं नृपाय निवेदितम् । राजा वनपालाय यथेष्टं धनं ददे । तदनु सपरिवारो राजा तं वन्दितुं तत्राऽऽययौ । सर्वे लोका वन्दनानन्तरं यथायोग्यस्थाने समुपाविशन् । तदा गुरुरवसरोचितं व्याख्यानं प्रारेभे, तथाहि- भो लोकाः ! सर्वे पदार्था विनश्वरा दृश्यन्ते । परमविनाशी सर्वत्र सहायको धर्म एवाऽस्ति । स सर्वैः सदैवाऽऽराधनीयो यस्तं प्राप्यापि न करोति स एवातिमूढः । यतः-

अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवम्,
न धर्मं यः कुर्याद् विषयसुखतृष्णातरलितः।
ब्रुडन् पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणम्,
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते ॥१॥

इह दुस्तरे संसारे महता कष्टेन मानुष्यं प्राप्य यो धर्मं न कुरुते तस्याऽलभ्यमिदं मानुष्यं मुधैव याति । अथ देशनान्ते पुरन्दरश्रेष्ठी गुरुमपृच्छत्- हे स्वामिन् ! पुण्यसारं वरीतुं रत्नवत्या इयान् विमर्शः कथमुदपद्यत ? गुरुरवदत्-श्रूयताम्, एष पुण्यसारः पूर्वजन्मनि

संयमं ललौ। परमसौ कायगुप्तिं सम्यक्तया परिपालयितुं न शशाक। केवलं सप्तप्रवचनमातृरेव सुखेन पर्यपालयत्। तेनाऽत्र भवे सप्तदारान् सुखेनाऽलभत। अष्टमभार्याप्राप्तौ चास्य विलम्बो जातस्तत्र कारण-मष्टमीं कायगुप्तिमवगच्छ। गुरुभाषितमेतदाकर्ण्य समुत्पन्नवैराग्यतया तदैव पुरन्दरः श्रेष्ठी दीक्षामग्रहीत्। शुद्धं साधुधर्ममाचर्य प्रान्ते देवगतिमाप।

तदनु पुण्यसारो नगरश्रेष्ठी बभूव। ततो धर्ममर्जयन् न्यायतो धनं वर्धयन् वार्धक्ये पुत्रं निजस्थाने संस्थाप्य भार्याभिरष्टाभिः सह संयमं परिपाल्य देवगतिमगच्छत्।

भो भव्याः ! एषा कथाऽस्मान् यच्छिक्षयति तदाकर्ण्यताम्-पूर्वं यदासौ द्यूतव्यसनी बभूव तदा नृपस्थापितं लक्षमूल्याभरणं चोरयित्वा द्यूते हारितम्। ततः पित्रा निष्कासितः कुत्रापि तरुकोटरे तस्थिवान् दैवात्परिणीताभिर्नवोढाभिः सरसं भाषितोऽपि किञ्चिदपि वक्तुं नाशक्नोद् भृशं पश्चात्तापमकरोत्। सर्वमेतद् द्यूतव्यसनादेव पुण्यसारोऽसहत। पुनर्यदाऽसौ तज्जहौ तदा तस्य नानाविधं सुखमुदियाय। सर्वत्र कीर्तिः पप्रथे, प्रान्ते संयमं गृहीत्वाऽऽत्महितं कुर्वन् देवगतिमाप, अतः सर्वथा द्यूतव्यसनं हेयमेव सर्वैरिति ॥२३॥

अथ १२-मांसभक्षण-विषये, इन्द्रवज्रा-वृत्तम्-

जे मांस लुब्धा नर ते न होवे,
ते राक्षसा मानुष रूप सोहे।
जे मांसभक्षी नरके हि जावे,
छोडे भला ते स्वरगे सिधावे ॥२४॥

भोः सज्जनाः ! इह यो मांसमत्ति स नररूपधारी राक्षस एव प्रतिभाति। ईदृशो जीवो ध्रुवं नारकी नरके च पुनर्गन्ता तत्र सन्देहो नास्ति, अतो मांसाऽशनव्यसनं सर्वथा शिष्टजीवैस्त्याज्यम्। किञ्च- निज-प्राणवदन्येषामपि जीवानां प्राणाः संरक्षणीयाः कदापि तद्विनाशो न करणीयः, तत्त्यागात्ते दयालवः सत्पुरुषा निश्चयेन स्वर्गे प्रयान्ति ॥२४॥



१०-अथ मांसमहार्घतासिद्धिं कुर्वतोऽभयकुमारस्य कथा-

मगधाधीशः श्रेणिको नृपो राजगृहे निवसति, तस्याभयकुमारो मन्त्री वर्तते। तत्रान्यदा राजसभायां कथाप्रसङ्गतः कश्चिन्मांसलोलुपः क्षत्रियो जगौ- स्वामिन् ! अद्य श्व आपणे मांसस्य महार्घता नास्ति। अल्पेनापि मूल्येन यथेष्टं लभ्यते तदिति श्रुत्वाऽभयकुमारो मनस्य-वदत्- यो हि जीवं घातयति तस्यैव मांसं सुलभमस्ति। मम तु दुर्लभमेव प्रतिभाति, अतोऽद्य मांससौलभ्यवक्ताऽसौ येन केनाप्युपायेन प्रतिबोधनीय इति विमृश्य स मौनमाश्रित्य तस्थौ।

अथ सभां विसृज्य नृपोऽन्तःपुरमागाच्चान्येऽपि श्रीमन्तो जनाः स्वस्थानमीयुः। अथ रजन्यामभयकुमारः प्रथमं मांससौलभ्यवादिनो महर्धिकस्य गृहमागात्। प्रधानं गृहागतं वीक्ष्य यथोचितं सत्कृत्य कृताञ्जलिः सोऽवदत्- स्वामिन् ! अद्य मे सौभाग्यमुद्घटितं यत्त्वां गृहागतं वीक्षे। प्रभो ! कार्यमादिश, तदा कुमारेणोक्तम्-सम्प्रति नृपशरीरेऽकस्मान्महान् रोग उत्पेदे, वैद्यः कथयति रोगो महानस्ति।

अतो यदाऽसौ राजा सेटकषोडशांशपरिमितं[1] सपादं हृद्यं मांसं भुञ्जीत, तदाऽऽरोग्यं लब्धुं शक्यते । अत आगतोऽस्मि राजाग्रे त्वयोक्तं मांससौलभ्यमिति तत्तावन्मितं हृदयमांसं देहि । यत्सत्वरं राजानं नीरोगं कुर्याम् ।

तदाकर्ण्य राजमान्योऽपि सोऽवदत्- हे नाथ ! एतत्तु दुष्करमस्ति, अहं धनं ददामि मांसं त्वन्यत एव लात्वा कार्यं साधय, यतस्त्वं मतिमतामग्रेसरोऽसि मां मुञ्च । तदा पुनरुक्तमभयकुमारेण- भो ! राज्ञस्तु मांसापेक्षा वर्तते तद्दीयताम् । तदा पुनः सोऽवक्-एवं मा कुरु मत्तो लक्षमितं द्रविणं गृहाण ।

ततोऽन्ते लक्षद्वयमुद्रां लात्वा कुमारोऽपरगृहमागत्य तथैव तमप्यवादीत्, तेनापि कुमारमधिकमनुनीय मांसमदत्त्वा तावदेव धनमदायि । इत्थं सकलराजमान्यश्रीमद्गृहाणि गत्वा मांस- व्याजादनेकलक्षमुद्रां गृहीत्वा निशान्ते गृहमाययौ ।

प्रभाते च कुमारो राजसभामागतः, तदा सर्वे ते समागता राजानमनामयमपृच्छन् । नृपस्तदा सविस्मयः कुमारमुखमालोकत । तत्रावसरे कुमारोऽवदद् महाराज ! गतेऽहनि सदस्येते सर्वे मांससौलभ्यं जगदुः । अतोऽहं रात्रौ सर्वेषां गृहाणि गत्वा मांसं याचितवान्, केनापि तन्न दत्तं सर्वे यथेष्टधनवितरणमेव चक्रुः । राजन् ! यदि मांसं सुलभं भवेत्तर्हि भवदर्थं सेटकस्य षोडशांशपरिमिते सपादे हृदयमांसे मार्गितेऽपि लक्षद्विलक्षधनानि कथमेतेऽदुः ? तदाकर्णयन्तस्ते सर्वे त्रपाऽवनतमूर्धान एव तस्थुः, केऽप्यभिमुखं द्रष्टुं न शेकुः । तदैव सर्वे

1. सेर ।

मांसभक्षणं प्रत्याचख्युः ।

सर्वे जीवाः सर्वतः प्रियतमां जीविताशामेव वहन्ति मृत्युं नैव वाञ्छन्ति । अतो जीवं हत्वा ये तन्मांसमश्नन्ति तेऽवश्यं नरकं व्रजन्ति-तस्मान् मांसभक्षणं सर्वथा सर्वैस्त्याज्यमेव । पुनरेतदेव स्पष्टीकर्तुमाहयथा ये मांसाशिनो भवन्ति ते महान्ति दुःखानि प्राप्नुवन्ति मृत्वा चान्तेऽवश्यमेव कालिकशूलिकप्रमुखा इव नरकमधिगच्छन्ति ।



११-अथ मांसभक्षणाद्नरकं प्राप्तस्य कालिकशूलिकस्य पुनस्तत्त्यागतः स्वर्गतस्य सुलसस्य कथा-

यथा-राजगृहे नगरे कालिकशूलिको मांसाशी निवसति । मांसधनलोलुपत्वात्प्रत्यहं स पञ्चशतमहिषान् निहन्ति । इत्थमाजन्म जीवान्निघ्नतस्तस्य वार्धक्ये मरणसमये महादुःखमुत्पेदे । दुःखार्त्तस्य तातस्य तद्दुःखावघाताय नानाविधचिकित्सामकारयत्सुलसः परं कृतेषु प्रतीकारेषु ह्यधिकमेव जातम् ।

तदा सुलसः पितुर्दुःखापनोदार्थमभयकुमारपार्श्वमागत्य नमस्कृत्य व्यजिज्ञपत- हे स्वामिन् ! मया पितुर्दुःखोपशमाय बहव उपायाः कृताः, परमुपाये सति तापशान्तिर्न जायते, किन्त्वधिकं वर्धते, तत्र को हेतुरिति कथय ? इति सुलसप्रश्नमाकलय्य कुमारेणाचिन्ति-

असौ महापापी नूनं नरकं यास्यति-तत ईदृशीं वेदनामनुभवति। ततस्तमेवमवादीत्- हे सुलस ! तव पिता यावज्जीवं क्रूरकर्माऽकरोद्,

धर्मन्तु स्वप्नेऽपि नाऽकृत। अतस्तस्य सुखकृत्कृतोऽप्युपायो नाभूत्, खरोष्ट्रादेरिव तस्य क्लिष्टोपचारैरेव शान्तिर्भविष्यति। अतःपरं भूमौ सूचीमुखाऽऽयसास्तरणे तं स्वापय यदा तस्य पिपासा भवेत्तदा त्वरितमत्युष्णं वारि पायय शीतलं सुस्वादु जलं मा देहि। तदङ्गेषु सुरभिशीतलं तैलं मा मर्दय, किन्तु विष्ठामेव विलेपय, तदा स सुखी भविष्यति नान्यथेति निश्चितं जानीहि।

अथ कुमारकथनानुसारतस्तथैव कृते तस्य शान्तिरभूत्तदा तेनोक्तम्- हे पुत्र ! अद्येयं शय्या सुखकरी विद्यते। जलमप्यद्य शीतलं सुखयति, लेपोऽपि सुरभिर्मह्यमधिकं रोचते। एतावद्दिनमीदृश उपचारस्त्वया कथं न विदधे ? अथैवमतिगर्हितैरुपचारैः सुखं मन्यमानः स आयुःक्षये मृत्वा सप्तमं नरकं प्राप।

अथ तदन्तिमक्रियाकरणानन्तरं सर्वोऽपि तत्कुटुम्बवर्गः सुलसं प्रत्यवोचत- हे सुलस ! त्वमिदानीं पितृकृत्यमाचर कुटुम्बं पोषय, नो चेदस्माकं का गतिर्भविष्यति ? तदा सुलसोऽवदत्- भोः कुटुम्बवर्ग ! त्वदुक्तं सत्यमस्ति परं तथाचरणेन पिता मे यादृशीं दुःखवेदनामन्वभूत्सा भवद्भिरपि दृष्टा। अहमपि तथा करणेन तामेव यातनां भोक्ष्येऽतोऽहमेतत्पापं न चिकीर्षामि।

तदा तैरुक्तं- हे सुलस ! तत्पापतो मा भैषीर्यतः सर्वेऽपि वयं तत्पापं समं विभज्य लास्यामः, ततस्तव तादृशी वेदना नोदेष्यति। तत्रावसरे सुलसस्तत्समक्षमेव समीपस्थेन कुठारेण निजचरणमाङ्क्षीत्। तदा तदुदितवेदनार्दितः स सुलसः परिवारमवक् - हे मातः ! हे भ्रातः ! हे मित्र ! ममेदानीं कुठाराघातेनाऽसह्या वेदना

जायते। भवद्भिरपि किञ्चित्किञ्चिद् गृह्यतां, विभज्य भवद्भिर्गृहीतायां तस्यां ममाल्पैव स्थास्यति। तैरुक्तं- भोः सुलस ! त्वमिदानीमुदरं निजकरेणैव संमर्द्य शूलमुत्पादयन्निव स्वयमेव पादं छित्त्वा वेदनामुत्पादितवानसि। पुनरस्मांस्तां वेदनां विभज्य लातुं कथयसि। साऽस्माभिः कथं गृह्येत ? यतः स्वकृतं कर्म स्वेनैव भुज्यते।

तच्छ्रुत्वा सुलसोऽवदत्- भोः कुटुम्ब ! यदीमामल्पीयसीं वेदनां भवद्भिर्विभज्य लातुं न शक्यते तर्हि जीवघातोद्भूतमहापापं मत्कृतं भवन्तः संविभज्य कथं लास्यन्ति ? अतो येन यादृशं धर्म्यमधर्म्यं वा कार्यं क्रियते, तेनैवाऽत्र परत्र च सुखदुःखात्मकं तत्परिपाकं भुज्यते। अन्यकृतं कर्म चाऽन्यैर्नैव भुज्यत इति सिद्धान्तितं वीतरागैरतोऽहं भवत्प्रेरितो न कदापि पितृकृत्यं करिष्यामीति सुलसोक्तमाकर्णयन्तस्ते सर्वे तत्सत्यं मेनिरे।

किञ्चाऽत्र संसारे यथा पक्षिणो निशि कुत्राप्येकत्र वृक्षे तिष्ठन्ति प्रगे च ते दशदिक्षु यान्ति। तथा मनुष्य अप्येकत्र पुत्रकलत्रबन्धुमित्रादिभिः सह तिष्ठन्ति मृत्वा च पुनर्यत्र तत्र स्वर्गनरकादौ गच्छन्ति। पुनरेकत्र पक्षिण इवेमे परिवारा नैव मिलन्ति। ततोऽहं पापं दुर्गतिदायकं कदापि नैव चिकीर्षामि। अथैतद्धर्मनिश्चयं मत्वा ते कुटुम्बाः स्वस्वकृत्ये लग्नाः। सुलसोऽपि कुमारमापृच्छ्य धर्मे दार्ढ्यं विदधद्धर्ममाराधयन्नायुषः क्षये कालं कृत्वा धर्मप्रभावादेवो जातः।

भोः प्राणिनः ! एतत्कथासारमेतदेवाऽवगच्छत यत्कालिकशूलिको मांसाशित्वादत्राऽसह्यमवाच्यमनेकविधं दुःखमनुभूय परत्र सप्तमं महादुःखप्रदं नरकमाप। तत्पुत्रः सुलसस्तत्प्रत्याख्याय धर्ममाराध्य

देवगतिमीयिवान् । अतो भवन्तो मांसाशनं त्यजत धर्ममाराधयत ।

अथ १२-चौर्य-विषयेइन्द्रवज्रा-वृत्तम्-

चोरी करन्तां भय चित्त भ्रान्ति,
विश्वास जावे नहि सौख्य शान्ति ।
दोनुं हि लोके बहु दुःख भोगे,
मंडीक जैसे इणही कुजोगे ॥२५॥

चौर्यं कुर्वतामधमानां चेतः सततं भीत्या भ्रान्तमिव लक्ष्यते, ततस्तेषु दस्युषु केऽपि नो विश्वसन्ति । पुनस्तद्योगादेव मण्डीकनामा तस्करोऽस्मिन् लोके मारितस्ताडितोऽतिनिन्दया सह शूलिकारोपितोऽतिकष्टमसहत । ततः परत्र स चातिदुस्सहां नारकीं वेदनामन्वभूत् । अतस्सभ्यैर्भव्यैर्दुःखसन्ततिमूलं स्तैन्यं त्याज्यमेव ॥२५॥



१२-अथ चौर्यविषये मण्डीकचोरस्य प्रबन्धः-

यथा-बेनानदीतीरे श्मशानभूमौ मण्डीकनामा चौरो गुप्ते भूमिगृहे निवसति । तस्यैका भगिनी कुमारी वर्तते स च गृहान्तः कूपमेकं कृतवानस्ति स चोरितं धनं येन भारवाहिना समानयति तं सर्वं तत्र कूपे पादप्रक्षालनव्याजात्पातयति, यथा स ततो बहिरेतुं न शक्नुयात्।

स रात्रौ चोरयति दिने च नृपसदनप्रकारान्तिके समुपविष्टस्तत्रागतलोकानां वसनानि सिवनार्थं गृह्णाति, पुनस्तानि नानाविधानि सेवित्वा तत्प्रदातुं तद्गृहे याति । तत्र गत्वा सर्वत्र विलोक्य तद्भेदं जानाति रात्रौ च दिनदृष्टं सर्वस्वं तस्य चोरयति । इत्थं महाचौरः स पौराणां सर्वेषां धनादिसर्वस्वं चोरयामास परं कदापि केनापि न धृतः ।

तत एकदा हृतसर्वस्वाः सर्वे लोका मिलित्वा मूलदेवनृपपार्श्वमेत्य तत्स्वरूपं व्यजिज्ञपन् । तदा स मूलदेवो नृपस्तच्चौरग्रहणाय सकले पुरे पटहं वादितवान् परं कोऽपि चौरग्रहणाय पटहं न स्पृष्टवान् । तदा राजा स्वयमेव चौरनिग्रहप्रतिज्ञां विधाय पटहमस्पृशत् । ततो राजा रात्रौ नानावेषेण सर्वत्र बभ्राम ।

अथैकस्यां रात्रौ कस्यचित्तापसस्याऽऽश्रमान्तिके महारङ्ग-वेषेण गुप्तासिः सुष्वाप । तत्र भारवाहिजिघृक्षया स मण्डीकचौरः समागत्य तमुत्थापितवान् । तदा तेन सह चोरितधनग्रन्थिं मस्तके निधाय भारवाहवेषी नृपोऽचलत् । गृहागतश्चौरो ग्रन्थिमुत्तार्य भगिनीमवक्- भगिनि ! एनं पादशौचादिकं कारय । ततस्तं तत्र कूपतटे समानीतवती, पादं प्रक्षालयन्ती सा तन्मृदुत्वं जानन्ती दध्यौ- न ह्यसौ भारवाही कोऽप्यसावुत्तमः पुमाँल्लक्ष्यते, अतोऽसौ कूपे न पात्यः किन्तु रक्षणीय इति विमृश्य साऽवक्- हे महाभाग ! त्वमितः सत्वरं पलायस्व नो चेत्त्वामत्र कूपे पातयिष्यामि ।

अथ नष्टे राज्ञि किञ्चिद्विरम्य तया पूच्चक्रे- हे भ्रातः ! भारवाही पलायितः, धावस्व-धावस्व गृहाण-गृहाण इति श्रुत्वा सोऽपि खड्गपाणिस्तदनु जवादधावत । अनुपदमायान्तं तमालोक्य महता जवेन धावमानः क्षितीशो झटित्येव निजसदनमागत्य सुष्वाप । तस्याऽनुपृष्ठमागतश्चौरस्तत्र नृपद्वारे पुरुषाकारं स्थितं शिलास्तम्भं तद्भ्रान्त्या जघान । ततः कृतकृत्यो भवन्निव स चौरः स्वस्थानमागात्प्रभाते च पूर्ववत्तत्रागत्य सीवनादि-कृत्यं कर्त्तुं लग्नः ।

अथ राजा निजपुरुषेण तमाह्वयत्तेन शङ्कमानश्चौरो नृपान्तिक-

मागत्य तस्थौ। तदा राजा स्वसमीपे समुपावेश्य मिष्टवचनैः सान्त्वयंस्तं विश्वस्तीकृतवान्। पश्चाद्राजा जगौ-किं भोः ! तव भगिनी कुमारी वर्तते, तां मया साकमुद्वाहय, ततः स्वभगिनी राज्ञा परिणायिता। ततो राजा तन्मुखेन सर्वं विदित्वा तच्चोरितं सर्वं धनं गृहीतवान् तञ्च गर्दभारोपणादिविडम्बितं शूलारोपेण घातितवान्, मृत्वा च स नरकं गतवान्।

भो लोकाः ! एषा कथा सर्वानिदमुपदिशति-यच्चौर्यं कुर्वन्यथा मण्डीकचौरो धनादिसर्वस्वमपहृत्य राज्ञा मारितो नारकी बभूव। अनिच्छताऽपि तेन भगिनी राज्ञा परिणायिताऽतो भवन्तोऽपि चौर्यं मा कुर्वन्तु।



अथ १४-मद्यपान-विषये, भुजङ्गप्रयात-वृत्तम्-

सुरापानथी चित्त सम्भ्रान्त थाए,
गळे लाज गंभीरता शील जाए।
जिहाँ ज्ञान विज्ञान सूझे न बूझे,
इशूं मद्य जाणी न पीजे न दीजे ॥२६॥

यथा मद्यपा नराः सदैव सुरायत्ता जायन्ते, तेषां विचार-शक्तिरपैति। तेन ते सदसद्विवेक्तुं न प्रभवन्ति। वायसा इवाऽपेयं पिबन्ति, अखाद्यमदन्ति, निस्त्रपाः शीलहीना गाम्भीर्यरहिताश्च ते जायन्ते। अवाच्यमपि वदन्ति, सर्वैर्गर्हिता महादुःखमनुभवन्ति। अतो मदिरा यत्नतः सर्वैस्त्याज्यैव ॥२६॥



१३- अथ मद्यपानव्यसनिनो जितशत्रुक्षितिपस्य कथा-

यथा-वसन्तपुरनगरे जितशत्रुनृपो वर्तते, सुकुमालिका तस्य प्रेयसी महीयसी राज्ञी विद्यते, उभावपि दिवानिशं सुरापायिनौ बभूवतुः । तदासक्तौ राजकार्यं किमपि नैव चक्रतुः । तेन हेतुना तत्पुत्रः प्रधानेन सह मन्त्रयित्वा मद्यपानव्यसनासक्तौ तावुभावेकदा चन्द्रहाससुरां यथेष्टं पाययित्वा यत्किञ्चिद्धनादिकं पाथेयञ्च दत्त्वाऽतिदूरे महाटव्यां मोचितवान् ।

तत्र दिनत्रयानन्तरं सञ्जातस्वास्थ्यो राजा व्यचिन्तयत्- अहो ! क्व मे प्रासादः ? अहमत्र कथमागतोऽस्मि ? अथ भयभ्रान्तचेता राजा तत्र शयने पाथेयं धनादिकं दृष्ट्वा निश्चितवान्-यन्मां मद्यव्यसनित्वादयोग्यं मत्वाऽत्राऽमोचयन्मन्त्री । भवतु, यद्भाव्यं तद्भवत्येव ।

ततो राजा सभार्यः पुरोऽचलत्तदैव मद्यं प्रत्याचचक्षे । मार्गेऽथ राज्ञी तृषातुरा जलमयाचत । तदा कुत्राऽपि जलमलभमानो राजा रहसि निजोरुं छित्त्वा पत्रपुटके रक्तं गृहीत्वा राज्ञीमवादीत्-अयि प्रिये ! जलमत्र सम्यक् कुत्रापि नास्ति । तृषा च त्वामधिकं बाधते, अत एतज्जलं नेत्रे निमील्य पीयतां, सापि तथैव तत्पपौ । ततोऽग्रे क्षुधार्ता राज्ञी जगाद-मम क्षुधा महती लग्नाऽतः पदमपि गन्तुं न शक्नोमि । तत्रावसरे राजा निज-जङ्घामांसं खण्डशः कृत्वा तस्यै ददौ सा तदपि जघास ।

तदन्वग्रे चलन् कञ्चनपुरनगरमाययौ, तत्र कस्यचिद् गृहं भाटकेन लात्वा भार्यया सह तस्थौ । तत्रैकदा स दध्यौ-मम पार्श्वे

धनमत्यल्पं विद्यते, अतोऽत्रापणे कोऽपि व्यापारः कर्त्तव्य इति निश्चित्य स तत्र व्यापर्तुमचलत्तदा राज्ञ्यवक्- स्वामिन् ! ममैकाकिन्या अत्र मनो न लगिष्यति। तदा सोऽवगिदानीमेव कञ्चन योग्यपुरुषमत्रानयामि, यथा ते मनोविनोदो भविष्यतीत्याभाष्य स आपणे समायातः। तावत्तत्रैकः पङ्गुरागतस्तस्य स्वरमाधुर्यमालोक्य तमवक्- अरे ! ते भोजनवसनादिकं दास्यामि, त्वं मद्गृहे तिष्ठ, तेनापि तद्वचः प्रतिपन्नम्।

तदा तं निजगृहे समानीय स्त्रियमवदत्- हे वल्लभे ! एष पङ्गुरानीत एष ते समीपे सदा स्थास्यति । अनेन सहालप्य गायनञ्चास्य श्रुत्वा सुखेन दिनं निर्गमयाहमापणे व्रजामि । ततस्तं तत्र संस्थाप्य स्वयमापणे व्यापारे लग्नः सा च तेन पङ्गुना सहालपति तस्य मधुरस्वरं गानं शृणोति। ततस्तौ द्वावेव तत्र गृहे तिष्ठन्तौ मिथो रागिणौ बभूवतुः।

अथैकदा सर्वाङ्गव्याप्तमदनपीडिता सुकुमालिका राज्ञी पङ्गुमवदत्- हे पङ्गो ! त्वं मेऽतिप्रेयानसि, त्वयि मे महान् रागो जातोऽस्ति। मदनश्च मामधिकं बाधतेऽतो मां स्वैरं भुङ्क्ष्व, तेनोक्तमहं ते भर्तुर्बिभेमि। तयोक्तम्- ततः कामपि भीतिं मा कृथाः, स तु सदैवाऽऽपण एव तिष्ठति। आवयोरेतत्स्वरूपं स कदापि न ज्ञास्यति, ततस्तेन पङ्गुना स्वैरं रममाणा सा राज्ञी तस्मिन्नेवानुरागिणी बभूव।

अथैकदा कुत्रचिन्महोत्सवे बहवो लोका नदीतीरमगुस्तदा राज्ञी राजानमवक्- हे नाथ ! आवामपि कुत्रापि छन्नप्रदेशे स्थित्वा द्रक्ष्याव एनं महोत्सवम् । अथ तौ दम्पती नदीतीरं गत्वा कुत्रापि निर्जने गङ्गाकूले समुपविष्टौ। इतस्ततो विलोक्य विरक्ता सा राज्ञी

नृपं गङ्गाह्रदेऽम्भसि न्यपातयत्परं दैवयोगात्स तीर्त्वा जीवन्नुपरि समायातः ।

तत्रैव चाऽपुत्रस्य नृपस्य मृत्यौ प्रधानादिलोकैः कृतं पञ्चदिव्यं प्रावर्तत । वादित्रादिमहोत्सवेन पृष्ठानुगतसकलपौरजनः स करीन्द्रो ग्रामाद् बहिरागच्छंस्तत्रागत्य जितशत्रुनृपं कलशवारिणा स्नपयाञ्चक्रे । वाजिना हेषितं छत्रं तदुपरि तस्थौ चामरे च तमुभयतो वीजयाञ्चक्राते । तदनु स गजेन्द्रः शुण्डादण्डेन तं पृष्ठमारोपयत । इत्थं महता महेन पुरमानीय नृपासने तमुपावेशयत्पुण्याढ्यनाम्ना स तत्र पप्रथे । तदनु न्यायतः प्रजाः पालयन् सुखमनुभवन्नास्ते ।

इतश्च सा सुकुमालिका राज्ञी नृपं ह्रदे निपात्य गृहमागता लोकानवदत्–न जाने मम स्वामी कुत्र गतस्तत्र महोत्सवे गङ्गातीरे मां मुक्त्वा । किमपि कौतुकं द्रष्टुं क्वापि गतः, स इदानीमपि नायातो, मया तत्र सर्वत्र विलोकितः, परं न मिलितः । तेन मे महती चिन्ता भवति किङ्करोमि ? अहमेकाकिनी क्व व्रजामि ? हा दैव ! किं कृतम्! तद्वियोगान्मे हृदयं शतधा विदीर्यते । यदि कोऽपि तच्छुद्धिमानयिष्यति तस्मै पारितोषिकं दास्यामि तदुपकृता च भविष्यामि । इत्थं विलपन्ती निजौदास्यं प्रकटयन्ती गृहान्तः प्राविशत्तदा पङ्गुमवक्–हे नाथ ! क्षिप्तो गङ्गाप्रवाहे मया विघ्नोऽद्यप्रभृति निःशङ्को भव । यतस्ते भीतिरासीत्तमद्य जले न्यपातयम् ।

ततस्तेन पङ्गुना दिवानिशं विषयसुखं कुर्वाणा सुखेन दिनानि व्यत्येतुं लग्ना । इत्थं तस्याः कियद्भिर्दिनैः पार्श्वस्थे धने व्ययिते द्वाभ्यां विचारितम्–धनन्तु व्ययितं, किमपि नास्ति, भोजनादिकृत्यं कथं

निष्पत्स्यते ? तेनोक्तम्- प्रिये ! अहं गातुं जानामि, परमहं चरणाभ्यां विहीनोऽस्मि, कुत्राप्येकपदमपि गन्तुं न शक्नोमि । तयोक्तम्-नाथ ! अहं त्वां निजस्कन्धे धृत्वा सर्वत्र पर्यटिष्यामि ।

तथा निश्चित्य सा पङ्गुं निजस्कन्धे संस्थाप्य भिक्षायै नगरमागता । पङ्गुश्च मधुरस्वरेण सकलजनश्रोत्रसुखं गायति, तदीयमधुरगीतेन वशीकृतो जनवर्गस्तं परिवृत्य तस्थौ । तदा कियन्तो लोकाः सुकुमालिकायाः सौन्दर्यातिशयेन मुमुहुः । कियन्तो लोकाः पङ्गोर्मनोहरगानेन मोहमीयुः । कियन्त एवं जजल्पुः-अहो! पङ्गोरीदृशी सुन्दरी स्त्री न युज्यते । इत्थं यथारुचि वदन्तो लोका यद्ददति तेन तौ भोजनादिकं कुर्वाते ।

इत्थमेव प्रत्यहं सा भिक्षते । एवं कियन्ति दिनानि तत्र नगरे भिक्षित्वा ग्रामान्तरे भिक्षितुमलगत्तत्र महारूपवतीस्त्रीस्कन्धे स्थित्वा मधुरं गायन्तं पङ्गुमालोक्य सर्वे द्रष्टारः "पांगलो गाय, आंधलो दले ने कूतरुं खाय" इति जनश्रुतिस्मृत्या सहाश्चर्यं मनसि मन्यमानास्तं द्रष्टुमेकत्र मिमिलुस्तेषु कियन्तस्तां स्त्रियं तुष्टुवुः ।

यथा नूनमियं स्त्रीमतल्लिका यदमुं भर्त्तारं स्कन्धे निधाय सर्वत्र पर्यटति । सर्वत्र पतिव्रतानाम्ना सा प्रख्यातिमलब्ध । अनुक्रमेण पर्यटन्ती सा पुण्याढ्यराजस्य नगरं समाससाद, तत्रापि तस्याः प्रतिष्ठां सर्वे जगुः । कथाप्रसङ्गात्कियन्तो राजानं जजल्पुः- हे महाराज ? साम्प्रतमत्र नगरे काचिदेका महारूपवती पतिव्रता स्त्री पङ्गुभर्तारं निजस्कन्धे धृतवती भिक्षते । पङ्गुश्च मनोहरं प्रशस्यं गायतीति श्रुत्वा नृपो मनसि शशङ्के नूनं सैव दुष्टा भविष्यति ! या मां

जले पातयामास । पुनस्तत्रावसरे राज्ञा निजसेवकं सम्प्रेष्य सा समाकारिता। तदानीं मनसि जहर्षाऽचिन्तयच्च सा यदद्य गीतमाकर्ण्य मान्न विलोक्य राजा प्रसन्नो भूत्वा यथेष्टं दास्यति । अथ तावुभौ नृपसदसि समेतौ गातुं लग्नश्च पङ्गुस्तद्गीतमाकर्ण्य नृपोऽवदत्-

वने रुधिरमापीतं, भक्षितं मांसमूरुजम् ।
भागीरथ्यां पतिः क्षिप्तः, साधु साधु पतिव्रते ! ॥१॥

अथ नृपोदितममुं श्लोकं निशम्य सा तत्कालं विच्छायवदनाऽभवत् । तदनु स राजा तावुभौ स्वराज्यान्निष्कासितवान् । स्त्रियं दुःशीलामालोक्य समुत्पन्नवैराग्यः स पुण्याढ्यो नरपतिश्चारित्रमादाय स्वात्मश्रेयो विदधत्सुखी बभूव ।

भो लोकाः ! पश्यत यदसौ जितशत्रुनरपतिरपि यावद् व्यसन्यासीत्तावद्दुःखमेवाऽन्वभूत्यक्ते च तत्र व्यसने राज्यसुखमाप । ततो मोक्षार्थीभूय संसारमसारममुमत्यजत् । अतो यूयं भ्रमादपि मद्यव्यसनवन्तः कदापि नो भवत ।

१४-तथा मद्यव्यसनादेव द्वारिकापुरी कृष्णसुरक्षितापि भस्मसादभूत्तस्यः कथानकम्-

अथैकदा श्रीकृष्णो नेमिनाथदेशनान्ते तं भगवन्तमपृच्छत्-हे भगवन्! ममैतद्द्वारिकापुर्या अवसान कदोदेष्यति ? भगवानाह-हे कृष्ण ! एतदवसानं तदोदेष्यति यदा तव पुत्रौ शाम्बप्रद्युम्नौ सुरां निपीय वनस्थं द्वैपायनमुनिमनेकोपसर्गं विधाय हनिष्यतः । ताभ्यां निहतः स कृतनिदानो मरिष्यति तदनु स एवाग्निकुमाररूपेण सकलां

सजनादिकामिमां नगरीं भस्मसात्करिष्यति ।

इति भगवन्मुखान्मद्यपानेन विघ्नं संभाव्य पुत्रादिसकलजनान् मद्यपानतो न्यवर्तयत श्रीवासुदेवः । तद्वचसा सर्वे तदत्यजन् परं भवितव्यप्राबल्यादेकदा शाम्बप्रद्युम्नादयः काननक्रीडां विधातुमगुस्तत्र मद्यगन्धमासाद्य तत्र गत्वा ते सर्वे यथेच्छं मदिरामपिबन् । तदाऽचिरादेव मद्योष्मणा सदसद्विवेकशून्याः प्रमत्तास्ते सर्वे यत्र कुत्र भ्राम्यन्तः समीपे तपस्यन्तं द्वैपायनमृषिमद्राक्षुः । तदा ते सर्वे द्वारिकाविनाश-कोऽयमिति मत्वा तदन्तिकमागत्य बहुधा तमुपद्रोतुं लग्नाः । केचन मुष्टिना कियन्तो लोष्ठादिभिरताडयन् । ततस्ते लोकैर्निवारिता ऋषिं मुमुचुस्तदनु प्रकोपितः स निदानं कृत्वा मृत्वाऽग्निकुमारोऽभवत् ।

ततस्तद्वैरं स्मरन् सलोकां द्वारिकां दग्धुं प्रावर्तत । परं ततो भीताः सर्वे लोका अखिलेऽपि पुरे प्रतिगृहमाचाम्लमारेभिरे । तदाम्बिलतपः-प्रभावतो द्वादशवर्षाणि यावत्तां दग्धुं नाऽशक्नोत्, ततोऽवश्यं भाव्यत्वात्सर्वे तत्तपस्तत्यजुः । यथा सुभूमचक्रवर्तिनश्चर्म-रत्नमेकदैव तदीयदुर्दिष्टोदयात्सकला देवा अत्यजंस्तथा, तदैवा-ऽवसरमासाद्य सोऽग्निकुमारस्तां पुरीं कृष्णबलभद्रौ विना सकलचराचर-प्राणिसहितामदहत्तत्राऽवसरे ये दीक्षाभिलाषिणस्तानप्यमुञ्चत् । सर्वाणि भवनानि सर्वाः सम्पदः सोऽग्निरूपेण भस्मसाच्चक्रे ।

सर्वमेतत्सुरापानव्यसनादजायत । मद्यपास्तत्कालमेव तत्पारवश्यङ्गता विवेकविकला अपेयं पिबन्ति, अवाच्यं निगदन्ति, अकार्यमाचरन्ति, किं बहुना तत्पानेन महान्तोऽपि नरा अधमा भवन्ति। अतो मद्यमपेयमेव सदा सर्वेषामिति सर्वे विदाङ्कुर्वन्तु ।

अथ १५-वेश्याव्यसन-विषये-

कहो केन वेश्या तणो अंग सेवे,
जिणे अर्थनी लाजनी हानि होवे ।
जिणे कोश सिंही गुफाये निवासी,
छल्यो साधु नेपाल गयो कंबलासी ॥२७॥

हे भ्रातः ! त्वमेव कथय यां निषेवमाणो नरो धनं विनाशयति । लोके च निन्दामाप्नोति कुलमुज्ज्वलं मलिनीकरोति । ईदृशीं सकलदोषधरां गणिकां को मतिमान् सेवेत ? या हि महामूर्खः स एव तामिच्छति । पश्य पश्य यदसौ स्थूलिभद्रसाम्यलिप्सुः सिंहगुहावासी गुरुभ्रातोपकोशावेश्यानिदेशतश्चतुर्मास्यामपि रत्न-कम्बल-मानिनी-षुर्नेपाल-देशमतिदूरमगच्छत् ॥२७॥

१५-अथ सिंहगुहावासिसाधूपकोशावेश्ययोः कथानकम्-

यथा पाटलिपुरनगरे नन्दनामा राजा वर्तते । तन्मन्त्री शकडालाख्यो विद्यते । तावकः स्थूलिभद्रनामा पुत्रः कोशानामवेश्यारागी भूत्वा तदालये द्वादशवर्षाणि तस्थिवान् सार्धद्वादशकोटिधनमदाच्च तस्यै । अत्रान्तरे केनापि हेतुना वररुचिब्राह्मणकूटप्रपञ्चयोगात् शकडालमन्त्री मृत्युमध्यगच्छत् । तत्रावसरे नन्दराजो मन्त्रिपदप्रदानाय स्वपुरुषेण तं स्थूलिभद्रं वेश्यालयतः समाह्वाययत् । नृपाहूतः स तदैव प्रतस्थे, तदा वेश्या तमधिकं निरुरोध, परं चतुरः स समुचितै-र्मिष्टवाक्यैस्तामनुनीय दूतेन सह राजान्तिकमाययौ मार्गे च पितुर्मरणमाकल्य्य तन्मनो नितरामसारसंसारतो विरक्तमभूत् ।

अथ राजान्तिकमागत्य तं नमस्कृत्य कृताञ्जलिर्व्यजिज्ञपत्- स्वामिन् ! किमर्थं मामद्य समाकारितवानसि ? तेनोक्तम्- त्वं पितुः स्थाने स्थाप्यसे । तेनोक्तम्- हे महाराज ! श्रीमतामादेशः शिरसा धार्यते परमत्र विषये किमप्यालोचनीयमस्ति, तदालोच्य निश्चयं वदिष्यामि ।

ततो नृपादेशतः सोऽशोकवनमागत्य निजहस्तेन केशानवलुच्य रत्नकम्बलस्य रजोहरणं विधाय राजसभामागत्य तारस्वरेण कल्पतरुरिव 'धर्मलाभ' इत्युच्चचार । ततः संभूतिविजयाचार्यपार्श्वे दीक्षां ललौ ।

अथ वर्षतौ गुरवश्चतुःशिष्येषु स्थूलिभद्रमेवमादिशन्-त्वं तत्रैव वेश्यालये चतुरो मासान् स्थित्वा संयमाराधनं कुरुष्व । एकं शिष्यं वने सिंहगह्वरद्वारे तिष्ठन्नुपवसंश्चतुर्मासं विधेहीत्यादिदिशुः । कूपभारवटे (कूपोपरि दत्तकाष्ठे) स्थित्वा चतुर्मासं कुर्विति तृतीयशिष्यमादिष्टवन्तः । सर्पबिलसमीपे चतुर्मासं तिष्ठेति चतुर्थमाज्ञप्तवन्तः । अथ गुर्वाज्ञया ते चत्वारस्तत्र तत्र ययुः ।

राजानं मिलित्वा समेष्यामीति पुरा स तां वेश्यामुक्तवान् । अद्यापि प्रतीक्षितवती । साम्प्रतं गुरुनियोगतः स्थूलिभद्रमुनिर्वेश्यागारमाययौ । तमागतं वीक्ष्य चिरादुत्कण्ठिता सा गणिका घनागममवाप्य मयूरीव नितरां मुमुदे । सादरं चित्रशालायां न्यवासयत् ।

अथ सा मुनिवेषं त्यक्तुं तमधिकं प्रार्थितवती, परं दृढात्मा स नैवाऽमुञ्चत् । विषयभोगाय बहुधाऽयतत, हावभावादिना तमलोभयत, परं वशीकृतेन्द्रियवर्गः स तामूचे सार्द्धत्रयोदशहस्तदूरे तिष्ठन्ती

यदिच्छसि तत्कुरु त्वमिति निगद्य पुष्करपलाशवन्निर्लिप्तः स तद्गृहे चतुर्मासं तस्थिवान् ।

अथ सा वेश्या प्रतिसन्ध्यं नवं नवं महापुष्टिकरं मदनोद्दीप्तिकरमाहारं भोजयन्ती नानाविधहावभावं वितन्वती कटाक्षयन्ती तन्मनश्चालनपरासीत्, परं मनागपि तन्मनश्चाञ्चल्यं न प्राप । मेरुमिव निश्चलं तं वीक्ष्य सा चकिता जाता जगाद च- अहो ! सैवेयं चित्रशाला तान्येव चित्रितानि चतुरशीतिसम्भोगाऽऽसनानि । स एवाऽसौ यः पुरा वारितोऽपि क्षणं मां न त्यक्तुमिच्छति स्म । सम्प्रति मयैवमर्थितोऽपि मदनतरुं संयमकुठारेण समूलमुच्छिद्य मेरोरप्यधिकं मनःस्थैर्यं प्रकटयते । अथ चमत्कृता सा कोशा वेश्या तदुपदेशतः शुद्धा श्राविका जाता द्वादशव्रतान्याददे ।

अथ चतुर्मासानन्तरं तस्या आज्ञया स्थूलिभद्रमुनिर्गुर्वन्तिकमाजगाम । गुरुस्तमायान्तं विलोक्य तदभिमुखमेत्य वारत्रयं दुष्करकारमदात् । तदनु द्वितीयः सिंहगह्वरवासी चातुर्मासोपवासी शिष्य आगात् । तस्मै सकृद्दुष्करवादं दत्त्वा सुखशातमपृच्छत् । तथा कूपोपरि तिष्ठन् कृतचतुर्मासोपवासस्तृतीय आगतस्तमप्येकवारं दुष्करकारदानेन सच्चक्रे । एवं सर्पबिलोपरि चतुर्मासीं स्थित्वा समागतञ्चतुर्थशिष्यमप्येकवारं दुष्कर इत्युच्चार्य भावितवान् ।

अथ मिथो मिलितेषु चतुर्षु स्थूलिभद्रस्पर्धालुः सिंहगुहावासी मुनिर्मनसि खेदमकरोत्-यद्गुरुस्त्रीनस्मानेकदैव दुष्करदानेन बभाषे । यः पुनरद्यापि निजस्वभावं नाऽत्यजत्तस्य महाकायस्य शकडालमन्त्रिपुत्रस्य दुष्करकारं त्रिवारं ददौ । अथैतज्ज्ञात्वा गुरुस्तमाचख्यौ

भो महानुभाव ! त्वं कथं खिद्यसे ? मया यदुक्तं तत्सम्यगेव । यद्भव-न्तस्त्रयोऽपि यदुष्करञ्चक्रुः, तदेकेनैव तेन चक्रे । तथाहि-

या तत्र चित्रशाला तां कूपभारवटं जानीहि, कुत एतत्-यस्यां परितश्चतुरशीतिसंभोगासनचित्राणि पश्यन्नप्यसौ किञ्चिदपि मनोविकृतिं नाप । पुनर्या गणिका सा विषमा भुजङ्गी तत्सान्निध्येऽपि कदापि तयाऽसौ न दष्टः । यश्चाऽसौ द्विसन्ध्यमतिसरसं षड्रस-माहारमकृत तमेव सिंहमवेहि । इत्थं गुरुणा तत्कारणे निगदितेऽपि सिंहगुहावासी तस्मिन् मत्सरतां न जहौ । यदनेन किं दुष्करं चक्रे ? मयापि तल्लघुभगिन्या उपकोशावेश्याया गृहे चतुर्मासी करिष्यते ।

अथाषाढचतुर्मास्यामागतायां सिंहगुहावासी गुरुम्प्रत्यवदत्-भो गुरो ! अहमपि वेश्यागृहे चातुर्मासिकीं स्थितिञ्चिकीर्षामि, अनुज्ञां ददस्व, तच्छ्रुण्वन्नपि गुरुर्मौनमाश्रयत् । तदनु गुर्वाज्ञां विनैव स मुनिरुपकोशावेश्यालयं प्रत्यचलत् ।

तत्रावसरेऽट्टालिकायां स्थिता सा वेश्या तमायान्तं विलोक्य तदाकृत्या विदाञ्चक्रे, यदसौ स्थूलिभद्रस्पर्धयाऽत्रागच्छति, परमस्य पूर्वं परीक्षा क्रियेत चेद्वरमिति यावद्विमृशति, तावद् द्वारि समागतः स उच्चैर्धर्मलाभमवदत् । तच्छ्रुत्वा तयोक्तम्- भो मुने ! अत्र धर्मलाभो नाऽपेक्ष्यते किन्त्वर्थलाभ एवेत्याकर्ण्य स तन्मुखचन्द्रं वीक्ष्य मनसि विकृतिमुद्भावयन्नवोचत-अयि लावण्यवारिधे ! त्वं कीदृशमर्थमीहसे ? तं प्रकाशं वद, तयोक्तम्- रत्नकम्बलं वाञ्छामि । मुनिनोक्तम्-तत्कुत्र लभ्यते ? तयोक्तम्- तदत्र न मिलति । नेपालदेशे भवादृशे मुनये राजा सपादलक्षमूल्यं तद्वितरति । तवापि मया सह रिरंसा

चेत्तत्र याहि, रत्नकम्बलमानीय मे देहि ।

अथैतदाकर्ण्य सिंहगुहावासी साधुश्चातुर्मास्येऽपि महता कष्टेन नेपालराजपार्श्वमगात् । तं धर्मलाभाशिषाऽवर्धयत्, राजापि तस्मै सपादलक्षस्य रत्नकम्बलमदात् । तल्लात्वा परावर्तमानः स पथक्रमेण चौरपल्लीमागतः । तत्र चौरा यत्र तत्र तिष्ठन्ति परं पिञ्जरस्थ एकः शुकः शाखाश्रितोऽस्ति । धनमादाय यदा तत्र कोऽप्यागच्छति तदा स कीरस्तान् सूचयति । तदा ते समेत्य तं पान्थं विलुण्टयन्ति । सोऽपि तत्र यदाऽऽयात्तदा स कीरोऽवक्- भो भोश्चौरा ! धावत धावत कश्चन सपादलक्षीयरत्नकम्बलमादाय गच्छति । तन्निशम्य तत्र समेतास्ते तस्य तल्लुण्टन्ति स्म ।

ततः स विलक्षवदनीभवन् पुनस्तत्रागत्य राज्ञे शुभाशिषं ददौ । राज्ञोपलक्षितः पुनरागमनकारणञ्च पृष्टः, सोऽवक्-पुरा दत्तं तत्मार्गे-ऽपाहरन् । तदनु भूभुजा पुनरपि लक्षमूल्यकं रत्नकम्बलं वंशदण्डा-न्तर्निक्षिप्य दत्तम् ।

तल्लात्वा तत्रागते तस्मिन् कीरः पूर्ववन्न्यगदत्- भो भोः ! धावत धावत शीघ्रमत्रागच्छत, लक्षधनी कोऽपि समेतोऽस्ति । तन्निशम्य तत्क्षणं समेत्य चौरास्तत्पार्श्वे धनं विलोकितवन्तो यदा नैव लब्धं तदा ते तमेवमूचुः- भो ! एतत्कीरवचः कदापि मिथ्या नाभूदद्यैव वितथं भवति । अतस्त्वं सत्यं वद, तत्ते वयं नाऽपहरिष्याम इति श्रुत्वा तेन मुनिना वंशान्तः क्षिप्तं तद्दर्शितम् । तदालोक्य कीरवचसि प्रामाण्यं दधतस्ते लुण्टाकाः पुरादत्तवचनतया नाऽपाहरन् ।

अथ स ततो निर्गच्छंश्चतुर्मासान्ते तद्गणिकालयमागात् ।

तयोक्तम्- भो ! आनीतं, तदा मुनिराख्यदानीतं, तयोक्तम्- तर्हि दीयताम् । अथ स गणिकायै तदार्पयत्साऽपि तल्लात्वा तदैव स्नात्वा तेनाऽशेषाङ्गं प्रोञ्छिय पश्यति मुनौ तदशुचिस्थाने प्रक्षिप्तवती । तदसमञ्जसं मत्वा तां निजदारामिव कुपितो जगाद-अरे प्रचण्डे रण्डे ! गतभाग्ये ! त्वयेदं किमकारि ? यदमूल्यं दुष्प्राप्यमेतदशुचिस्थानके तुच्छमिव क्षिप्तम् । मया तु महता कष्टेन चातुर्मासेऽपि वारद्वयं तत्र गत्वा तदानीतम् । नूनमेतत्कर्मणा महामूर्खाणां मूर्धन्या नष्टभाग्या च लक्ष्यसे ।

तदा सा तमेवमवादीत्- भो मुने ! नाऽहं मूर्खाऽस्मि किन्तु महाविज्ञा महाभाग्यवती चास्मि । परं त्वमेव सकलमहामूढनरनायकः प्रतीतो भवसि, त्वत्तोऽधिकं भाग्यहीनमन्यं कमपि नैव वेद्मि, यतः स्थूलिभद्रप्रतिष्ठामसहमानः स इव त्वमत्रागाः । स मासचतुष्टयं मयाभ्यर्थितोऽपि किञ्चिदपि विकारं न प्रापत् । त्वन्तु तत्कालमेव मदास्यदर्शनमात्रेणैव विषयभोगाभिलाषी श्ववदभूः । किञ्च लक्षमूल्य-कैतद्रत्नकम्बलावज्ञया मामेवमुपालभसे । परं स्वयं पञ्चमहाव्रतात्मकचिन्तामणिरत्नं गमयन् किन्न लज्जसे ? धिक्त्वां यत्संयमीभूय चातुर्मासमध्ये संमूच्छर्ज्यजीवान् विराधयन्, विषयरिरंसामधिश्रयन् नेपालं वारद्वयं गत्वा, तल्लात्वाऽत्रागतोऽसि, पुनरीदृशस्त्वं मदनमातङ्गकुम्भभेदनक्षमस्य केसरिणः स्थूलिभद्रस्योपरि द्वेषं वहन्नूनं शृगालायसे ।

अथोपकोशावेश्याया ईदृशैराक्षेपवाक्यैः प्रतिबुद्धः स तदैव स्थूलिभद्रपार्श्वमागत्य स्वापराधं क्षामितवान् । गुरुपार्श्वे जातमतिचारं समालोच्य पुनः संयमाराधने तत्परोऽभवत् ।

भो भो ! लोकाः ! पश्यत, विदाङ्कुरुत, यद्वेश्यासंगमात्कियती हानिर्भवतीति सिंहगुहावासी संयतोऽपि सञ्जाततत्संगमेच्छुश्चिन्तामणिमिव पञ्चमहाव्रतमत्यजत्। चतुर्मास्यामतिदूरं नेपालमगमत्षट्कायिकजीवजातमहन्, सचित्तं वारि तत्कर्दमादिकं स्पृष्टवान्। लुण्टाकेन विलुण्टितः पुनस्तत्र गत्वा नृपं याचित्वा प्राप्तं रत्नकम्बलं वेश्यायै ददौ। तथापि तयावज्ञातो निर्भर्त्सितः स मुनिरपि। अतो वेश्यासङ्गमेच्छापि कदापि न कर्त्तव्या सद्भिस्तर्हि गमनन्तु सुतरां महानिष्टत्वान्निषिद्धमेव।

अथ १६-आखेटकव्यसन-विषये-

मृगयाने तज जीव घात जे,
सघले जीव दया सदा भजे।
मृगयाथी दुःख जे लह्यां नवा,
हरि रामादि नरेन्द्र जेहवा ॥२७॥

भो लोकाः ! प्राणिप्राणविघातकरीमृगया भ्रमादपि न कर्त्तव्या किन्तु जीवरक्षार्थं सदैव यतितव्यम्। मृगयाव्यसनतः पुरा रामकृष्णादयो[1] महान्तोऽपि बहूनि दुःखानि प्रपेदिरे। तत्त्यागतः संयतिराजवत्कियन्तः सन्तः सुखमापुः। एतत्कथोत्तराध्ययनसूत्रीयाष्टादशाध्याये विस्तीर्णा विद्यतेऽत्र तु संक्षिप्तैव प्रसङ्गान्निगद्यते ॥२८॥



1. महाभारत, वाल्मिकीरामायण के अनुसार।

१६-अथाऽऽखेटव्यसनत्यागे लब्धमुक्तेः संयतिनृपस्य कथा

यथा-संयतिनामा कश्चिद्राजा मृगयाव्यसनी बभूव । स चैकदा मृगयायै वनमगात्तत्र मृगं विलोक्य यावद्बाणं मोक्तुमैच्छत्तावत्स लक्ष्यो नष्ट्वा कायोत्सर्गध्याने स्थितस्य गर्दभमुनेश्चरणोपान्ते-ऽतिष्ठत्तावदेव तन्मुक्तोऽपि शरस्तस्याग्रेऽपतत् ।

तदनु द्रुतं तत्रागतो राजा मुनिमालोक्य शप्स्यतीति भीत्या तं ननाम जगाद च- महात्मन् ! ममाऽभयं देहि । अहमन्यो न किन्त्वेतन्नगरीनृपः संयतिनामाऽस्मि, ममाऽऽश्रयेण बहवो लोका जीवन्ति । अतो मयि प्रसीद अपराधश्च क्षम्यताम् । साधुरगदत्-राजन् ! यथा निजप्राणानवसि तथान्यानपि जीवानव । यथा त्वं जिजीविषसि तथैवाऽन्ये जीवा अपि जीवितुमिच्छन्ति, मर्तुङ्केऽपि न चेष्टन्ते । अतस्त्वयापि दीनेभ्यो जीवेभ्योऽभयं प्रदेयम् । तवाऽभयमित्थमेव स्यादिति साधुभाषणमाकर्ण्य प्रबुद्धो राजा षट्कायजीवजातेभ्योऽभयं प्रदाय तत्पार्श्वे चारित्रं गृहीत्वा ततो विजह्रे ।

मार्गे कश्चिदेकः क्षत्रियः साधुरमिलत्तमपृच्छत्संयतिराजर्षिः - भोः! त्वङ्कोऽसि ? तेनोक्तम्- किं त्वमेवात्र शासने साधुरभूरन्यो नास्ति ? एवं माऽमंस्थाः । इह शासने भरतचक्रवर्तिसनत्कुमार-शान्तिनाथप्रमुखा अनेके महापुरुषा अभूवन् । तान् किन्न जानासि ? तद्वाक्यश्रवणेन प्रतिबुद्धः स चारित्रेऽतिदाढ्यं नयमानो धर्ममाराधयन् देहं त्यक्त्वा मुक्तिमियाय । हे प्राणिनः ! पश्यत, संयतिनामाऽसौ नरपतिराखेटकत्यागेन मोक्षमाप्तवान् । असाविव मृगयां विहायाऽन्येऽपि

मोक्षश्रियं लभन्ताम् ।

अथ १७-परस्त्रीगमन-विषयेचोपाई-

स्वर्गसौख्य भणि जो मन आशा,
छांडे तो परनारि विलासा ।
जेण एण निज जन्म दुःख ए,
सर्वथा न परलोक सुक्ख ए ॥२९॥

भो लोका ! यदि यूयं स्वर्गीयसुखसन्ततिमभिलषथ तर्हि परदारागमनं स्वप्नेऽपि नो चिन्तयत । यो हि परदारान् वाञ्छति स पापीयानस्मिन्नेव लोके यावज्जीवं दुःखं भुङ्क्ते परत्र च दुर्गतिमुपैति । तथाहि-त्रिभुवनविजेतापि दशाननः परदारारिरंसार्थी भूत्वा सीतामपहृत्य लङ्कामनैषीत् । तदनु तेन पापेन तस्य दशाननानि रणाङ्गणे रामेण छिन्नानि । मृतः संश्चतुर्थं नरकं ययौ ॥२६॥

अथैकेन श्लोकेनैतत्सप्तव्यसनवतां यज्जातं तदाह-शार्दूलविक्रीडित-छन्दसि-

जूआ खेलण पाण्डवा वन भमे मद्ये बली द्वारिका,
मांसे श्रेणिक नारकी दुख लहे बांध्या नर के चौरिका ?।
आखेटे दशरथ पुत्र विरही केवन्न वेश्या घरे,
लंका स्वामि परत्रिया रसरमे जे ए तजे ते तरे ॥३०॥

द्यूतव्यसनात्पञ्चापि पाण्डवा द्वादशवर्षाणि वने न्यवात्सुः १, मद्यपानव्यसनतो द्वारिकापुरी सलोका सपरिच्छदा सन्दग्धा २, (सम्यक्त्वप्राप्ति पूर्वं) मांसाशनव्यसनाच्छ्रेणिको नृपो नरकम्प्राप ३, चौर्यव्यसनतो रोहिणीनामा प्रसिद्धो महाचौरो निगृहीतः ४,

आखेटकव्यसनाद्रामो निजप्रियया स्त्रिया वियुक्तोऽभूत् (जैनेतरमतानुसारेण) ५, वेश्यागमनव्यसनाद्रङ्कीभूय कृतपुण्याभिधः श्रेष्ठी महादुःखी बभूव ६, परस्त्रीलाम्पट्यव्यसनाद्रावणश्चतुर्थनरकवासी जज्ञे ७, अत एतानि सप्तव्यसनानि दूरतः परिहर्तव्यानि श्रेयोऽर्थिभिः सकलैर्भव्यजनैरपि ॥३०॥

अथ १८-कीर्ति-विषये, मालिनी-छन्दसि-

दिशि दिशि पसरन्ती चन्द्रमा ज्योति जैसी,
श्रवण सुनत लागे जाणे मीठी सुधा सी ।
निशिदिन जन गाये राम राजिंद जेवी,
इणि कलि बहु पुण्ये पामिये कीर्ति एवी ॥३१॥

इह संसारे चन्द्रकलेव समुज्ज्वला, सकलाशाप्रसृता रामचन्द्रस्येव दिवानिशं लोकैर्गीयमाना सुकीर्तिः पुण्यवतामेव समुद्भवति । ईदृशीं सुकीर्तिं भीमोशाहमहेभ्यस्तत्पत्नी च जनयामास ।

१७- अथ सुकीर्तिविषये भीमोशाहस्य कथानकम्-

यथा कश्चिद्भीमोशाहनामा वणिक्कुबेर इव समृद्धिमान् सदैव दानधर्मं वितनुते । भट्टभोजकाद्यर्थिभ्यो यथेच्छं द्रव्यादिकं ददाति । इत्थं सर्वत्र प्रसृतां तत्कीर्तिमाकर्ण्य कश्चिदेकश्चारणस्तत्रागात्तमागतं वीक्ष्य तत्सेवकोऽवदत्- भोश्चारण ! श्रेष्ठी ग्रामान्तरे तिष्ठति । तद्वचसाऽन्तर्विदूयमानः स दध्यौ- श्रेष्ठी यदि न मिलितस्तर्हि तत्पत्नीमेव मिलेयम् । सा कीदृशी वर्तते तदपि ज्ञास्यामि, इति विमृश्य श्रेष्ठिने

शुभाशिषं वदंस्तदङ्गणे समेत्य तस्थौ । तद्भार्यया दापितासने स उपाविशत् । या तद्घोटकी तस्या अप्यन्नतृणादिकमदापयत् ।

अथ सादरेणं तं चारणं मिष्टान्नं सम्भोज्य तत्पत्नी तमेवं जगाद- सम्प्रति श्रेष्ठी गृहे नास्ति, यदागमिष्यति तदा त्वां सत्करिष्यति । तावदहं ते पर्णवीटिकां वितरामि तां सहर्षेण गृहाण, चारणोऽवददेवमस्तु । अथ सा सुरत्नजटितं बहुमूल्यं कर्णाभरणं पर्णवीटिकायां निधाय तस्मै ददौ । स तां लात्वा तस्यै चाशिषं ददानः प्रतस्थे । बहिरागतः स वीटिकां गुर्वीं ज्ञात्वा समुघाटितवान्। तत्र प्रोज्ज्वलद्रत्नं महार्हं निरीक्ष्य पुनस्तस्या अन्तिकमाजगाम तदैवमभाषत-

"जे पण सुवन्नह रयण की चुन्नह, माहिं मेल्यो फोफलवन्नह ।
अवर राय जो मांगू सोल्लह, तोहि न पहुंचे भीमतंबोल्लह" ॥१॥

इति गाथां पठित्वा तदैव स प्रतिज्ञामकरोत्-यदद्यप्रभृति भीमोशाहश्रेष्ठिनं विना कमप्यन्यं न याचिष्ये, इत्थं तत्कीर्तिः सर्वासु दिक्षु प्रससार । एवं स्वकीर्तिपताकाप्रसारणेच्छावद्भिः सज्जनैरन्यैरपि तथाचरणीयं यथा तस्येव सुकीर्तिः सर्वत्र लोके प्रथेत ।

अथ १९-मन्त्रि-विषये-

सकल व्यसन वारे स्वामि सूं भक्ति धारे,
स्वपरहित वधारे राजना काज सारे ।
अनय नय विचारे क्षुद्रता दूर वारे,
निज सुत जिम धारे राज्य-लक्ष्मी वधारे ॥३२॥

कीदृशेन प्रधानेन भाव्यमित्युपदिशति-सन्त्यक्तसप्तव्यसनकः, स्वस्वामिभक्तः, स्वस्य परेषाञ्च हितचिन्तको, राज्यकार्यकरणे दक्षिणः,

योऽन्यायं कदापि कर्तुं नार्हति, सदाचारनिरतः, पुत्रार्थं पितेव, सदैव सर्वतो राज्यलक्ष्मीं वर्धयेत, प्रजाश्च पालयेदीदृग्गुणविशिष्ट एव प्रधानतामर्हति यथाऽभयकुमारादिरभूत् ।

१८-अथ प्रधानपदे धीमतोऽभयकुमारमन्त्रिणः कथा-

यथा-राजगृहनगरे राजा प्रसेनजितो वर्तते । स एकदा शतपुत्राणां मध्ये परीक्षया श्रेणिकं राज्यार्हं मत्वाऽस्य कोऽप्यनिष्टं मा कार्षीदिति धिया स्वदेशं त्यक्त्वा देशान्तरे यत्र कुत्रापि स्थातुं तमादिदेश । सोऽपि सहर्षं पितुरादेशं शिरसाऽवधार्य तदैव ततो निर्गत्य कियता दिनेन सोईनगरमाययौ ।

तत्र च धनावहश्रेष्ठिनो हट्टाग्रे समुपाविशत्तदा स आपणभवनं संमार्ज्य तद्रजांसि बहिर्निक्षेप्तुं लग्नः । तदालोक्य तत्रोपविष्टः श्रेणिको व्यमृशत्-अहो ! किमसौ मतिक्षिप्तो यदेतदतिमहार्घाः पीतमृत्तिकाः कनकाभाः (तेजमतुरीः) प्रक्षिपति । अतस्तमवदत्- भोः श्रेष्ठिन् ! एतानि रजांसि गृहान्तः स्थापय । सत्यवसरे समुपयोक्ष्यन्ते, तद्योग्यवचनेन तं योग्यं मत्वा निजालयमनयत् । श्रेणिकस्तद्गृहे गोपालकनाम्ना प्रसिद्धो भवन्नतिष्ठत् । कियत्समयानन्तरं स श्रेष्ठी तस्मै निजपुत्रीं सुनन्दां सुविवाहविधिना ददौ । तया सह भोगं भुञ्जानो गोपालकः श्रेष्ठिन आपणीयक्रयविक्रयाद्यायव्ययौ लिखन् सुखेन दिनानि गमयन्नासीत् ।

अथैकदा तत्र नगरे कश्चन वणझारः सोपस्कराणां भारवाहिक-वृषभानां सपादलक्षं लात्वा तत्रागात् । स प्रतिहट्टं तेजमतुरीति

भाषाप्रसिद्धां क्रेतुमगमत्परं कुत्रापि तेन सा न लब्धा। तदा स तत्रत्य-नृपमुपहारीकृत्य प्रार्थितवान्-राजन् ! मम तेजमतुरीमृण्मयाऽपेक्षा वर्तते, प्रतिहट्टं सा मार्गिता परं कुत्रापि न प्राप्ता। तच्छ्रुत्वा तदैव तदर्थं नगरे सर्वत्र पटहो वादितो राज्ञा, परं कोऽपि तं नाऽस्पृशत्तत्रावसरे गोपालकेन जामात्रा प्रेरितो धनावहश्रेष्ठी पटहं पस्पर्श।

तदनु तस्मै वणझारभाषाप्रसिद्धाय स गोपालकः श्रेष्ठिनः समक्षं तामेव तेजमतुरीमदापयत्। तदा श्रेष्ठी जहर्ष व्यचिन्तयच्च-अहो ! पुराहमेतद्रजोधिया प्रक्षेप्तुं लग्नः। तत एवाऽद्य ममेयान् लाभो जातोऽतो धन्यो मतिमान् मे जामाता येन वारितः पुरा। तदानीं तेन प्रतिनगरं पर्यटता वणझारेण दृष्टपूर्वः श्रेणिकः समुपलक्षितः।

अथ तेजमतुरीं लात्वा स निजस्थानमागात्। कियद्दिनानन्तरं स राजगृहं कार्यवशादागत्य श्रेणिकं शोधयन्तं राजानमवदत्- हे प्रभो ! मया श्रेणिकः कुमारः सोईग्रामे धनावहश्रेष्ठिन आपणे दृष्टः कुशली वर्तते। तन्निशम्य राजा नितरां प्रामोदत। इतश्च श्रेणिक-कुमारपत्नी गर्भवती जाता तस्या अभयदानदोहद उत्पेदे। ततः स तत्रत्यनृपाय रत्नाद्युपहारं दत्त्वा तदीयसाहाय्यतः स्वपत्न्या दोहदमपूरयत्।

अथैकदा राजगृहनगरात्प्रसेनजितनृपेण प्रेषितो दूतस्तत्रागत्य श्रेणिकं न्यगदत्- भोः कुमार ! राजा वृद्धो जातस्तुभ्यं राज्यं दित्सुस्त्वां सत्वरं दिदृक्षते। अथ सगर्भां तां सुनन्दां प्रेयसीं तत्रैव मुक्त्वा तदञ्चले मगधदेशीयराजगृहनगरे निवसामीति लिखित्वा श्रेणिकः पितुरन्तिकमागतः।

अथ प्रसेनजितो राजा शुभे मुहूर्ते महामहेन श्रेणिकस्य

राज्याभिषेकं कृतवान् । परं राज्यसुखमनुभवन्नपि पूर्वप्रेयसीं विना तन्मनः सुखं न धत्ते । श्रेणिकगमनानन्तरं तत्पत्नी पूर्णे मासे सति समस्तसुपुण्यबुद्धिकलानिधानं सुपुत्रं सुषुवे । तस्य च दोहदानुसारादभयकुमार इति नाम धृतवती । स श्रेष्ठी तं दौहित्रं कलाचार्यतः सकलाः कलाः सर्वाश्च विद्या अशिक्षयत् ।

अथ द्वादशवार्षिकः सोऽन्यदा मातरमपृच्छत्- हे मातः ! मम पितुर्नाम किम् ? कुत्र च स गतोऽस्ति ? येनाद्यावधि तन्मुखावलोकनमपि मे नाभूत् । अथैतद् वृत्तमाद्योपान्तं माता तं न्यवदत् । अथ मातामहादेशेन मात्रा सहाऽभयकुमारो राजगृहनगरमागत्य कुत्राप्यारामे तस्थौ । तत्रावसरे राजा सुयोग्यमन्त्रिपरीक्षायै कुत्रचित्कूपे जलविहीने स्वमुद्रिकां न्यस्य गदितवान्- यो हि कूपमुखे तिष्ठन्मत्करपतितां मुद्रिकां हस्तेनादाय कराङ्गुलौ परिधास्यति स मन्त्रिपदं प्राप्स्यति । इति हेतोरनेके मतिमन्तो जनास्तत्र कूपे मिलिता नानोपायं विदधिरे, परं कोऽपि तथाकर्त्तुं नाऽशक्नोत् ।

अथ मातरं तत्रोपवने संस्थाप्य नगरं द्रष्टुमना अभयकुमार इतस्ततः परिभ्रमन् कूपोपर्यागत्य लोकमुखात्तत्स्वरूपं विज्ञाय भृत्येन गोमयमानाय्य कूपान्तर्मुद्रिकोपरि निक्षिप्तवान् । तदुपरि ज्वलदङ्गारं न्यासितम् । तापयोगाद् गोमयं परिशुष्कं विधाय समीपवर्तिकूपवारिणा तं कूपं भृत्वा गोमयपिण्डसंसक्तामुपर्यागतां तां मुद्रिकां गोमयान्निष्कासितवान् कराङ्गुलौ च निधाय सदसि समागत्य श्रेणिकराजानं प्रणनाम ।

स नृपोऽद्भुतमपरिचितं रूपेणातिमनोहरं तं बालकं विलोक्य

तन्नामग्रामादिकं पप्रच्छ । अभयकुमार आद्योपान्तं स्ववृत्तमाचचक्षे । तदनु साद्दरं तां निजप्रेयसीं निजसदनं प्रावेशयद् अभयकुमारश्च मन्त्रिपदे न्ययुङ्क्त । ततःप्रभृति सकलं राज्यभारं गृहीत्वा न्यायतः प्रजाः पालयन् सुखमन्वभूदभयकुमारः । नृपोऽपि मन्त्रिणि महामतिमति तस्मिन्नभयकुमारे सकलराज्यकार्यधुरन्धरे सति निजप्रेयस्या सह भोगं भुञ्जानः सुखी बभूव । सर्वत्राऽभयकुमारस्य सुकीर्तिः प्रससार।

अस्मिन्नवसरे तत्र नगरे कुत्रचिदुपवने वीरजिनेश्वरो भगवानाययौ, देवैः समवसरणमकारि । तत्रोपविष्टः प्रभुर्देशनामारब्धवान् । तदागमनवर्धापनं वनपालको राज्ञेऽददत् । तन्निशम्य मुदितो नृपस्तस्मै घनं धनं प्रायच्छत्तदैवाऽभयकुमारादिपरिवारैः सह श्रेणिको नरनायकस्तं वन्दितुं तत्रोद्याने समायातस्तं वन्दित्वा देशनां शुश्राव । देशनाश्रवणतः संसारमसारं जानन् समुत्पन्नवैराग्योऽभयकुमारो दीक्षायै नृपमाज्ञामयाचत ।

हे राजन् ! इह संसारे धर्म एव सारोऽस्ति । अतोऽहं दीक्षां जिघृक्षामि तदनुज्ञां देहि । नृपोऽवक्- हे वत्स ! इदानीं तिष्ठ यदाऽहं त्वां व्रजेति कथयेयं तदा त्वया गन्तव्यमिति तातवचः श्रुत्वा विनयेनाङ्गीकृत्य स तस्थौ । कियत्यपि गते काले पुनस्तत्र चतुर्दशसहस्रमुनिमण्डलीसहितः श्रीवीरप्रभुः समायातः ।

तत्रैकः साधुर्नदीतीरे कायोत्सर्गध्यानेऽतिष्ठत् । अथ पौषमासे प्रवर्धमानशैत्ये निशि कथञ्चिन्निरावरणं चेलणाराज्ञ्याः करपद्ममतिशीतलमभूत् । तदर्दिता सा दिने महावीरप्रभुमभिवन्द्य परावर्तमाना नदीतीरे यं साधुमपश्यत्तत्स्मृत्या जगौ- "अहो ! कथमेतस्मिन्

समये स तत्र तिष्ठेत्'' सुभावेनेत्याद्यालपन्तीं तामसतीं मन्यमानः श्रेणिकनृपः शशङ्के । नूनमेषा कमपि जारं निषेवते येन तं स्मृत्वा स्वप्नेऽप्येषा वदत्येवम् ।

अथ कथमपि रजनीं व्यतीत्य प्रभातेऽभयकुमारमाकार्य नृपस्तमादिष्टवानेवम्-भोः कुमार ! त्वमिदानीमेवान्तःपुरमशेषं दाहय। अथैवं कुमारमादिश्य राजा वीरभगवन्तं वन्दितुमगात् । इतः कुमारेणाचिन्ति- किञ्जातं ? येन राजैवमद्याऽऽदिशतीति सुबुद्धया किञ्चिद्विचार्य तत्राऽन्तःपुरे समागतः, स प्रथमं सर्वा राज्ञी भवनान्तरे संस्थाप्य तदन्तःपुरमदहत् ।

इतः स राजा श्रीवीरजिनमभिवन्द्य पप्रच्छ- भगवन् ! मम महाशङ्का समुदपद्यत, सा सत्या मिथ्या वेति बुभुत्सुस्त्वां पृच्छामि यथा-मम राज्ञी शीलवती वर्तते न वा ? वीरेणोक्तम्- राजन् ! तवैषा शङ्का मिथ्या वर्तते । यतश्चेटकराजस्य सप्तापि पुत्र्यः शीलवत्यः सन्ति। अथैवमाकर्ण्य तत्कालमेव प्रभुं नमस्कृत्य मन्त्रिणः कथितमादेशं निवर्तयितुं राजा त्वरया गृहमाजगाम मार्गे च कुमारमद्राक्षीत् ।

तमपृच्छत्किं भोः ! यदादिष्टमन्तःपुरं दग्धव्यमिति तत्कृतन्तु न वा ? कुमारोऽवदत्- हे महाराज ! भवतामादेशकरणे को विलम्बेत? यथादिष्टं तथाकृतम् । तच्छ्रुत्वा क्रुद्धो राजाऽवदद्-धिक्त्वामविचार्य कार्यकारिणम् । अहो ! ईदृशाऽन्यायं कृत्वा लज्जसे कथं नेत्याश्चर्यं लगति। गच्छ, मम मुखं मा दर्शय, इति वदति नृपे कुमार आह- हे पितः पुरा मे प्रव्रज्योत्सुकस्य त्वमकथयः यदा व्रजेति कथयामि तदा गन्तव्यम् । तदद्य जातं ते वचनं तेन महान्मे हर्षोऽभूत्, अतस्त्वां

प्रणमामि क्षाम्यो मेऽपराध इत्यानमन् पितरं कुमारो भगवदन्तिकं दीक्षार्थी गच्छन् राजानमुच्चैर्जगौ। हे पितः ! तेन दुःखेन स्वात्मनि मा खिद्यस्व, मम मातृणां सर्वासां कुशलक्षेममस्ति । तच्छ्रुत्वा मुदितो राजा तं निवर्तयितुमधिकमयतत, परं संसारमसारं जानानः स नैव न्यवर्तत । तदैव जिनवीरान्तिकमेत्य दीक्षामग्रहीत् । यथावत्संयमं परिपाल्य प्रान्ते शुभपरिणामेन त्यक्तदेहोऽनुत्तरविमाने समुत्पेदे । ततश्च्युत्वा महाविदेहेऽवतीर्य मोक्षमधिगमिष्यति ।

अथ २०-कला-विषये-

चतुर कर कलानो संग्रहो सौख्यकारी,
इण गुण जिण लाधी द्रौण सम्पत्ति सारी ।
त्रिपुरविजयकर्त्ता जे कलाने प्रसंगे,
हिमकर मन रंगे ले धर्यो उत्तमाङ्गे ॥३२॥

हे प्राणिनः ! सुखेच्छा चेत्कलाविज्ञानं कुरुत । हे चतुर ! इह हि कलावतां प्राणिनामसीमानि सुखानि सम्पदश्च सकला अनायासेन जायन्ते। पश्यतद्रौणाचार्यस्य कलाविज्ञानयोगात्कीदृशी सम्पत्तिर्जाता कियती च तदीया सुकीर्तिर्लोके प्रथितेति । तथा महादेवः पुरा कलायोगाच्छिरसि वारि दधत्त्रिपुरं व्यजेष्ट, एवं जैनेतरग्रन्थेऽस्ति । तत एव समस्तं तद् बोधनीयम् ॥३२॥

१९-अथ कलावद्द्रौणाचार्याऽर्जुनभिल्लानां कथानकम्-

यथा-कलावान् द्रोणाचार्यः पार्थं बाणावलीकलामशेषाम-शिक्षयत् । मादृशो धनुर्धरोऽन्यः कोऽपि मास्त्विति धियाऽर्जुनो

गुरुमवोचत- हे गुरो ! मामिवाऽन्यं कमपि धनुर्विद्यां मा शिक्षयस्तेनापि तत्प्रतिपन्नम् ।

अन्यदा कश्चिद्भिल्लः समागत्य द्रोणगुरुं महतादरेणाऽवोचत - हे गुरो ! मामपि धनुर्विद्यां शिक्षय । द्रोणोऽवक्-त्वं नीचोऽसि ततोऽहं त्वां न शिक्षयामि । तदनु स कुत्रचित्पर्वते गत्वा मृण्मयीं द्रोणाचार्यप्रतिमां स्थापितवान् । प्रत्यहं तां द्रोणमूर्तिं विधिना सम्पूज्य नमस्कृत्या-ऽभ्यार्थयत- हे द्रोणगुरो ! त्वं मां धनुर्विद्यां शिक्षय । त्वत्प्रसादादागमिष्यति सकला कलेति संप्रार्थ्य तं कस्यचिदेकस्याऽऽमलकीतरोः सूक्ष्म-पत्राणि लक्ष्यीकृत्य बाणेनाऽविध्यत् । इत्थं प्रत्यहं शिक्षमाणस्य भिल्लस्य षड्भिर्मासैः सकला कला स्वभ्यस्ताऽभूत्तत्तरोरेकमपि पत्रमविद्धं नावाशिषत् ।

अथैकदा पार्थस्तत्रागत्य तमपश्यत्तेन चमत्कृतः पार्थश्चेतसि दध्यौ- अहो ! केनैतानि तरुपत्राणि सकलानि शरैर्विद्धानि ? मत्परोक्षे द्रोणाचार्यः कमप्यन्यमशिक्षयत्किमेवं यावदशङ्कत तावत्तत्र स भिल्ल एवाऽऽगतस्तेन पृष्टः- किम्भोः ! त्वयैतानि दलानि विद्धानि? वनेचरोऽवदन्मयैव । पार्थः पुनरपृच्छत्- भोः ! तव गुरुः कोऽस्ति ? तेनोक्तम्- द्रोणाचार्यः ।

अथ सोऽर्जुनस्तं भिल्लं द्रोणान्तिकमनयत्कथितञ्च- भो गुरो! त्वमेतस्य भिल्लस्य धनुर्विद्यामशिक्षयः किम् ? सोऽवक्- हे पार्थ ! अहमेनं किमपि नाशिक्षयम् । जानाम्यपि न कोऽस्तीति, तदाऽर्जुनो-ऽपृच्छत्- भोः ! सत्यं वद, तवैतत्कला-शिक्षकः कोऽस्तीति ? तेनोक्तम्- हे अर्जुन ! अलीकमहं न वदामि । नूनं ममैष द्रोणाचार्य एव शिक्षकोऽस्ति ।

तदार्जुनो द्रोणमवदत्- गुरो ! शृणोषि ? असौ किम्वक्तीति ? अथैतदाकर्ण्य भिल्लमुद्दिश्य द्रोणोऽवदत्- अरे नीच ! मुधा मन्नाम किं गह्णासि ? भिल्लोऽवदद्यदि मिथ्या मनुषे तदाऽऽगच्छ, द्रोणगुरुं दर्शयामि।

अथ तेन सह द्रोणार्जुनौ तत्रागच्छताम् । तत्र तौ भिल्लोऽवदद्- भो ! यस्मादहमेनां कलामशिक्षे, तं द्रोणाचार्यं युवां पश्यतम् । तन्मूर्तिमालोक्य तौ मिथोऽवोचताम्-नूनमेष श्रद्धालुरस्ति । भक्तियोगादेवाऽस्येदृशी कला जाता । तत्राऽवसरे द्रोणोऽवदद्- भोः पार्थ ! अत्र को मे दोषः ? अनेन तु गुरुभक्तिं विधाय स्वयमेव धनुर्विद्यानैपुण्यमवाप्तम् । तदनु तौ स्वस्थानमाजग्मतुः । इत्थमन्योऽपि यः सत्यया गुरुभक्त्या कलां शिक्षिष्यते, तस्याऽपि विद्यावश्यं फलिष्यति ।

अथ २१-मूर्खता-विषये-

वचन रस न भेदे मूर्ख्यवार्ता न वेदे,
तिम कुवचन खेदे तेहने सीख जे दे ।
नृप शिर रज नाखी जेम मूर्ख्ये वहीने ।
हित कहत हणी ज्यूं वानरे सुग्रहीने ॥३३॥

अहो ! मूर्खश्चातुर्यभाषितरहस्यं किमपि न जानाति । अवसरोचितमुत्तरं न कर्त्तुं शक्नोति, परेषां शिक्षणमपि तस्मै न रोचते । यथा कश्चन महामूर्खो राज्ञः शिरसि धूलिमक्षिपत् । यथा वा सुगृहिका पक्षिणी कञ्चन वानरं हितमुपादिशत् । तदा स मूर्खस्तस्या आलयोन्मूलनमकरोदवधीच्च ताम् । हितकारिणं सज्जनमपि मूर्ख एवमेव कुरुते । एतदेव मूर्खदृष्टान्तेन स्पष्टीकरोति ॥३३॥



२०-अथ मूर्खतोपरि वणिक्पुत्रस्य कथा-

कश्चिदेको वणिक्पुत्रो जन्मतो महामूर्ख आसीत्कस्यापि हितोपदेशं न मन्यते। वस्तुनः साराऽसारतामपि नैव वेत्ति। सदैव निरङ्कुशो यथेच्छं जल्पन्कदाचिद्धसन्कदाचित्कलहेन दिनमतिवाहयति। स चैकदा मात्रैवं शिक्षितः- भोः पुत्र! सदा सर्वोच्चैराक्रोशता त्वया गन्तव्यम्। तथा सति यत्र तत्र समुपविष्टा हिंस्राः दुर्बला वा जीवा मार्गतोऽन्यत्र यास्यन्ति। ततःप्रभृति सर्वत्र तथैव कुर्वन् स व्रजति।

अथैकदा कोऽपि व्याधो बहून् पक्षिणः समवरुध्य क्वचिल्लीनस्तस्थिवान्। तावदुच्चैश्चीत्कारं कुर्वन् स मूर्खस्तत्राऽऽययौ। तदीयचीत्काररवमाकर्ण्य ते पक्षिणो द्रुतमेकदैव समुड्डीय पलायन्त[1]। तदा क्रुद्धो व्याधस्तं मूर्खमधिकं जघान। अथ तं मूर्खं विदित्वा स एवमशिक्षयत्- रे मूर्ख! त्वं सर्वत्र मौनमाधाय व्रज, यत्र यत्र यासि प्रच्छन्नं तिष्ठ।

इत्थं शिक्षितो बहुप्रार्थनया मुक्तः स क्वचित्तटाकमागत्य चौरवल्लीनस्तस्थौ। अथैनं वीक्षमाणः प्रत्यहमपह्नतवसनः कश्चिद्रजकश्चौरधिया तं गृहीत्वा बह्वताडयत्। असावपि मतिविकलं मत्वा तमत्यजदगदच्च- रे मूर्ख! एवं कदापि कुत्रापि मा तिष्ठ। यत्र कुत्र च त्वं याहि तत्र त्वया स्वल्पं भवत्विति वाच्यम्।

अथैतच्छिक्षामभ्यसन्नग्रे चलन् कस्यचिन्नगरस्य समीपमागत्याऽतिष्ठत्तत्रावसरे हालिकाः शुभमुहूर्त्ते शुभशकुनेन गृहान्निर्गत्य तत्र

1. परा + अय् धातु

क्षेत्रं क्रष्टुं लग्नाः, तदा तेषामग्रे तेन स्वल्पं भवत्विति मुहुरुचैरजल्पत्। ततः सर्वे कर्षका मिलित्वा भृशं तमताडयन्। अथ बहुप्रार्थितास्ते तं मुमुचुः कथितञ्चारे मतिहीन ! एवं मा वद सर्वत्र बहु भवत्वित्येव वक्तव्यम्।

अथैतत्पदं मुहुः स्मरन्नग्रे गत्वा कुतश्चिद् ग्रामाद्बहिः शवमादाय समागच्छतां पुंसामग्रे बहु भवतु बहु भवत्विति तेनोक्तम्। तदाकर्ण्य ते शववाहकास्तमतितरां ताडयामासुः। ततो मूर्खं ज्ञात्वाऽत्यजन्नवदँश्च– रे मूर्ख ! एवं मा भवतु कदापि कस्याऽपीति जल्प।

अथ ततोऽग्रे कञ्चन नगरमागतः स मूर्खः कस्यचन श्रेष्ठिनः पुत्रस्य विवाहोत्सवे धवलमाङ्गलिकगीतं वाद्यं नृत्यादिकं प्रारब्धमालोक्य तत्र स्थितानां लोकानां पुरत एवं मा भवत्विति महता स्वरेणाऽनेकधा बभाषे। तदमङ्गलमुच्चरन्तं तं द्वित्रा जना मिलित्वा यथेच्छं कुट्टितुं लग्नाः। अथ तदीयदीनवचनेन सदयास्ते मूर्खोऽयमिति ज्ञात्वा तत्यजुः शिक्षितश्च रे जड ! सदा सर्वेषामेवमस्त्विति ब्रूहि।

अथ ततो निर्गत्य कस्यचिद्राज्ञो द्वारि समेत्य तस्थौ। तस्मिन्नवसरेऽन्तःपुरे परस्परं कलहायमानौ राजानौ[1] आस्ताम्। तौ तमेवं सदा भवत्विति भाषमाणं वीक्षाञ्चक्राते। तदैव कुपितो राजा केनचित्पुंसा तं निजान्तिकमानाय्य ताडयामास। पश्चात्मूर्खधिया जातानुकम्पया राज्ञ्या मोचितः शिक्षितश्च–रे भाग्यहीन ! कुत्राऽपि गत्वा त्वया मौनमाश्रित्य स्थातव्यम्। यदा कोऽपि किञ्चित्पृच्छेत्तदा शनैःशनैः किञ्चिन्निगद्यमिति शिक्षयित्वा सा राज्ञी स्वपार्श्वे तं नियुङ्क्तवती।

1. राजा च राज्ञी चेति राजानो इति एकशेषः

अथैकदान्तःपुरेऽग्नौ लग्ने झटिति तच्छमनाय राजानं तद्वक्तुं सा तं प्राहिणोत्। स तु सभामागत्य तूष्णीमतिष्ठत्, कियत्कालानन्तरं राज्ञा पृष्टः स शनैः शनैस्तत्स्वरूपं कर्णे जगाद। तच्छ्रुत्वा कुपितो राजा तमाख्यत्- अरे मूर्ख! गृहे दह्यमानेऽत्राऽऽगत्य तदैवोच्चैः कथं न जगदिथ? रजांसि कथं नाग्नौ चिक्षेपिथ। अतःपरं त्वया धूम्रे दृष्टे सति सर्वत्र धूलिः प्रक्षेप्तव्या। इत्थं तस्मै शिक्षां दत्त्वा गृहमागत्य वह्निमशीशमत्।

अथाऽन्यदा राज्ञी स्नानानुलेपनादिकं विधाय वेणीं धूपयन्ती बभूव। तस्मिन्नवसरे स कुतश्चिदेत्य राज्ञ्याः शिरसि धूमं विलोक्य झटिति तत्र धूलिं प्रक्षिप्तवान्। तेन कर्मणाऽयोग्योऽयमिति मत्वा राजा तं निष्कासितवान्।

अतो हे नराः! ईदृशो मूर्खः सदा सर्वैरवज्ञायते। अतो वच्मि- सदा सर्वैः परमार्थं विदित्वा तदुचितं विधेयम्। शैशवे सर्वैरेव विद्याभ्यासे यतितव्यम्, अन्यथा यावज्जीवं मूर्खाः सन्तः क्लिश्यन्ति।

२१-अथ पुनरपि मूर्खतोपरि कपिसुगृहीपक्षिणोः कथा-

यथा-कदाचित्कुत्रचिद्वने शीतबाधया वेपमानं वानरमालोक्य कृतनीडस्था काचन सुगृही-पक्षिणी जगाद-

दो हत्था दो पाउरा, दो लोयण दो कन्न।
थर थर कंपे देहडी, कर घर रख्खवा तन्न ॥१॥ अपि च-

द्वौ हस्तौ द्वौ सुपादौ च, दृश्यते पुरुषाकृतिः।
शीतभीतिहरं मूढ!, गृहं किन्न करोषि भोः? ॥२॥

इत्यादि सुगृहीपक्षिण्योक्तमाकर्ण्य सञ्जातरोषः स कपिस्तदैव समुत्प्लुत्य तद्गृहमभाङ्क्षीत् । तदानीं तद्भीत्या नश्यन्ती सा तेनेत्थं भणिता-

सूचीमुखी दुराचारी, रे रे पण्डितमानिनि ! ।
असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृहभञ्जने ॥३॥

रे रण्डे ! त्वं मां मूर्खमशक्तमवेदीस्तत्फलं पश्य । अहो ! मूर्खाणां हितोपदेशोऽपि सतामनर्थाय भवति । अत उक्तम्-

उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे जने ।
पश्य वानरमूर्खेण, सुगृही निर्गृही कृतः ॥४॥

अतो वच्मि सद्भिरयोग्याय हितमपि नोपदेष्टव्यम् । यतो मूर्खोपदेशस्तेषामुपदेष्टृणामेवाऽनर्थाय जायते ।

अथ २२ लज्जा-विषये-

निज वचन निवाहे वाजि ज्यूं वाजि चाले,
व्रत तप कुलरीते मात ज्यूं लाज पाले ।
सकल गुण सुहावे लाज थी भावदेवे,
व्रत नियम धर्यो जे भाइ लज्जा प्रभावे ॥३४॥

इह लोके स एव श्लाघ्यो यो हि स्ववचनं नैत्येन पालयति । किञ्च- सुशिक्षिताश्ववत्सन्मार्ग एव सदा चलति । कुलस्य मर्यादां व्रतादिकञ्चानुसरति । यथा कश्चन भावदेवनामा लोकलज्जाभिया भवदेवेन भ्रात्रा सह दीक्षां लात्वा व्रतनियमादिकं सम्यगपालयत् । इत्थं लज्जयाऽपि शुभकार्यं सिध्यति, तस्मात्सता सदैवात्मनि सुधिया लज्जा कार्यैव ॥३४॥



२२-अथ लज्जया प्रव्रजितभावदेवस्य तद्भ्रातृभवदेवस्य कथा-

तथाहि-सुग्रीवनाम्नि नगरे भवदेवभावदेवनामानौ भ्रातरावभूतां, तयोर्मध्ये ज्यायान् भवदेवः प्रव्रजितोऽभवत् । स चैकदा तत्रैव नगरे मुनिभिः सह विहरन्नागात् । स गोचरीकृते नगरे भ्राम्यन् भ्रातुर्विवाहसमारोहमपश्यत् । तत्राऽऽगतं बन्धुमालोक्य भावदेवस्तत्संमुखमेत्य भक्तिस्नेहाभ्यामधिकं प्रत्यलाभयत् । तद्वोढुमशक्तं भवदेवमुनिं मत्वा सोऽवदत्-हे बन्धो ! एतावद्वहनेन ते क्लेशः स्यादतो ममापि पात्रादिकं देहि यत्त्वत्स्थाने सुखेन तन्नेष्यामि । इत्थं भ्रात्राभ्यर्थितः पात्रादिकं तस्मै ददौ ।

ततो द्वावपि भ्रातरौ चेलतुः। समीपमागच्छन्तौ तौ विलोक्याऽन्ये कियन्तः साधवस्तदभिमुखमागत्य जगदुः- अहो ! धन्योऽसि यदद्य नवपरिणीतमपि भ्रातरं प्रतिबोध्य साधुमकृथाः । तदाकर्ण्य भावदेवो मनसि दध्यौ- अहो ! किं कर्त्तव्यम् ? यदीतो गृहं यामि तर्हि मे भ्रातरमेते किलोपहसिष्यन्ति । मम मातरमपि निन्दिष्यन्तीत्यादि विमृश्य तदैव लज्जावशप्रतिबुद्धो भावदेवोऽपि दीक्षामग्रहीत् । भवदेवमुनिश्चारित्रं परिपाल्य स्वायुःक्षये मृत्वा देवोऽभवत् ।

अथ तस्मिन्मृते भावदेवेन व्यचिन्ति-मया स्वेच्छया दीक्षा न गृहीता, किन्तु बन्धुलज्जया स बन्धुः परलोकमगात् । गृहे च नवपरिणीता पत्न्यपि मन्मार्गं पश्यन्ती भविष्यति । अतो मया गृहं गन्तव्यमिति विचार्य साधुलिङ्गं त्यक्त्वा परावर्तमानः स तत्र नगरे समागत्य नगरसमीपे कुत्रचित्प्रासादे समुपाविशत् । तावत्तत्र केनापि हेतुना

समागता नागिलाख्या तत्पत्नी तं स्वभर्तारमुपलक्ष्य भ्रान्तचित्तं तं प्रतिबोध्य संयमे सुस्थिरमकरोत् ।

एष भावदेवो जम्बूस्वामिजीव आसीदसौ लज्जया दीक्षां ललौ। प्रान्तेऽपि स्त्रीवचसा स्थैर्यमासाद्य स्वात्मार्थमसाधयदतोऽन्यैरप्येवं लज्जा मन्तव्या । येन तस्य जनस्यापि सर्वेप्सितकार्यं सिध्यति ।

लक्ष्म्युपसंहारः, शालिनी-छन्दसि-

एवा जे जे रूयडा भाव राजे,
एणे विश्वे अर्थ थी तेह छाजे ।
एवुं जाणी सार ए सौख्य केरो,
ते धीरो जे अर्थ अर्जे भलेरो ॥३५॥

अतः हे प्राणिनः ! यूयं यदि सुखं वाञ्छथ तर्हि धीरतयाऽर्थोपार्जनं कुरुत । अर्थं विना महान्तोऽपि नैव शोभन्ते । तद्वैकल्ये रामचन्द्रमपि पथिकाः लुब्धकमजल्पन् । अतो लोके सर्वतः श्रेयसी सम्पत्तिरेवास्तीति मत्वा तदर्जनं सर्वैर्विधेयमेवेति ॥३५॥

अथ राज्याभिषेकावसरे पितुर्वनवासाऽऽदेशेन ससीतः सलक्ष्मणो रामो वनाय गच्छन् मार्गे केनापि पथिकेन व्यलोकि । तत्रावसरे तदन्येन पान्थेन स पृष्टः- किं भोः ! कोऽयमदृष्टपूर्वोऽनीदृक् पुरुषो गच्छन् वीक्ष्यते । तदाकर्ण्य तेनोक्तमसौ कोऽपि आखेटको भविष्यति ? तयोरीदृशं वचनमाकर्णयन् रामो जगाद-

"लखमण लखमी बाहिरा, नर लहुआ दीसंत ।
तुझ सरिखा धणुहर घरे, पंथी व्याध भणन्त ॥५॥

लक्ष्मीं विना महानपि पुमान्न शोभते, अतो लक्ष्मीरुपार्जनीया

सर्वैरिति विभाव्यम् ।



इति सर्वजीवहितेच्छुकेन पण्डित-श्रीकेसरविमलगणिना
भाषाकवितामयविरचितायां ततः
श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-साहित्यविशारद-विद्याभूषण-
श्रीमद्विजयमभूपेन्द्रसूरीश्वरेण सरलसरससंस्कृतसंकलितायां
सूक्तमुक्तावल्यां द्वितीयोऽर्थवर्गः समाप्तः ॥



अथ तृतीयः कामवर्गः प्रारभ्यते-

उपजाति-वृत्ते-

ग्राह्याः कियन्तः किल कामवर्गे, कामो नृनार्यो गुणदोषभाजः ।
सुलक्षणैर्योगवियोगयुक्तैः, समातृपितृप्रमुखाः प्रसङ्गाः ॥१॥

तत्र कामः १, पुरुषगुणदोषौ २, स्त्रीगुणदोषौ ३, संयोगवियोगौ ४, मातृ-कर्त्तव्यं ५, पितृ-वात्सल्यं ६, प्रमुखशब्दात्-पुत्र-वर्णनं ७, चेत्यस्मिन् 'कामवर्गे' सप्तविषयाः क्रमेण वर्ण्यन्ते ॥१॥

अस्मिन्संसारे कन्दर्पदर्पः प्रबलो दुर्जयो भासते । तस्य विजेता कोऽपि सुपुण्यशाली विरल एवाऽस्ति । स कामस्तु ब्रह्मादिकमशेषं जगद्विजयते । किञ्च-तत्पारवश्यं नीता नरा विमूढा इव नितान्तं क्लिश्यन्ति । सदसद्विवेकशून्यास्तथा जगत्यात्मभूजेतारो विरलाः सत्पुरुषा एव जायन्ते यदाह-

"केचित्प्रचण्डगजराजविनाशदक्षाः,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ।
श्रीस्थूलिभद्रमुनिराजमुखा हि सन्ति,
त्रैलोक्यजेतृमदनप्रशमेऽतिदक्षाः" ॥१॥

किञ्च-मदनवशङ्गतो नन्दिषेणो द्वादशवर्षाणि गणिकालये तिष्ठन् तया सह विषयसुखं भुञ्जान आसीत्ततः संयमे दार्ढ्यमाप्तवान् । मदनजेतार एव जना आत्मश्रेयः साधयन्ति । पुरा कामपारतन्त्र्यं नीतः पश्चाद्विनिर्जितस्मरो नन्दिषेण आत्मसाधनमकरोदत उपयुक्ततया तत्कथाऽत्र लिख्यते-

१-अथ कामभोगे तथा तत्त्यागोपरि नन्दिषेणमुनेः कथानकम्-

इहैव मगधदेशे श्रेणिको नाम राजास्ति, तदीयो नन्दिषेणनामा कुमारो विद्यते । स च स्वानुरूपाभिः पञ्चशतीभिः कन्याभिः पित्रा परिणायितः सुखमनुभवन्नस्ति ।

अथैकदा तत्र नगरे कुत्रचिदुपवने गुणशीलनाम्नि चैत्ये श्रीमहावीरप्रभुरागतः । तत्र भुवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकैर्देवैस्तदीयसमवसरणं चक्रे, तच्च पृथ्वीतः सार्धक्रोशद्वयोन्नतं जज्ञे । तदारोढुं चतुर्दिक्षु कृतहस्तान्तरालानि चाशीतिसहस्रसोपानानि व्यधुः । तत्र च पूर्वस्यां दिशि सिंहासनोपरि 'नमो तित्थस्स' इत्युदीर्य श्रीवीरप्रभुर्विरराज । तथाऽवशिष्टासु दिक्षु ते देवाः सिंहासनोपरि प्रभोर्मूर्तिमतिष्ठिपन् । तत्रावसरे भगवान् वीरो देशनां ददते, सा च चतुर्विधदानशीलतपोभावनारूपा मुक्तिमार्गस्य द्वारमिव भाति स्म ।

एतत्स्वरूपं वनपालः श्रेणिकराजाय निवेदितवान् । तदा हृष्टो राजा तस्मै बहुदानमदात् । प्रभोरागमनहर्षतो राज्ञः सकलानि रोमकूपानि समुत्तस्थुः । अथ तदैव क्षोणीपतिर्नन्दिषेणतनयेन तथाऽभयकुमारप्रधानवर्गैः पौरजनैश्च सह वीरप्रभोर्वन्दनार्थं तत्राऽऽगात् । अथो दूरादेव समवसरणमालोक्य खड्गच्छत्रचामरादीनि राजचिह्नानि सोऽत्यजत् ।

अथ तत्र समवसरणे समागतो नृपः प्रभुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य समभिवन्द्याऽष्टोत्तरसहस्रकाव्यैः संस्तुत्य स्वोचितस्थानके समुपाविशत् । देशनाश्रवणतो नन्दिषेणेन संसारममुमसारमबोधि । देशनान्ते

च वीरप्रभुमभिवन्द्य स्वालयमागत्य महताग्रहेण मातापित्रोः पत्नीनाञ्चादेशं लात्वा वीरान्तिकं दीक्षार्थी स आगात् । तत्रावसरे व्योमवागजायत यथा- हे नन्दिषेण ! तवेदानीं भोग्यकर्माण्यवशिष्यन्ते तानि भुङ्क्ष्व तदन्ते चारित्रमादेयमिति । परमसौ तामप्यगणयन् तदैव भगवदन्तिके दीक्षामग्रहीत् ।

ततो भाविवशात्कालान्तरेणाऽज्ञानतः सोऽन्यदा गोचर्यै गणिकागेहं प्राविशत् । तत्र च प्राक्तनभोग्यकर्मोदयाद् द्वादशवर्षाणि स्थित्वा तां भुञ्जानः कर्मक्षयमकरोत्, तदनु तां विहाय स्वात्म-श्रेयोऽसाधयत् ।

अहो ! मदनप्राबल्यं कीदृगस्ति यदीदृशमपि साहसिकं स्ववशमकरोत्तर्हीतरेषां का वार्ता ? अतो विषयतो दूरमेव स्थेयं श्रेयोऽर्थिभिः सकलैरिति । एतत्कथानकमत्रैवाऽर्थवर्गे १६ नन्दिषेण-तपःप्रबन्धे लिखितमस्ति तत्रैव विशदतयावलोकनीयमिति, अत्र तु प्रसङ्गतः संक्षेपेणैवाऽदर्शि ।

अथ १-काम-विषयेऽपजाति-छन्दः-

कन्दर्पपञ्चाननतेज आगे,
कुरंग जेवा जग जीव लागे ।
स्त्री शस्त्र लेई जग जे विदीता,
जे एण देवा जनवृन्द जीता ॥२॥

अस्मिन् भवारण्ये बलीयानसौ स्मरः पञ्चानन इव दुर्जयो विलसति । सिंहस्य यथा चत्वारो हस्ता मुखञ्च पञ्चममस्ति तथाऽस्यापि शब्दादिविषयाः पञ्चाननानीव विद्यन्ते । यथा मृगारातेः पुरतो मृगादयो

निस्तेजस्कास्तद्वशे तिष्ठन्ति तथास्य मदनस्याग्रेऽमी जीवा गतबलास्तद्वश्यतां यान्ति । अस्याऽमोघमस्त्रं तत्त्वविदः स्त्रियमेव कथयन्ति। कामो हि रमणीशस्त्रेण देवान् धीरान् योगिनोऽपि जिगाय। एष कातरैर्विषयलुब्धैः कदापि न जीयते, किन्तु शौर्यवद्भिरेव तत्त्ववेदिभिर्जेतुं शक्यते नान्यैर्देवादिभिरपि ।।२।। तदेव कथयति-

मालिनी-वृत्ते-

मनमथ जगमाहें दुर्जयी जे सदापि,
त्रिभुवनसुरराजी जास शस्त्रे सतापी ।
जलजविधि उपासे वार्धिजा विष्णु सेवे,
हर हिमगिरिजाने जेण अर्धाङ्ग देवे ।।३।।

इह त्रिभुवने कामो हि सर्वेषामजय्यो भाति । एष त्रिदशानपि लीलया निजवश्यं विधाय विषयातुरानकरोत् । यथा हरिहरादयोऽपि मदनजिताः कान्ताः सिषेविरे ।।३।। तदेव दर्श्यते-

शार्दूलविक्रीडित-वृत्ते-

भिल्लीभाव छल्यो महेश उमया जे काम रागे करी,
पुत्री देखि चल्यो चतुर्मुख हरी आहेलिका आदरी ।
इन्द्रे गौतमनी त्रिया विलसिने संभोग ते ओलव्या,
कामे एम महंत देव जग जे ते भोलव्या रोलव्या ।।४।।

हरोऽप्येकदा तपस्यां विहाय वनेचरीमालोक्य तस्यामेव रिरंसामुवाह । विधाता निजपुत्रीं विलोक्य स्मरपारतन्त्र्यमनुभवन् तामन्वधावत् । हरिरपि गोपीभी रेमे, देवेन्द्र आहेलिकायै गौतमपत्न्यै लुलुभे, इत्थं महान्तो देवा अपि तद्वश्या अभूवन् ।।४।।

२- अथ वनेचरीं विलोक्य विषयसुखप्रार्थयितुः हरस्य कथा-

एकदा महादेवो वने तपस्यन्नासीत्तत्सज्ज्ञानध्यानादिपरीक्षाकृते चातीवसौन्दर्यरूपं बिभ्राणा गिरिजा वनेचरीवेषेण तत्पुर आगत्य तस्थौ, तदा तद्रूपकटाक्षवीक्षणमृदुहासादिहावभावैः समुद्भूतमदनोद्रेकः स तामयाचत रतिम् । अथ कामवशङ्गतं तमवादीत्सा- हे त्रिपुरहर ! अहं त्वां सेविष्ये । परमेकदा करं शिरसि दत्त्वा, तथैकपाणिं कटिप्रदेशे निधाय स्वनृत्यं मां दर्शय । तत्रावसरे रतिलोभवशात्तपस्यामपि त्यक्त्वा तेन तदप्यङ्गीचक्रे । अहो ! तर्हि संसारे साधारणस्य पुरुषस्य का गतिः ? अतः कामजयोऽतीव कठिनोऽस्ति । य एनं जयति स एवात्मकल्याणं विधातुमर्हति नाऽन्ये इत्येवपरमार्थः ।

अथ कन्दर्पोन्मादविषये मालिनी-वृत्ते-

नल नृप दमयन्ती देखि चारित्र-चाले,
अरहन रहनेमी ते तपस्या विटाले ।
चरमजिन-मुनी जे चेलणा रूप मोहे,
मयण रस व्यथाना एह उन्माद सोहे ॥५॥

यथा गृहीतसंयमस्यापि नलराजर्षेः साध्वीं दमयन्तीं व्यालोक्य मनो विव्यथे । यथा वा श्रीनेमिनाथस्य भगवतो भ्राता रथनेमिमुनिः कृतकायोत्सर्गध्यानो राजीमत्याः संयमिन्या अनावृतमङ्गमालोक्य ध्यानतो व्यरंस्त । एवं वीरस्य भगवतोऽन्तेवासिनः संयमधारिणो मुनयोऽपि श्रेणिकराजपत्नी चेल्लणारूपदर्शनाद् व्यामुह्यन् । अहो ! प्रादुर्भूते कन्दर्पे स्त्रीदर्शनाद्यल्लोकानां मनांसि क्षुभ्यन्ति स एव

कन्दर्पोन्मादोऽवगन्तव्यः ॥५॥



३-अथ दमयन्तीविलोकनाच्चलचित्तस्य नलराजर्षेः कथानकम्-

तथाहि-नैषधाभिधे नगरे नैषधो नाम राजाऽस्ति । तस्य च नल-कुबेरनामानौ पुत्रावभूताम् । अथ ज्ञातसंसाराऽसारो राजा नलं राज्ये कुबेरं यौवराज्ये च न्यस्य दीक्षां ललौ । तदनु नलं राजानं द्यूते जित्वा कुबेरो नृपोऽभवत् । नलस्तु दमयन्त्या सह वनवास्यभूत्, दैवयोगान्मार्गे दमयन्तीमपि जहौ । स्वयन्तु कुब्जत्वमगच्छत्कर्म-योगाद्दमयन्त्या अपि मुधा चौर्याऽपवादोऽलगत् । क्रमशस्तस्याः पुनः स्वयम्वराऽवसरे परस्परं सम्मेलनमभूद्राज्यमप्याप्तवान् ।

तदनु चिरं राज्यसुखमनुभूय सञ्जातवैराग्यवशात्स नलः प्रवव्राज दमयन्त्यपि संयमिनी जज्ञे । उभावपि संयमं पालयन्तौ पृथग् विचेरतुः । अथैकदा दमयन्तीं साध्वीं विलोक्य नलराजर्षेश्चित्तं कामवशंवदमजायत । तज्ज्ञात्वा प्रतिबोध्य सा दमयन्ती तस्य चारित्रस्थैर्यं व्यधात् ।



४-अथ राजीमतीं कामयमानस्य समुज्झितोत्सर्गध्यानस्य रथनेमिमुनेः प्रबन्धः-

यथैकदा श्रीनेमिनाथस्य भगवतो बन्धू रथनेमिनामा नेमि-प्रभोर्देशनातः प्रतिबोधमासाद्य दीक्षितोऽभवत् । ततःप्रभृति पर्वतगुहायां कायोत्सर्गध्यानेऽतिष्ठत् । अथैकदा वर्षर्तौ भगवन्तं नेमिनाथमभिवन्द्य

ततः परावर्तमाना साध्वी राजीमती मार्गे वर्षात आर्द्रवसना जाता तानि च शुष्कयितुं सा साध्वीः गुहान्तर्गता। तत्रार्द्रवसनानि देहादुत्तार्य शुष्कयितुं लग्ना। तत्रावसरे राजीमत्याश्चारुतरमङ्गोपाङ्गमनावृतं निरीक्ष्य कायोत्सर्गध्यानस्थोऽपि रथनेमिमुनिः कामशरजालतो विभिन्नगात्रो जातः। शुभध्यानन्तु सर्वथैव विसस्मार। केवलमशुभध्यानकर्दमे निमग्नोऽभवद्, विषयमदिरामत्तः स गतत्रपस्तां मुखतः कामक्रीडामयाचिष्ट।

तथाहि-अयि राजीमति ! तवेदृशं यौवनं वयोरूपादिकमतिसुन्दरं वर्तते। तत्त्वं मुधा किं गमयसि ? शीघ्रमेहि मया सह यथेष्टं रमस्व। येनाऽऽवयोरिदं जन्म सफलीभविष्यति। आकस्मिकमीदृशं त्रपारहितं तद्वचः श्रुत्वा सा राजीमती निजमङ्गोपाङ्गं सम्यक् संगोप्य ततस्त्वां धिगित्यादिभाषणपूर्वं कियदपि काकश्वादिदृष्टान्तं तमदर्शयत्। प्रान्ते चैवं तं निन्दन्ती जगाद- भो अधीर ! त्वं साधुर्भूत्वा किमनार्यं वचनं जल्पसि ?। त्वमित्थं जल्पन् कथं न लज्जसे ? तव सुज्ञानं क्व गतं यदेवं ब्रूषे। पश्य-अगन्धनकुलजातः सर्पोऽपि स्वेन वान्तं विषं निजप्राणातिपातेऽपि कदापि नाऽश्नाति। त्वन्तु संयमीभूयोऽपि सत्कुलजातस्त्यक्तमपि विषयहालाहलमधुना वाञ्छसि तत्सत्कुलोत्पन्नस्य तव नैव घटते। एवं कृते कुलमपि मलिनं स्यात् चारित्रञ्च नश्यति। तन्नाशात्तव नारकीगतिर्दुर्वारैव भविष्यति, अत एवं मा कृथाः।

अथ सतीमुखोद्गीर्णेदृग्वचनश्रवणतो रथनेमिः प्रतिबुद्धो जातः। दध्यौ चैवं मनसि- अहो ! धन्येयं सतीशिरोमणिर्यया सत्यपि मदहेतौ

रूपलावण्यतारुण्ये स्मरो जितः, अस्यामनार्यं ब्रुवन्तं मां धिग् यदहं मातृसमानां भ्रातृजायामपि भोक्तुमैच्छम् । तदनु कृतपश्चात्तापः स भगवदन्तिकं गत्वा तत्प्रायश्चित्तं लात्वा पुनश्चारित्रवान् भूत्वा भृशं तपस्यन्सद्गतिमाप ।

ईदृशं महतामपि कन्दर्पवश्यत्वमभूत्तर्हि पामरजनानां का वार्ता ? अतः कामो दूरतस्त्यक्तव्यः । यो हि तं जयति स एव जीवः स्वजन्म सफलीकरोति पुनरक्षयसुखमप्यधिगच्छति । तथैवैकदा वीरभगवतः सङ्घाटकीयाः साधवश्चेल्लणाराज्ञीं वीक्ष्य चलचित्ता अभूवन्नित्यादिकथा ग्रन्थान्तरादवगन्तव्या सद्भिर्भवद्भिः ।

अथ २-पुरुषगुणदोषोद्भावनविषये रथोद्धता-वृत्तम्-

उत्तमा पण नरा न सम्भवे,
मध्यमा तिम न योषिता हुवे ।
एह उत्तमिक मध्यमी पणो ।
बेहु माहिं गुण दोष नो गिणो ॥६॥

इह लोके ये जीवाः स्वगुणैः शोभन्ते त उत्तमा ये च पितुर्गुणैरुपलक्ष्यन्ते ते मध्यमाः कथ्यन्ते । अनयोरिव गुणदोषाभ्या-मुत्तममध्यमयोर्महदन्तरं विद्यते । यथा हि गुणवान्निजगुणेनैव सर्व-त्रोपलक्ष्यते निर्गुणस्तु पितृगुणनामादिनैव ज्ञायते । तथैव गुणी निज निजगुणतो, निर्गुणी दोषतः सर्वत्र प्रख्यातिमुपैति ॥६॥

अथ पुरुषगुणविषये शार्दूलविक्रीडित-वृत्तम्-

जे नित्ये गुणवृन्द ले परतणा दोषो न जे दाखवे,

जे विश्वे उपगारि ने उपगरे वाणी सुधा जे लवे ।
पूरा पूनम चन्द्र जेम सुगुणा जे धीर मेरु समा,
जे गंभीर सदा सुसायर जिसा ते मानवा उत्तमा ॥७॥

यो हि सदैव परेषां गुणग्राहको भवति, दोषांश्च न ख्यापयति, जगदुपकरोति, परकृतमुपकारं सदैव मनुते, तथा सुधामिव मधुरां सत्यां वाणीं वदति, कदाचिदसत्यमप्रियं न भाषते, तथा शारद-पार्वणशर्वरीश इव सकलसद्गुणवान्, मेरुवदचलः, समुद्र इव गम्भीरः, ईदृशो जन उत्तमः कीर्त्यते, अत एव लोकैरुत्तमैरिति भाव्यम् ॥७॥

५- अथ परकीयस्तोकमपि गुणमुदाहरतस्तथा दोषमपलपतः श्रीकृष्णस्य कथा-

अथैकदा सौधर्मेन्द्रः सभासीनः श्रीकृष्णं समस्तावीत्- भो भोः सभ्याः ! साम्प्रतं मर्त्यलोके श्रीकृष्ण इव गुणग्राही कोऽप्यन्यो नास्तीति । तदसहमानः कोऽपि मिथ्यात्वी देवस्तं परीक्षितुं मृत्युलोकमागात् ।

तत्रावसरे श्रीकृष्णो रथवाटिकातः परावर्तमानः स्वनगरमा-गच्छन्नासीन्मार्गे । अथैतदवसरे स एव मिथ्यादृष्टिर्देवश्चलत्कोटिकीटा-ऽऽकीर्णस्यातिदुर्गन्धमयस्य मृतस्य शुनो रूपं विधाय मध्येमार्गं तस्थिवान् । तदीयदुर्गन्धियोगाद्गजतुरगादयो विवेकविकलाः पशवोऽपि तन्मार्गेण गन्तुं न शेकुः । पुनर्मनुष्याणान्तु का वार्ता ? अथैतत्स्वरूपं विलोक्य गुणरागी कृष्णो हस्तिपकमपृच्छत्- किं भोः ! कथमग्रे हस्ती न चलति? यूयमपि वस्त्रेण घ्राणमवरुध्य कथं तिष्ठथ ?

अथ सोऽवदत्- स्वामिन् ! मार्गे मृतो विकृतो दुर्गन्धिमयः श्वा तिष्ठति । तदीयातिदुर्गन्धितः केऽप्यग्रे चलितुं न प्रभवन्ति । तच्छ्रुत्वा स्वयमेव हठाद्गजमग्रे समानीय श्वान्तिके तिष्ठन्नधोदृष्टिः कृष्णोऽवक्- भो भो लोकाः ! एतस्य गुणान्कथं न गृह्णीथ ? सेवका ऊचुः-स्वामिन् ! वयमेतस्मिन्नेकमपि गुणं न पश्यामः, किन्तु दोषानेव वीक्षामहे । अथ वासुदेवोऽवदत्- अहो ! मौक्तिकश्रेणीव समुज्ज्वला दन्तावली शोभतेऽस्य शुनः । अन्येऽपि विलसन्त्यस्मिन् सद्गुणास्तथापि यूयमेनमगुणं कथं वदथ ? ।

इत्थं गुणग्राही कृष्णस्तस्य दोषानपश्यन् गुणानेव जग्राह । उचितमेव तदेतादृशं गुणिनां गुणग्राहित्वं । अथ स देवोऽपि प्रत्यक्षीभूय श्रीकृष्णं प्रणिपत्य संस्तुत्य च सौधर्मेन्द्रसभामागत्य श्रीकृष्णस्य यथावद्गुणं प्रशशंस । अत उत्तमेन पुंसा गुणग्राहिणा भाव्यं तथैव गुण्यपि यथा-

रूपसौभाग्यसम्पन्नाः, सत्त्वादिगुणशोभनाः ।
ते लोके विरला धीराः, श्रीरामसदृशा नराः ॥८॥

इह लोके राम-कृष्णासदृशा रूपसौभाग्यशौर्यौदार्याऽऽदिगुणैः शोभमानाः परगुणग्राहिणः सत्यप्रतिज्ञा विरला एव भवन्ति ॥८॥

अथ पुरुषदोषविषये शार्दूलविक्रीडित-वृत्तम्-

लंकासामि हरन्ति राम तजि ते सीता भली जानकी,
स्त्री वेची हरिचंद पाण्डवनृपे कृष्णा न राखी सकी ।
रात्रे छांडि निजप्रिया नलनृपे ए दोष मोटा भणी,
जोवो उत्तम माहिं दोष गणना का वात बीजा तणी? ॥९॥

लङ्कापतिः प्रतिवासुदेवो रावणो रामस्य शीलवतीं जायां सीतामपाहरत् । तेन दुष्कर्मणा तत्प्राणा राज्यं कुलञ्च सकलं प्रणष्टम् । तथा हरिश्चन्द्रो राजा निजभार्यामपि नीचगृहे व्यक्रीणीत । स्वयमपि चाण्डालस्य जलवाहकोऽभूत् । एवं जगदेकवीराः पाण्डवा अपि द्यूते सुशीलां पत्नीं द्रौपदीं हारितवन्तः। तथा त्रिभुवनविजयी सकललोकपालस्तद्बन्धुः कृष्णोऽपि तत्र विपदि पाण्डवान्न रक्षितवान् । किञ्च- नलराजोऽपि निजप्रेयसीं दमयन्तीमेकाकिनीं वने मुक्तवान् स्वयमन्यत्र गतवांश्च । भो भो लोका ! ईदृशेष्वपि महापुरुषेषु यदीदृशा दोषा आपेतुस्तर्हि पामरजनानां का गणना ?।।९।।

अथ ३-स्त्रीगुणदोष-विषये,उपजाति-वृत्तम्-

सुसीख्र आले प्रियचित्त चाले,
जे शील पाले गृहचिंत टाले ।
दानादि जेणे गृहधर्म होई,
ते गेहि नित्ये घर लक्ष्मि सोई ।।१०।।

या कुलवधूरस्ति सा भर्तुः सदैव सानन्दयति, भर्तारं हिते नियोजयति, तथाऽऽजन्म शुद्धं शीलगुणं परिपालयति, गार्हस्थ्यं धर्मञ्च सम्यगवति, गृहकृत्ये च तत्परा तिष्ठति, गुरुजनानुपास्ते । ईदृशी गृहिणी यस्य भवति तस्यैव धन्यस्य गृहे लक्ष्मीरपि सुस्थिरा विलसति । चत्वारः पुमर्था अपि तत्र वर्धन्ते, अतः सकलाभिर्ललनाभिरीदृशीभिरेव भाव्यम् ।।१०।।

अथ स्त्रीदोष-विषये-

भर्ता हण्यो जे पतिमारिकाये,
नाख्यो नदीमां सुकुमालिकाये ।
सुदर्शन श्रेष्ठि सुशील राख्यो,
ते आल देई अभयाय दाख्यो ॥११॥

अथ तासामेव दोषमाह, यथा-काचिच्छुकुमालिकाभिधाना दुष्टा स्त्री सरलस्नेहप्रकृतिकं निजवल्लभमपि जितशत्रुनृपं गङ्गाम्भसि न्यपातयत्, एषा कथा विस्तरतः पुरात्र कीर्तितास्ति, तथा सुदर्शनाभिधानः प्रख्यातः श्रेष्ठी स्वशीलगुणपाली सहसैवाऽभयाख्यया राज्ञ्या मुधा कलङ्कितोऽभूत् ॥११॥



६- अथ सुदर्शनश्रेष्ठिनमभया राज्ञी कलङ्कयामास, तयोः कथा-

पुरा किल पाटलीपुरनगरे सुदर्शनाभिधानः श्रेष्ठी निवसति स्म। सोऽतीवसुन्दरः सुशीलश्चासीत्तमेकदाऽभयाख्या राज्ञी विलोक्य तस्मिन् रागवती जाता। तत एकदा केनापि व्याजेन दास्या स्वान्तिके तमानायितवती। तमागतं वीक्ष्य मन्दं मन्दं हसन्ती भृशं कटाक्षयन्ती नानाहावभावं प्रकाशयन्ती मदनविलासमभ्यार्थयत।

तथाहि- हे नाथ! मामधुना भृशं बाधते मदनस्त्वदीयरूपतारुण्यविलोकनादतो मया सह यथेष्टं रमस्व। इत्थं तत्प्रार्थनं निशम्य निजशीलरक्षायै स तामवदीत्- अयि राज्ञि! तवोक्तं सत्यमस्ति परं किं कुर्याम्? पौरुषमेव नास्ति मयि, तदभावान्मदनेऽपि चैतन्यं न

जायते । अथैवमाकर्ण्य सा तं विससर्ज ।

ततः कियद्दिनानन्तरं सा राज्ञी गवाक्षे स्थिता पथि तुरङ्गारूढान्देवकुमारानिव गच्छतस्तारुण्यादिगुणशालिनः षट् पुरुषानद्राक्षीत् । तदानीं तत्पार्श्वे प्रधानभार्या कपिलाभिधाना दासी च स्थितासीत् ।

अथ राज्ञी पृष्टवती- अयि वयस्ये ! एते व्रजन्तः कस्य पुत्राः सन्ति ? दास्यूचे- स्वामिनि ! अमी षट् कुमाराः सुदर्शनश्रेष्ठिनः सन्ति । अथैवमाह राज्ञी- भो दासि ! तस्य पौरुषहीनस्य षट्सुताः कथमभूवन् ? कपिला जगाद- हे स्वामिनि ! स धूर्तोऽतस्तथा कथयित्वा त्वां कामुकीमवञ्चयत् । पौरुषं विना तस्य देहलावण्यादिकं कथं संभाव्यते ?

तदनु सा राज्ञी तदुपरि रुष्टा सती दास्या विचार्य मुधैव सुदर्शनस्य कलङ्कमारोपितवती । तथाहि-तत्प्रेरिता कपिला राजानमेवं व्यजिज्ञपत्- हे स्वामिन् ! अद्यान्तःपुरे मम स्वामिन्या आवासे सहसैव सुदर्शनश्रेष्ठी समागात् । ततश्च मम स्वामिन्या अभयाराज्ञ्याः शीलं खण्डयितुमियेष । राजन् ! महता क्लेशेन मयाऽद्य स निष्कासितः । त्वयि शासति साधारणस्यापि गृहमागत्य कोऽपि कदाचिदप्येवं नाचरति । तेन तु तवैव प्रेयस्याः सुशीलाया आलयं प्रविश्येदृशमनार्यमाचरितम् । अतस्तस्मै योग्यं दण्डं देहि नो चेन्मम स्वामिनी जीवितमेव त्यक्ष्यति ।

अथैतदाकर्ण्य कोपाग्निज्वलितो नृपस्तस्य शूलारोपणमादिशत् । ततो नृपादेशात्तादृशा भटाः सुदर्शनं तत्स्थाने बलादानीय शूलिकायामारोपयामासुः, परन्तु तदखण्डशीलप्रभावतः शासनदेवता

तदैव शूलिकां त्रोटयित्वा स्वर्णमयसिंहासनञ्चक्रे ।

अथैतदद्भुतमाकर्ण्य सपौरो राजा तत्राऽऽगात्सर्वे च तमालोक्य विस्मिता जाताः । अथ सुदर्शनं गजारूढं विधाय नृत्यगीतादिमहोत्सवेन नगरान्तः प्रावेशयत् । नृपस्तामभयां राज्ञीं भ्रष्टशीलां विज्ञाय देशतो निष्कासयामास । अतो वच्मि हे स्त्रियः ! भवत्यस्तथा मा भूवन् ।

वसंततिलका-वृत्ते-

मार्च्यो प्रदेशि सुरिकांत विषावलीये,
राजा यशोधर हण्यो नयनावलीये ।
दुःखी कर्च्यो श्वशुर नूपुरपण्डिताये,
दोषी त्रिया इम भणी इण दोषताये ॥१२॥

विषयसुखलोभादेव पुरा काचित्सूरिकान्ता राज्ञी निजभर्त्तारं प्रदेशिराजं गरलं प्रदाय जिहिंस । तथा नयनावल्यपि राज्ञी विषयसुखलोभाऽऽक्रान्ता निजप्राणेश्वरं यशोधरं नृपं गले दृढं पाशं बद्ध्वाऽवधीत् । काचिदेका नूपुरविदग्धा स्वर्णकारस्त्री स्वकीयदुश्चरित्रमपह्नोतुं पतिं छलयित्वा श्वशुरं भृशं दुःखिनमकरोत् । हे स्त्रिय ! ईदृशाऽनार्याचरणेन सर्वाः स्त्रियो दूष्यन्ते । अतो भवतीभिः सर्वथा दुराचारं तत्त्याज्यमेव ॥१२॥

७-अथ यशोधरनृपघातुकीनयनावल्याः प्रबन्धः-

तथाहि-यशोधरक्षितिपस्य नयनावली राज्ञी केनचिद् जारेण विषयासक्ताऽऽसीत् । भर्त्रा सह स्वैरं भोगं भुञ्जानापि तृप्तिमनधिगच्छन्ती निशि कस्यचनाऽश्वपालनायकस्यान्तिकं गत्वा स्वैरं रममाणासीत् । प्रतिरात्रमित्थमाचरन्ती सुखेन कालं व्यत्येति ।

अथैकस्यां रात्रौ नृपं सुप्तं विदित्वा सा जारान्तिकमागत्य तेन सह रन्त्वा पुनर्नृपान्तिकमागात्। तदन्तरे च कश्चन वणिक्पुत्रचौर्यव्यसनी तेनैव मार्गेण राजसौधं प्रविश्य नृपपल्यङ्काधस्तस्थौ। अथ जागृतो राजा तामपृच्छत्- अयि राज्ञि ! त्वमधुना कुत्राऽऽसीः ? साऽवक्- नाथ ! लघुबाधां निवर्तयितुं गताऽऽसम्। पुनर्निद्रिते नृपे सा दध्यौ- अद्य मे दुश्चरित्रं राजा विदितवान्। इदानीं किमपि नोक्तं, प्रगे नूनमसौ सर्वं वदिष्यति। अतोऽधुनैव मया तत्प्रतीकारो विधेयः। यथा लोके निर्दोषा भविष्यामि, निर्बाधं भोगमपि तेन कामुकेन सह करिष्यामि।

इति विचिन्त्य तदैव सा दुष्टा सुप्तं राजानं गलपाशबन्धनेन जघान। मृते च भर्तरि सा तारस्वरेण बाढं रुरोद- हा दैव ! त्वमधुना मामनाथां कथमकृथाः ? मया भवान्तरे किं पापमकारि, येनेह जन्मनि दुःखोदधौ पतितास्मि। इत्थं नानाविधं सकरुणं विलपन्तीमुरः शिरश्च ताडयन्तीमालोक्य रक्षकाः प्रधानादयश्च तत्राऽऽजग्मुः। किमभूदिति पृष्टे साऽवक्- हा ! हा ! हा !!! अकस्मादेव मे प्राणेश्वरो ममार। ततो मन्त्रिप्रमुखाः सर्वे लोका राजानं श्मशानभूमावानीयाऽग्निना संश्वक्रुः।

अथैतस्या घोरं पापकृत्यं शय्याधःस्थेन चौरेण वणिक्पुत्रेण विलोकितम्। तमपि बहुतरधनप्रदानेन संतोष्य, त्वमेतद्गदिष्यसि चेन्मारयिष्यामीति सत्रासं शिक्षां दत्त्वा च मुक्तवती। अतो वच्मि- हे लोकाः ! सर्वस्त्रीषु कदापि विश्वासो नैव कर्त्तव्यः। ताश्चानेकदोषसद्भावाद् दुष्टतरा एव भवन्ति।



८- अथ जारपल्यङ्के शयानाया नूपुरपण्डितायाः कथा-

यथा राजगृहनगरे जर्जरनामा स्वर्णकारोऽस्ति । तस्यैकः पुत्रोऽस्ति स पित्रा परिणायितः परमेतस्य पत्नी व्यभिचारिणी-शिरोमणिरस्ति। अथैकस्यां रात्रौ भर्तारं गृहान्तः सुप्तं मुक्त्वा स्थलान्तरे दिव्यां शय्यां विधाय जारमाहूय तेन सह रेमे। तदेतदनाचारमालोकमानो जर्जरस्तां जारञ्च निद्रितं वीक्ष्य तत्राऽऽगत्य वध्वा नूपुरमादाय पुनः स्वस्थानमेत्य सुष्वाप । नूपुरञ्च शय्योपरि न्यस्तवान् । अथ जागृता सा चरणे नूपुरमपश्यन्ती व्यचिन्तयत्- यदेतत् श्वशुरस्यैव कृत्यं नाऽन्यस्य, नूनमसौ प्रभाते लोकान् वदिष्यति मे दुश्चरित्रम् । अतो मयाप्येतत्फलं तस्य दर्शनीयमित्यवधार्य जारमुत्थाप्य निजालयमप्रैषीत्, स्वयं भर्तुः पार्श्वमागत्य सुष्वाप ।

अथ किञ्चिद्विरम्य पतिमुत्थाप्य, यत्र शयने जारेण सह पुरा सुप्ताऽऽसीत्तत्रैव शयने समागत्य भर्त्रा सह पुनः शिश्ये, पतिरचिरादेव निद्रद्रौ । ततः सा सुप्तं तमवगत्य बुम्बारवं व्यधत्त- यथा हे नाथ ! द्रुतमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ। पश्यानेन निस्त्रपेण तव पित्रा लज्जास्थानकेऽप्यत्र समागत्य मदीयं नूपुरमपजह्रे ।

अथ सहसैव समुत्थाय झटिति पितुः पार्श्वमागत्य तं ताडयितुं लग्नोऽवदच्च- अरे पापिष्ठ ! निर्लज्ज ! तत्र गत्वा पुत्रवधूचरणं स्पृशतस्ते मनागपि लज्जा नाऽऽगता ? धिक् त्वां धिक् त्वां ! तदा पित्रोक्तम्- रे पुत्र ! त्वं तदानीं नासीरन्यः कोऽप्यासीत् । पुनर्जगाद पुत्रः- रे दुर्बुद्धे ! अन्यः कोऽपि नाऽऽसीदहमेवाऽऽसम् । इत्थं

पितापुत्रयोर्विवादे प्रवर्धमाने बहवो लोकाः समीपस्थास्तत्राऽऽगताः। तत्स्वरूपं ज्ञात्वा सर्वाः स्त्रियः सर्वे पुरुषाश्च पितरं जर्जरमेव निनिन्दुः। असौ प्रमत्तो जात इति जगदुश्च सर्वे। तेन स जर्जरो विचारसागरे ममज्ज। अहो ! किं जातं मया तु सर्वं तच्चरित्रं प्रत्यक्षीकृतं तथापि सर्वे मदुक्तमसत्यमेव मन्यन्ते निन्दन्ति च मामेव। इति चिन्तार्णवनिमग्नो जर्जरो मनागपि न निद्राति, नाऽश्नाति, न पिबति नैव च सौमनस्यं प्रकाशयति।

अथ प्रभाते जाते सा समुत्थाय निजपितरमाकार्य नैशिकं वृत्तमशेषमवदत्। अथ रुदतीं पुत्रीमाश्वास्य सोऽवक्- भोः सम्बन्धिन् ! त्वं वृद्धोऽसि तथापि मे पुत्रीं मुधा किङ्कलङ्कयसि ? अत्रान्तरे सकलजनसमक्षं साऽवादीत्-एतावता मे सन्तोषो न भविष्यति। यदाह-"अतथ्यो वा तथ्यो हरति महिमानं जनरवः" अतोऽहं लोकसमक्षमेतद्विषये दिव्यशुद्धिं विधित्सामि। लोका ऊचुः- कीदृशीं शुद्धिश्चिकीर्षसि ? तयोक्तम्- इहैव नगरे वाटिकायां भवानी देवी प्रत्यक्षफलदा वर्तते, सा मे सदसत्परीक्षां तत्कालमेव करिष्यति। अथैतद्वचसि सर्वैरङ्गीकृते सर्वेऽप्येवं जगदुः- यदियं निगदति तत्सत्यं चेदियं देवीचरणाधः प्रविश्य बहिरेष्यति। अन्यथा मध्ये मर्दिता तत्रैव प्राणान् हास्यति इत्युदीर्य सर्वे लोका देव्यन्तिके चेलुः।

इतश्चेतसि नूपुरपण्डिता दध्यौ-अहो ! सर्वेषां सन्निधौ यदि देवी पादतले मर्दिता स्यां तर्हि महती मेऽपकीर्तिरुदेष्यति। अतः प्रागेव स्त्रीचरित्रं विधेयमिति ध्यात्वा तं जारपुरुषमेवमवीवदत्- हे प्राणेश्वरः ! अहमद्य लोकैः सह दिव्यं विधातुं देव्यन्तिके यानि तदा मार्गे

प्रमत्तरूपं कुर्वता त्वयाऽहं कण्ठग्राहमालिङ्गनीयाऽवश्यमेव ।

अथ लोकैः सह तत्र चलिता तेन जारेण तथैव मार्गे तत्कण्ठे लग्नम्, तत्रावसरे लोकैः बलात्सा मोचिता । ततो देवीसमीपमागतां जनतां श्रावयन्नित्थमवादीत्- हे मातः ! त्वममीषां समक्षं तथ्यप्रकाशं कुरु । यद्यहं सत्यशीलाऽस्मि मार्गे च प्रमत्तपुंसा तथा भर्त्रा विना केनाप्याऽऽलिङ्गिता भुक्ता वा स्यां तर्हि मां निजचरणतलमध्यगतां पीलय विपरीते च मोचय । येनाऽहं कामुकेन श्वशुरेण मुधा कलङ्किता यथा शुद्धा भवेयमित्येतेषां पुरतस्तथा कुरु । अत्रावसरे पुरा जनैर्वारिताऽपि जल्पितवती- भो भो लोका ! यूयं मदुक्तं शृणुत- पुरापि सीताद्याः शीलवत्यः स्त्रिय ईदृशे लोकापवादे लग्नेऽनेक-विधदिव्यमकृषत । अतोऽहमपि भवतां समक्षं देवी चरणाधः प्रवि-शामि । यदि मे शीलं सत्यमेव शीलं भ्रष्टं वा तर्हि प्रत्यक्षफलं देयं देवी मां स्वपादतले निपीलयिष्यति । यद्येतेन दिव्येन निर्दोषा स्यां तर्हि श्वशुरो मे सर्वैरेव दण्डनीयः । एतत्श्रुत्वा देवी विचारे पतिता ।

अथ धूर्ता सा तथोच्चार्य देवीपादतलमागत्य सुखेन बहिर्भूय तस्थौ । ततो लोका जर्जरं धिक्कुर्वन्तस्तां प्रशशंसुः । यथा- अहो ! धन्येयं शीलशालिन्यस्ति यया मिथ्यापवादेऽपीदृशं दिव्यमकरोत् । तां स्तुवन्तः सर्वे लोकाः स्वस्थानमापुस्तस्या अपि लोके कीर्तिः प्रससार ।

इतश्च तद्दुःखेन जर्जरस्य स्वप्नेऽपि निद्रा वैरिणी जाता । कियत्कालानन्तरमसौ जर्जरो दिवानिशं जागर्त्येव, कदापि न शेते । इति निशम्य तत्रस्थ- नृपेन्द्रस्तं निजकोषागारे रक्षकत्वेन नियुक्त-

वान् । अथ स कोषालये दिवानिशं सर्वतः परिभ्राम्यन् रक्षन्नासीत् ।

अथैकस्यां रात्रौ कस्याश्चिद्राजपत्न्या दुश्चरित्रं तेन वीक्षितम् । तदालोक्य तदैव स बुबुधे, चिन्तामपि तत्याज । अहो ! कामस्य बलीयस्त्वं यदर्दिता विश्वभर्तुः सार्वभौमस्य महाप्रतापिनोऽतिबलवतोऽपि भार्या नीचजारमासेवते । तर्हि मादृशां गृहे स्त्रीजातीनां का गणना ?

अथ त्यक्तचिन्तस्य जर्जरस्य तदैव बुभुक्षा- पिपासा- सुषुप्सादयः समुत्पेदिरे । मासादलब्धनिद्रो जर्जरस्तथा सुष्वाप यथा मोक्षार्थी परब्रह्मणि संलीनो भवति । तदङ्गे कुत्रापि प्राणानां सञ्चारणं नाऽऽसीत् । यथा प्रारब्धमासिकषाण्मासिकादिव्रतावसाने लोको यथेष्टं भोजनशयनादिकृत्यं विधत्ते । तथैव सोऽपि वृद्धः पश्यतोहरः पुत्रवध्वा दुश्चेष्टां पश्यन् विहितषाण्मासिकजागरणरूपाभिग्रहो राजदाराकुचेष्टितं विलोक्य तदभिग्रहसमाप्ताविवातो गतचिन्तो निदद्रौ ।

ततो निशान्ते नगरचर्चां वीक्ष्य परावर्तमानो राजा तं जर्जरं कोष्ठागारे मृतमिव प्रसुप्तं व्यलोकत । अथ प्रभाते प्रधानमपृच्छत्-भोः प्रधान! जर्जरः कदापि न शेते, इत्युक्तं पुरा भवद्भिः, परमहं निशि तं मृतप्रायमिव सुप्तं दृष्टवान् । किङ्कारणं यत्सोऽद्यैतावत्कालं नोत्थितवान् सुप्त एवाऽस्ति ।

अथ सप्रधानो राजा तत्रागत्य तथैव सुसुप्तं तमालोकत, ततो नृपादिष्टो मन्त्री जागृतिकृते तमुच्चैरवदत्- भो जर्जर ! मध्याह्न-वेलाऽऽगता, तथापि तव निद्रावसानो नाऽभूत् कोऽत्र हेतुः ? एतावतोपायेन स यदा नोत्तस्थौ, तदा तत्कर्णान्तिके भृशं चिरं मृदङ्गाद्यवादयत, इत्थं महता कष्टेन स समुत्थितवान् । तत्र समये तमपृच्छत्- हे जर्जर !

तव षण्मासादेकदापि नागता निद्रा परमद्य किं जातं यदीदृशी तवायाता ? इति राज्ञा पृष्टः सोऽवक्-तत्कारणं वक्तुं न शक्नोमि, तत्तु सर्वथाऽवाच्यमस्ति ।

अथ सत्रासं मुहुर्मुहुस्तेन पृष्टः सोऽवादीत्-यथावद्यत्कारणं कथयामि तत्सावधानेन श्रूयताम्-अद्य मध्यरात्रे राज्ञीं गवाक्षस्थितां हस्तिपकः करिशुण्डादण्डेन गजस्कन्धे समानिन्ये । ततो गजशाला-मागत्य चिरमनङ्गलीलां विधाय पुनस्तथैव तां तत्र गवाक्षे समानीय मुमोच । स्वामिन् ! भवादृशां दाराणामीदृशमनाचारमालोक्य निज-पुत्रवध्वा जारसेवादर्शनान्महती षण्मासतो या चिन्ता ममाऽऽसीत्सा तु तदैव माममुञ्चत् । अतो ममेदृशी निद्रा समागता ।

अथैतदाकर्ण्य तत्कालमेव सेवकान् समादिशद्राजा- भोः सेवका ! अद्यैव भवन्तस्तां राज्ञीं तं हस्तिपकं तं दन्तिनञ्च नगरे प्रतिमार्गं पटहं वादयन्तो वैभारगिरिं नयत । सेवकैस्तथाकृते । पुरलोका राजानमेवमभ्यर्थितवन्तः- हे नाथ ! अत्र दन्तिनः को दोषः? असौ सर्वथा निर्दोषः, अस्येदृशो दण्डः क्षम्यताम् । अथ सर्वेषामाग्रहेण दोषं क्षान्त्वा तं परावर्तयितुं तत्र कमपि जनमप्रैषीत् ।

अथ स तत्रागत्य करिणं परावर्तयितुं नृपादेशमवदत् । तत्र समये गजपेनोक्तम्-यदि नृप आवयोरप्यभयदानं ददीत तर्हि दन्तिनमप्येनमधः परावर्तयेयमिति तज्जनमुखात्तद्धस्तिपप्रार्थनां श्रुत्वा राजा तयोरप्यभयदानमदात् । अथ त्रयोऽपि ततो गिरिशिखरादधः परावर्तन्त । ततो नृपादेशात्करिणं तत्स्थान आलाने बबन्ध । परममोच्यौ तौ स्वदेशान्निष्कासितवान् ।

अथ निष्कासितौ मार्गे चलन्तौ कुत्रचिन्मन्दिरे निशि तस्थतुः । तत्र हस्तिपको निद्रितो जातो निशायां तत्र चौराः समाजग्मुः । अथ प्रतिमाग्रे धूपं ददतं रूपेणातिसुन्दरं चौरनायकं विलोक्य तदनुरागिणीभूय राज्ञी तमेवमवादीत्–हे मच्चित्तमोहन ! मां हित्वा मा गाः । अहमपि त्वया सहैष्यामि । चौरोऽवदत्– हे सुन्दरि ! येन सह त्वमत्राऽऽगाः, स यद्युत्थास्यति तदा किं स्यादावयोरत्र प्राणभीतिरापतिष्यति । सा दध्यौ– असौ तस्करः सधनः प्रतीयते, हस्तिपकस्तु निर्धनः । किमनेनेति विमृश्य चौराधीशेन तमजीघनत्स मृत्वा व्यन्तरोऽभवत् ।

अथ शृङ्गारसज्जितां राज्ञीं शीलभ्रष्टां दुष्टां ज्ञात्वा चौराधीशो दध्यौ–इयमसती वर्तते । या हि सार्धमागतं स्वपतिं जारं वा घातितवती को जानेऽग्रे ममापि किङ्करिष्यति ? अत एषा त्याज्येति विमृश्य तामुवाच– हे प्रिये ! एषाऽगाधजला नदी वर्तते । अतस्त्वाङ्गे यानि यान्याभरणादीनि सन्ति तानि सर्वाण्येकत्र वस्त्रखण्डे ग्रन्थिं बद्ध्वा मह्यं देहि । तत्तीर्त्वा परतीरे पूर्वं नयामि पश्चादागत्य त्वामप्युत्तारयिष्यामि ।

अथ मुग्धा हतभाग्या सा निजवस्त्राभरणादीनां ग्रन्थिं बद्ध्वा तस्मा अदात् । सोऽपि तदीयं सर्वं लात्वा नदीं तीर्त्वाऽग्रे चचाल । तन्मार्गं प्रतीक्षमाणा किङ्कर्त्तव्यतामूढा सती सा तत्रैव तस्थौ । तत्रावसरे व्यन्तरीभूतो हस्तिपकजीवः शृगालमीनौ विकृतवान् । पुनर्यावत्स शृगालो मीनमशितुमैच्छत् तावत्तत्र तेनैव व्यन्तरेण विकृतः कश्चिद् गृध्रपक्षीः व्योम्नः समेत्य मीनमादाय गगनमगात् । शृगालो विच्छायवदनः पश्यन्नेव तस्थौ । अस्मिन्नवसरे तद्विलोकमाना राज्ञी तमुपहस्य

जगाद- अरे निर्बुद्धे ! गृध्रोऽपि त्वामवञ्चत्तच्छ्रुत्वा शृगालस्तामवदत्- भो राज्ञि ! ममैकमेव गतं त्वं तु त्रिभिर्वञ्चितासि । तदपश्यन्ती मां किं दूषयसि चोपहससि ? तदा राज्ञ्यूचे- हे शृगाल ! त्वं तिर्यग्भूत्वा कथमेतद्वेत्सि ? तत्रावसरे मार्गे जातं सर्वं वृत्तान्तं स तमवोचत ।

ततः सा राज्ञी प्रतिबुद्धा विषयवासनां तत्याज, तेन चिरं सा सुखमन्वभूत् । भो लोकाः ! पश्यत इत्थमन्या अपि याः स्त्रियो विषयवासनां दुर्गतिप्रदां मत्वा त्यक्ष्यन्ति, ता अपि राज्ञीव सुखिन्यो भविष्यन्ति प्रान्ते च सद्गतिमाप्स्यन्ति । पुनर्याः स्त्रियो दुश्चरित्र-माचरिष्यन्ति ता नूपुरपण्डितेवोभयलोके दुःखिन्यो भविष्यन्ति चान्ते दुर्गतिमाप्स्यन्ति ।

अथ सुलक्षणस्त्रीणां गुणानाह-

शार्दूलविक्रीडित-वृत्ते-

रूडी रूपवती सुशील सुगुणी लावण्य अंगे लसे,
लज्जालू प्रियवादिनी प्रियतणे चित्ते सदा जे वसे ।
लीला यौवन उल्लसे उरवसी जाणे नूलोके वसी,
एवी पुण्य तणे पसाय लहिये रामा रमा सारसी ॥१३॥

या स्त्री कुलीना भवति सा हि सर्वाङ्गानवद्या लज्जावती रूपवती शीलवती सद्गुणवती लावण्य-लीलावती, मिष्टातिसत्यभाषिणी, भर्तृचित्तानुवर्त्तिनी देवीव सदा सुस्थिरयौवना लक्ष्मीरिव महापुण्यवता प्राप्यते ॥१३॥

अथ कियतीनामुत्तमलक्षणवतीनां कामिनीनां नामानि दर्शयन्ते उपजाति-वृत्ते-

सीता सुभद्रा नलराय-राणी,
जे द्रौपदी शीलवती वखाणी ।
जे एहवी शीलगुणे सराणी,
सुलक्षणा ते जगमाहि जाणी ॥१४॥

पुरा श्रीरामचन्द्रस्य पत्नी सीताऽभूत् । यामपहृत्य दशकन्धरः स्वगृहे षण्मासानस्थापयत् । तथापि नानाक्लेशं सहमानापि निजं शीलं न तत्याज । पुनर्लोकसमक्षं ज्वलत्खदिराऽङ्गारमयाग्निकुण्डे पतित्वाऽक्षताङ्गचेव शीलप्रभावाज्जलादिव बहिराययौ । लोकापवाद-मपाजह्रे । यथा वा सीतासुभद्रादमयन्त्यादयः प्रातःस्मरणीयतमाः कीर्तिमत्यः पुरात्र महासत्योऽभूवन् । या सुभद्रा चाऽऽमतन्तुभिश्चालनीं बद्ध्वा कूपाज्जलमाजह्रे । पुनस्तेन वारिणा चम्पापुर्या द्वारमुद्घाट्य निजसतीत्वमहिमानं दर्शितवती । एवमरण्ये नलनृपेण पत्या त्यक्ता महाकष्टं सहमाना शीलमखण्डितं दधार सतीशिरोमणिर्दमयन्ती । एवं पाण्डवानां पत्नी द्रौपदी सदसि दुःशासनाऽऽकृष्टवसना शीलप्रभावादेव निजोत्तरीयवासोऽवर्धयत । एतादृश्यो या या ललना अत्राऽभूवन्, तास्ता उत्तमाः सुलक्षणाः प्रशस्तयशस्काः प्रातःस्मरणीयाः सकलवाञ्छितफलदात्र्य आसन् ॥१४॥

९- शीलप्रभावान्महाग्निकुण्डोऽपि जलवदतिशीतलमभूत्तदुपरि सीतायाः कथा

यथा-पुरा रामपत्नीं सीतां रावणो हृत्वा लङ्कामनैषीत्तत्र षण्मासीं यावत्सा तस्थौ । ततो युद्धे रावणं हत्वा सीतामयोध्यामनयत् ।

तामन्तःपुरे तिष्ठन्तीमेकदा काचिदेका सपत्नी पर्यपृच्छद्यथा- हे सखि ! रावणः कीदृशोऽस्तीति मां कथय । तदीयं रूपं ज्ञातुं कौतुकं महन्मे वर्तते । सीताऽवदत्- हे भगिनि ! मया कदापि तन्मुखं नाऽऽलोकि तत्कथं तद्रूपं वर्णयामि ? केवलं तस्य चरणावेव वीक्षितौ । तच्छ्रुत्वा सा तदैव पट्टिकां रम्यां लेखनसामग्रीञ्च सर्वामानीय सीताग्रे न्यस्तवती जगाद च- हे सखि ! अस्यां पट्टिकायां तस्य चरणावेव लिखित्वा दर्शय । सरलधीः सा सीता तस्यां रावणाऽङ्घ्री विलिख्य सपत्न्यै तस्यै ददौ ।

सा क्रूराशया सपत्नी तां पट्टिकामादाय तत्र च पुष्पादिकं दत्त्वा रामचन्द्रमदर्शयज्जगाद च- हे नाथ ! त्वं सदैव सीतां 'सतीं सतीमिति' कथयसि, तद्गुणान् प्रशंससि । सा तु प्रत्यहमित्थं तच्चरणौ विलिख्य पुष्पादिना पूजयति । अथ तस्याः कथनेन रावणचरणदर्शनेन च रामस्य मनसि शङ्का जाता ।

पुनरेकस्यां रात्रौ रामो रूपान्तरेण नगरान्तर्नवनवचर्चां बुभुत्सुः प्रतिप्रतोलि गच्छन् सर्वेषामालापं शृण्वन्कस्यामेकस्यां तैलिक-प्रतोल्यामागत्य तस्थौ । तावत्तत्र काचित्तैलिकस्त्री कस्मैचित्कार्याय दिनान्तसमये बहिर्जगाम । तस्या बहुविलम्बतयाऽनागतां वीक्ष्य तत्पतिः कुपितो द्वाःस्थकपाटे कीलकं दत्त्वा गृहान्तरतिष्ठत् । तावत्तत्पत्नी तत्रागत्य कपाटं सार्गलं वीक्ष्य जगाद- हे स्वामिन् ! कपाटमुद्घाटय, द्वारि कपाटः सार्गलः कथं कृतः ? पतिरूचे-त्वमेतावत्कालं कुत्राऽऽसीस्तद्वद । त्वया विलम्बितं कुतः ? त्वमेवं बुध्यसे, सत्यपि स्वेच्छाचारे भर्ता मे किङ्करिष्यतीति । परमहं रामचन्द्र

इव विचारविकलो नास्मि। यो रामः सीतां षण्मासपर्यन्तं रावणालये स्थितामप्यानीय जग्राह, अहं तादृशो नास्मि, यत्कामचारामपि त्वां ग्रहीष्यामि। तत्रैव तिष्ठ, प्रभाते तन्निश्चयं कृत्वाऽन्तः प्रवेशं दास्यामि।

तस्येदृशं वचनं श्रुतवान् रामस्ततो गृहमागतवान्। अथ सीता वने त्याजिता, तत्पश्चात् सीतायाः शीलपरीक्षायै लोकाऽपवादनिरासाय च रामचन्द्रः शतत्रयगजाऽऽयतनिम्नं महागर्तं निर्माय तच्च ज्वलत्खदिराङ्गारैर्निभृतवान्। पुनः सर्वान् पौरांस्तत्राहूय सीतामवादीत्- हे सीते ! यदि त्वं शीलमखण्डितं बिभर्षि तर्हि त्वमधुना लोक-समक्षमस्मिन्नग्निकुण्डे प्रविश, यथा ते कलङ्कोऽपेतो भविष्यति। तच्छ्रुत्वा लवकुशाभ्यां पुत्राभ्यां सह सीता तत्राऽऽगत्य तस्थौ। चतुर्दिक्षु दिव्यं दिदृक्षवो लोकाः सबालाः सस्त्रियश्च समेत्य तस्थुः। देवा अपि विमानारूढा व्योम्नि समाजग्मुः। अत्राऽवसरे सीता पपाठ यथा-

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नके वा,
मम यदि पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं मामकं पावक ! त्वं,
सुकृतकुकृतभाजां त्वं हि लोकेऽत्र साक्षी ॥१॥

इत्युच्चैरुच्चार्य सा शीलवती सीता तत्राग्निकुण्डे पपात, परमेतच्छीलमाहात्म्यतस्तदैव ज्वलन्नग्निकुण्डः साक्षात् शीतलवारि-कुण्डोऽभवत्। सरस इव ततोऽग्निकुण्डादक्षताङ्गी निरगात्। तदानीं तदुपरि सुरनरगणाः कुसुमानि ववृषुः सर्वे जयजयारावञ्चक्रुः।

इत्थं लोकापवादमपगम्य संसारविरक्ता सती सीता चारित्र-

ग्रहणोत्सुकाऽभूत्, परं रामेण बहुधा निवारिताऽपि तस्मै सुतौ समर्प्य जयभूषणसाधुपार्श्वे चारित्रं गृहीत्वा सुप्रभासाध्वीसङ्घाटके निवसति स्म। समाधिना संयममाराध्य द्वादशे देवलोके द्वाविंशतिसागरोपमायुष्कोऽच्युतेन्द्रो जज्ञे। ततश्च्युत्वा महाविदेहक्षेत्रे मानुष्यमवाप्य चारित्रम्परिपाल्य मोक्षं यास्यति। ईदृश्युत्तमा स्त्री पुण्यवतैव लभ्यते।

अथ ४-संयोगवियोगविषये मालिनी-वृत्तम्-

प्रिय सखि ! प्रिय योगे उल्लसे नेत्र रंगे,
हसित मुख शशी ज्यूं सर्व रोमाञ्च अङ्गे ।
कुच इक मुझ वेरी नम्रता जे न राखे,
प्रिय मिलन समे जे अंतरो तेह दाखे ॥१५॥

या कामिनी कान्तविलोकनेन नयनयुगलं सानन्दमुल्लासयति। यस्याश्चेषत्स्मेरं मुखं शारदशर्वरीश इव शोभते। या च कान्तप्रेक्षणवशात्पुलकं वहते, सा कामिनी सखीं ब्रूते यथा-अयि सखि! नूनमिमौ मामकौ कुचौ वैरिणौ भवतः। यतः प्रियालिङ्गनसमये पत्यौ नम्रतां न कदाचिद् दधाते। भर्तुरङ्गसंयोगसमयेऽपि च व्यवधायकौ भवतः ॥१५॥

अथ वियोगिनीलक्षणमाह-

दिन वरस समाणे रेणि कल्पान्त जाणे,
हिमकर कदली जे तेह जाला प्रमाणे ।
रसिककर शशी जे सूर स्यो सोइ लागे,
प्रिय-विरह प्रियाने दुःख स्यो तेन जागे ॥१६॥

प्रियेण कान्तेन वियुक्ता कामिनी दिनं वत्सरकल्पं मन्यते।

यामिनी तु वियोगिनीनां कल्पायते । हिमकरकरः कदलीवनञ्च भृशं तापायते । अहो! विरहिणीं कामिनीं किमपि सुखं न जनयति, सर्वं दुःखायते । यदाह-

"तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो,-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै,-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥२॥"

अथ ५-मातृकर्तव्य-विषये, इन्द्रवज्रा-वृत्तम्-

जे मातनो बोल कदा न लोपे,
ते विश्वमां सूरज जेम ओपे ।
ज्यां धर्मचर्या बहुधा परीखी,
त्यां मात पूजा सहुमां सरीखी ॥१७॥

यथा-उत्तमा नरा जनन्या वचनं कदापि नोल्लङ्घयन्ति, सदैव तदादेशे तिष्ठन्ति । तादृशाः पुमांस इहलोके सूर्य इव भासन्ते । सर्वत्र तेषां महती कीर्तिः प्रसरति । सर्वत्र धर्मवेत्तारो मातृपूजां सर्वतः श्रेयसीमाहुः ॥१७॥ किञ्च-

जे मात-मोहे जिन एम कीधो,
गर्भे वसंतां शुभ नेम लीधो ।
जे मात भद्रा वयणे प्रबुद्धो,
शिल्ला-तपन्ते अरहन्न सिद्धो ॥१८॥

गर्भे निवसन् जिनवरो वीरो मातुः स्नेहवशादेवं नियममङ्गीचक्रे-यदेतयोर्मातापित्रोर्जीवतोर्मया चारित्रमनादेयम् । तथा-भद्राया

गृहीतसंयमोऽरहन्नकनामा पुत्रोऽपि मातुरादेशेनाऽतिसन्तप्तशिलोपरि ह्यनशनमकरोत् । ततस्समाधिना मृत्वा मोक्षमाप ।।१८।।



१०-अथ निर्मोहकृताऽनशनस्य मोक्षमधिगतस्याऽरहन्नकमुनेः कथा-

तगरीपुरीनगर्यां दत्ताभिधानः श्रेष्ठी वर्तते । तस्य भार्या भद्राभिधाना चारहन्नकाभिधस्तत्पुत्रोऽस्ति । अथैकदा गुरुमुखादेश-नामाकर्ण्य सपुत्रः सभार्यो दत्तश्रेष्ठी संसारमसारमवबुध्य दीक्षां ललौ । तावुभौ यथावत्संयमाराधनपरावास्ताम् । परमसौ दत्तसाधुः पुत्रोपरि घनिष्ठस्नेहवशात्पुत्रं न कष्टयते । आहारजलादिकृत्यमपि स्वयमेव करोति स्म । इत्थं पुत्रं सुखयन् संयमं पालयंश्चायुःक्षये दत्तमुनिर्देहं त्यक्त्वा परलोकमगच्छत् । ततस्तस्यारहन्नकमुनेः शीतातपे जलाहाराद्यर्थं ग्रामान्तर्गमनादिनाऽतिक्लेश उदपद्यत । या च माता भद्रा साध्वी तदानीतमाहारपेयादिकं तस्य साधोरकल्प्यमेवाऽस्ति । अतः सोऽरहन्नको मुनिरधिकं क्लेशमन्वभूत् ।

अथैकदा साधवः स्वस्वपात्राणि समादाय गोचरीकृते नगरान्तश्चेलुः । तत्प्रेरितोऽरहन्नकोऽपि पात्राणि लात्वा तत्पृष्ठानुगोऽभवत्, परं निदाघतापाधिक्यात्तेऽग्रे चेलुः । असौ गन्तुमनर्हः पथि कुत्रचिन्म-न्दिराधश्च्छायायामतिष्ठत् । तत्र स्थितं तं काचिच्चिरविरहिणी तरुणी निजगवाक्षस्था निरीक्ष्य तद्रूपेण मोहिता दासीमादिशत्- हे वयस्ये ! त्वं याह्येनं मुनिमत्रानय । अथ दासी तत्रागत्य तं मुनिं तदन्तिकमनयत् । अथागतमतिसुन्दरं तरुणमरहन्नकमुनिं साऽवोचत-

मुनिसुन्दर ! त्वमेनं तारुण्यमनेन वेषेण मुधा किङ्गमयसि ? त्वमत्रैव सुखेन तिष्ठ, मया सह स्वैरं रमस्व । तदुक्तिमङ्गीकृत्य तत्रैव तिष्ठन् स तया सह विषयसुखं स्वैरं भुङ्क्ते ।

इतश्च गोचरीमादाय समागतेषु साधुषु भद्रा साध्वी पुत्रमपश्यन्ती तानपृच्छत्- भो मुनयः ! मम पुत्रः क्व गतः ? तैरुक्तमस्माकं पृष्ठे स आसीत्परं कुत्र गतवानिति न विद्मः । इत्याकर्ण्य तदैव विक्षिप्ता सती अरहन्नक ! अरहन्नक ! इत्यालपन्ती नगरान्तरितस्ततो बभ्राम । तां तथावस्थामालोक्य कियन्तो लोका बालकाश्च कौतुकात्तां परिवव्रुः ।

अथैकदा बालपरिवृता सा विक्षिप्ता निजजननी तेन तद्गवाक्षनी-चैर्दृष्टा । तामालोक्य स मनसि दध्यौ-नूनमियं मद्वियोगादीदृशीमवस्थां गतास्ति । अहो ! किं कृतं मया? धिग्मामीदृशं कुपुत्रं जननी-क्लेशकारिणमिति विमृश्य तत्कालमेवाऽध उत्तीर्य मातुश्चरणयोर-पतत् । पुत्रदर्शनात्साऽपि स्वस्थाऽभवत् ।

अथ माता पुत्रमवदत्- पुत्र ! तव सर्वेष्टदं चारित्रचिन्तामणि-मधिगतस्य स्त्रीसेवनं न घटते । विषयी जीवः सदैवाऽत्र परत्र चापकीर्तियुतां महतीं यातनां सहते, लोके च सर्वत्र गर्हितो भवति । अतो दुर्गतिप्रदमेनं विषयसुखं त्यज, संयमं च परिपालय ।

अथैतन्निशम्य पुत्रोऽवक्- हे मातः ! अहमीदृक्परीषहान् सोढुं नैव शक्नोमि । किन्तु तवानुमतिश्चेदस्यां शिलायामनशनं कुर्यां, मात्रा तदनुमोदितम् । तदैवातितप्तशिलोपरि निरशनमकरोदरहन्नकः। ततोऽचिरादेव शुभध्यानेन मृत्वा देवत्वं प्रपेदे ।

अतो वच्मि धन्य ईदृशः पुत्रो यो हि जननीक्लेशमसहमानः स्वयमनशनमकरोत् । मातापीदृशी धन्या प्रशस्या या हि नरकात्पुत्र-मुद्धृतवती । अतो हे लोका ! मातृस्नेहः कीदृश इति पश्यत । या अकृत्याचरणान्नारकीं यातनामनुभविष्यन्तं सुस्नेहिनं पुत्रं न्यायमार्गे समानीय सुखिनमकरोत् ।।

अथ ६-पितृवात्सल्य-विषये-

जे बालभावे सुतने रमाडे,
विद्या भणावे सरसुं जिमाडे ।
ते तातनो प्रत्युपकार एही,
जे तेहनी भक्ति हिये वहे ही ॥१९॥

यो हि शैशवे भृशं रमयति, मिष्टान्नादिकं नानाविधं भोजनं भोजयति । स पिता शश्वद् भक्तिकरणेन प्रत्युपकरणीयः । पितुः सेवारतस्य लोके सर्वत्र सुकीर्तिः प्रसरति ।।१६।।

मालिनी-वृत्ते-

निषध सगर-राया जे हरीभद्र चन्द्रा,
तिम दशरथ राया जे प्रसन्ना मुनीन्द्रा ।
मनक जनक जे ते पुत्रना मोह धार्या,
स्वसुत-हित करीने तेहना काज सार्या ॥२०॥

अहो ! निषधस्य नृपेन्द्रस्य, तथा सगरचक्रवर्तिनो, हरिभद्रसूरि-हरिश्चन्द्रनृपयोर्दशरथस्य, प्रसन्नचन्द्रराजर्षि-प्रमुखादेश्च स्वस्वपुत्रोपरि महान् स्नेह आसीत् । एवं मनकजनकस्य शय्यम्भवसूरेर्द्विज-कुलभूषणस्याऽसीमः पुत्रप्रेमासीत् । अतोऽमी सर्वे पुरुषोत्तमाः

पुत्रमोहवशङ्गताः पुत्राणां यदिष्टं तदेव चक्रुः ॥२०॥



११- अथ सगरचक्रवर्तिनः षष्टिसहस्रतत्पुत्राणाञ्च कथा-

इह हि सगरचक्रवर्तिनः षष्टिसहस्रपुत्रा अभूवन्। तेऽष्टापद-तीर्थस्य रक्षार्थमभितः परिखाकारं गर्तं कर्तुं प्रावर्तन्त। तदालोक्य ज्वलनप्रभनामा नागदेवस्तानवादीत्- भोः सागरा! यूयमत्र महागर्तं खनथ तेनाऽस्मद्भुवने रजांसि पतन्ति, अत एतत्कर्मणो विरमध्वम्। तदानीं तत्कथनान्ते तत्कृत्यं ते तत्यजुः।

अथ कियत्कालानन्तरं पुनस्ते दध्युः-याऽस्माभिर्महता परिश्रमेण परिखा खनिता साप्यधुना जलं विना विनङ्क्ष्यतीति सा जलैराशु परिपूरणीया। यथा कोऽप्यस्य तीर्थराजस्याऽऽशातनां न कुर्यात् इत्यवधार्य कृतैकमतिकास्ते निजदण्डयोगतः सार्धद्वा-षष्टियोजनानि यावत्तत्र स्वकृतमहागर्ते गङ्गाप्रवाहमानिन्यिरे। तेन वै कियन्तो नगरा देशाश्च जलनिमग्ना अभूवन्।

अथ गङ्गाम्भसा भृतां तावतीं परिखामालोक्य तेन वारिणा ब्रुडितप्रायं निजभुवनञ्चोद्वीक्ष्य सञ्जातकोपः स नागदेवो निजमन-स्यवदत्- अहो! मया पुरा वारिता अप्यमी न नयवर्तन्त। समीहितञ्च साधितमेव, अत एतान् भस्मसाद्विधाय सुखी स्यामिति निश्चित्य तत्रागत्य तानालोक्य विषाग्नियोगादेकदैव तान् सर्वान् भस्मसाद-करोत्।

अथ भस्मीभूतेषु सकलेषु कुमारेषु तत्सार्धमागता द्वात्रिंशत्सहस्र

नृपेन्द्राः प्रधानादयश्च दध्युः–अधुना किङ्कर्त्तव्यम् ? कुमाररक्षार्थं वयं सर्वे राज्ञा प्रेषितास्तांश्च नागदेवो भस्मीचक्रे । यद्येतद्राजानं निवेदयिष्यामस्तर्हि कथयिष्यति स यन्मृतेष्वस्मत्पुत्रेषु भवन्तो जीवन्तः कथमत्रागताः ? अतोऽस्माभिर्नृपान्तिकं न गन्तव्यमिति निश्चित्य ससैन्यास्ते ततो निर्गत्य ग्रामतो बहिरेव कुत्रापि तस्थुः ।

अत्रान्तरे चक्रिप्रबोधाय सौधर्मेन्द्रो ब्राह्मणरूपं कृत्वा मृतं बालकं स्कन्धे निधाय नगरान्तश्चतुष्पथे तिष्ठन् भृशं रुदन्नतिव्यलपत्–हा दैव ! ममैक एव पुत्र आसीत् सोऽपि सर्पदष्टो ममार । किङ्करोमि? क्व गच्छामि ? कथं वा जीवेयम् ? इत्थं विलपन् स लोकैर्भणितः– भो द्विज ! कदा कुत्र कथं वाऽहिना दष्टो मृतश्च ते शिशुः ? द्विजोऽवक्–भो भो लोका ! भवन्तस्तदुपायं जानन्ति चेत्तर्हि वदन्तु अन्यदिदानीं मुधा किं पृच्छन्ति ? लोका ऊचुर्भो विप्र ! शोकं मा कार्षीः, राजसभां व्रज । तत्र राजीकयाः षष्टिसहस्रमहाभिषग्वरास्तिष्ठन्ति । तेऽवश्यमेनं जीवयिष्यन्ति ।

अथ राजद्वारि समेत्य स भृशं विलपन् रुदंस्तस्थौ । अथ नृपाहूतः स सभामागत्य सर्वं राजानं समाख्यत् । तदा चक्रवर्त्युवाच–भो वैद्याः ! यूयं कमप्युपायं कुरुत यथैष मृतो बालको द्रुतं जीवेत्, तच्छ्रुत्वा सर्वे वैद्याश्चिन्तोदधौ ब्रुडिताः । यद्वयं मृतं केनोपायेन जीवयामः । पुनस्ते चिरं विमृश्य नृपाय जगदुः–भो राजन् ! यस्य गृहे कदापि कोऽपि न मृतो भवेत्तद्गृहचुल्लिकाभस्म यद्यागच्छेत् तर्हि मृतोऽस्य विप्रस्य शिशुः पुनर्जीवेत् ।

अथ नृपादेशाद्बहवो लोकाः प्रतिगृहं गत्वा तादृशं भस्म

मार्गयामासुः परं कुत्रापि तन्न लेभिरे । ततो राजा स्वयमेव मातुः पार्श्वमागत्य तदयाचत, परं माता जगाद- हे पुत्र ! तव पितैव मृतोऽस्ति, राज्ञापि तदुक्तं साधु मेने । पुनश्चक्रवर्त्ती सभामागत्य तदीयशोकापनोदाय द्विजमेवमुवाच- हे द्विज ! संसारचक्रे समागतो जीवः सर्वोऽपि म्रियत एव । यदेतज्जगदनित्यं गीयते, भावी केनाऽपि रोद्धुं न शक्यते, अतः शोकं त्यज, अस्य चोत्तरक्रियां विधेहि ।

तच्छ्रुत्वा द्विजो जगाद-'*परोपदेशे पाण्डित्यं, सर्वेषां सुकरं नृणाम्*' इत्यस्योदाहरणं मा भूः यदुदीरितं तत्त्वयाऽपि परिपाल्यमेव । भवतामपि षष्टिसहस्रपुत्रा नागदेवेन भस्मसात्कृताः । अथैतद्वज्रपातोपमगिरमाकर्णयन्नेव नृपेन्द्रो मूर्च्छामापन्नो विचेतनो भूमौ पपात । तदनु कृतनानाविधशीतलोपचारेण लब्धचेतनो भृशं शोचन् विलपंश्च चक्रवर्ती प्रकटितस्वरूपेणेन्द्रेण गतशोको विदधे । ततः स्वर्लोकमागात् । ततः सगरचक्रवर्ती निजपौत्राय भगीरथाय सेनाऽऽधिपत्यमदादिति पुत्रमोहाधिकारो दर्शितः ।

१२-अथ शय्यम्भवसूरितत्पुत्रमनकयोः कथा-

यथेह पुरा श्रीवीरप्रभोः पट्टे श्रीसुधर्मस्वामी स्थापितस्तत्पट्टे श्रीजम्बूस्वामी, तत्पट्टालङ्कारी श्रीप्रभवस्वाम्यभूत् । *स हि प्रान्ते निजपट्टालङ्कारियोग्यं कमपि यदा जिनशासने नाऽपश्यत्तदा लब्धिप्रयोगेण शय्यम्भवनामानं द्विजवरं यज्ञं विदधतं सूरियोग्यतमं मत्वा* तत्प्रतिबोधाय द्वौ मुनी तत्पार्श्वे प्राहिणोत् । तौ तत्र गत्वा जगदतुः- "अहो ! कष्टं महाकष्टं तत्त्वं न ज्ञायते त्वया" तयोरेतद्वचो निशम्य शय्यम्भवोऽपृच्छत्- भो मुनी ! युवाभ्यां किमुच्यते ? तावूचतुः-

आवामन्यन्न किमप्यवोचाव । ततो यज्ञस्तम्भुत्पाट्य तदधः श्रीजिनेन्द्रबिम्बं तौ मुनी अदर्शयताम् । ततस्तेन संजातप्रतिबोधः स्वपत्नीं गर्भवतीं हित्वा शय्यम्भवः प्रवव्राज । निरतिचारं चारित्रमवन् शिक्षितसाध्वाचारविचारोऽनुक्रमादाचार्यपदमाप ।

इतश्च गृहे तत्पत्नी नवमे मासि पुत्रं प्रासोष्ट, तदीयं नाम 'मनक' इति चक्रे । लोका ऊचुः–यदीदानीमस्य पिता गेह अभविष्यत्तर्हि सम्यग् जन्मोत्सवमकरिष्यत् ।

अथाऽनुक्रमेण वर्द्धितः संस्कृतश्च स शिशुर्मातुर्मुखात्पितुः स्थितिं निशम्य मातरमापृच्छ्य यत्र नगरे तत्पिता शय्यम्भवसूरि-रासीत्तत्रागात् । तत्र च तस्मिन्नवसरे स्थण्डिले गच्छतस्तस्य मात्रोक्तसुलक्षणेन तं स्वपितरमुपलक्ष्य तच्चरणे स मनकशिशुः पपात । तदा सूरिः श्रुतज्ञानयोगात्तमुपलक्ष्य पृष्टवान्– भवान् कोऽस्ति, कुत आगम्यते ? मनकोऽपि स्ववृत्तमाद्यन्तं तस्मै निवेदितवान् । सूरिणोक्तम्– भो वत्स ! त्वया कस्याऽप्यन्यस्याऽग्रे एष आवयोः संबन्धो न वाच्यः, पुत्रोऽवक्– तथास्त्विति ।

अथ तदैव स्थण्डिलान्निवृत्तः सूरिस्तमुपाश्रये समानीतवान् पुनस्तं शीघ्रमेव दीक्षां ददौ । ततस्तत्राऽप्यागमज्ञानेन तस्यासन्नकालं ज्ञात्वा दध्यौ–आयुश्चास्यात्यल्पीयः । अनेन गतायुषा किमपि पठितुं न शक्यते । अतस्तदुद्धारहेतवे प्रातरारभ्य सन्ध्यापर्यन्तं दशभिरध्यय-नैरलङ्कृतं दशवैकालिकं सूत्रं निर्मितवान् । तच्च षड्भिर्मासैः सोऽध्यगीष्ट संपूर्णं, ततः क्षीणायुः स ममार ।

श्रावकाश्च तस्याग्निसंस्कारं विधायोपाश्रयमैयुस्तत्रावसरे

श्लोकं पठतस्तस्य सूरेर्नयनाभ्यामश्रूणि निर्जग्मुः। ततः सङ्घोऽपृच्छत्- स्वामिन् ! चतुर्दशपूर्वधारिणस्तवेदृशो मोहः कुतः ? गुरुरवक्- भो भव्याः ! स मे पुत्र आसीत्तेन हेतुना तस्मिन्ममेदृशो मोह उत्पेदे। तदाकर्णयन्तः साधव ऊचुः- महाराज ! यदेवं पुराऽस्माभिर्ज्ञातं चेन्न तेन मलमूत्रष्ठीवनादिन्यासमकारयाम। गुरव ऊचुः- भोः साधवः ! यद्यसौ साधूनां वैयावृत्यादिकं न कुर्यात्तर्हि कथमस्येष्टं सिध्येत्।

अहो ! पश्य पश्य यदीदृशां श्रुतकेवलिमहापुरुषाणामपि सुतस्नेह ईदृशोऽजायत, तर्हि छद्मस्थजीवानां तदुद्गमो भवेदत्र किञ्चित्रम् ? अतो मोहः श्रेयोऽर्थिभिः सर्वथैव त्याज्यः। तस्मिंस्त्यक्ते सत्येव जीवाः सुखिनो जायन्ते। अन्यथाऽस्मिन्संसारेऽतिभ्रमन्ति मुह्यन्त्येव। अनेन प्रबन्धेन पितापुत्रयोरीदृशः स्नेह इति ज्ञातव्यम्।

अथ ७-पुत्रवर्णन-विषये स्वागता-छन्दसि-

माय ताय पद पंकज सेवा,
जे करे तस सुपुत्र कहेवा।
जेह कीर्ति कुल लाज वधारे,
सूर्य जेम जगि तेज सवारे ॥२१॥

यथेह विनयवान् सुपुत्रो नित्यं मातापितरौ सेवते, तथा कुलवान् लज्जालुर्भवति। तस्य सर्वत्र सुकीर्तिः प्रख्यातिमेति, कुलं शोभयति सूर्य इव तेजस्तस्यैधते ॥२१॥ ईदृशः सुपुत्रः कोऽभूदिति जिज्ञासोदयादाह-

शालिनी-वृत्ते-

गंगापुत्रे विश्वमां कीर्ति रोपी,

आज्ञा जेणे तात केरी न लोपी ।
ते धन्या जे अंजना पुत्र जेवा,
जेणे कीधी जानकीनाथ सेवा ॥२२॥

पुरा गङ्गापुत्रो भीष्मपितामहः पितुरादेशे स्थित्वा जगत्यचलं यशस्तम्भं समारोपितवान् । एवमञ्जनापुत्रो हनुमान् सीतापतेः सेवारतो लङ्कां भस्मसादकरोत् । श्रीरामचन्द्रस्य दौत्यमभजत प्रान्ते च हनुमान् कुमारो मोक्षं गतवान् । ईदृशः सुविनीतः सुपुत्रः प्राक्तनपुण्यैरेव प्राप्तुं शक्यते । ईदृशः सुपुत्र एव सर्वैः सत्पुरुषैर्धन्यवादार्हो जायते । अञ्जनाया हनूमतस्तत्पितुश्च सविस्तरं कथानकमत्रैव धर्मवर्गे सज्जनतोपर्येकविंशतितमेऽञ्जनाप्रबन्धे लिखितमस्ति, तत एव द्रष्टव्यम् ॥२२॥

१३-अथ सुपुत्रोपरि गाङ्गेयकुमारस्य कथानकम्-

पुरा किलेह भारते शान्तनुनामा राजा गङ्गानाम्नी तस्य पत्नी चाऽऽसीत् तयोर्गाङ्गेयनामा पुत्रो जज्ञे । अथैकदा नृपो वने क्रीडितुं गच्छन् पथि गङ्गानदीतीरे समुपाविशत् । तावत्तत्र नद्यां पोतं वाहयन्तीमतिरूपवतीं तारुण्यशालिनीं धीवरसुतामपश्यत्तस्याञ्च महीपतेः शान्तनोर्महान् राग उदियाय । तद्रूपमोहितः स एकपदमपि गन्तुं न शशाक । तथापि कथमपि स्वालयमागत्य मन्त्रिणमाहूय तद्वृत्तमवदत्- भोः प्रधान ! त्वं तत्र याहि । तं धीवरं तथा कथय यथा स निजपुत्रीं सत्यवतीं रत्नवतीं मे दद्यात्तां विना किमपि मे न रोचते ।

अन्यथा मम जीवितेऽपि संशयमवेहि ।

अथ तदैव मन्त्री तदन्तिकमागत्य धीवरं कन्यामयाचत । सर्वं निशम्य स मत्स्यजीवी बभाषे– हे प्रधान ! तवोक्तं सत्यमस्ति । इमां कन्यामपि दित्सामि परन्तु तव स्वामिनो राज्ञो गाङ्गेयनामैकः पुत्रो विद्यते, स एव राज्यं ग्रहीष्यति । मदीयदौहित्रो राज्यं न प्राप्स्यति, मम पुत्र्यपि यावज्जीवं सपत्नीदुःखेन निजतनयस्य राज्यानधिकारित्वेन च दुःखमेवानुभविष्यति । अतो राजा मदीयदौहित्राय राज्यमिदं प्रदातुमिदानीमङ्गीकुर्यात्तर्हि सुखेन तस्मै पुत्रीमिमामहं दद्याम् । अन्यथा नेति तद्वचः श्रुत्वा तत आगत्य नृपाय सर्वं व्यजिज्ञपत् । ततस्तदतिदुष्करं मत्वा शान्तनुः किङ्कर्तव्यतामूढो नितरामौदास्यमभजत् ।

अथ सभायामासीनमुदासीनं पितरं दृष्ट्वा गाङ्गेयोऽपृच्छत्– हे पितः ! अद्य त्वं विच्छायवदनः कथं लक्ष्यसे ? तव किमभूत्तन्मे कृपया ब्रूहि, यदहं तत्प्रतिक्रियां कुर्याम् । अथ राज्ञा तत्स्वरूपे यथावत्कथिते गाङ्गेयोऽवदत्–एतदतीव सुकरं वेद्मि । अहं सर्वसमक्षं कथयामि, तत्पुत्राय राज्यप्रदानमङ्गीकुरु पुनस्तां परिणीय सुखी भव । इत्थं भाषितेऽपि नृपेण न विश्वस्तमितीङ्गितज्ञो गाङ्गेयस्तत्कालमेव सकललोकसमक्षं पितुर्विश्वासोत्पादनाय स्वपुंल्लिगमच्छैत्सीत् । तदत्याश्चर्यं वीक्षमाणाः सकलाः जना विस्मयाविष्टा बभूवुः ।

ततः स धीवरो नृपाय सुतामददत तस्यां शान्तनोः पुत्रावभूतां तयोर्ज्यायान् पुत्रो राज्यमलभत । पुनः कनीयान् यौवराज्यमगात्तेन गाङ्गेयस्य जगति महती सुकीर्तिः पप्रथे । ईदृशो वशंवदः सुपुत्रः पूर्णभाग्यभाजामेव जायते । किञ्चेत्थं पितुर्मनोवाञ्छितपरिपूर्णकरणादेव

लोकैः सत्पुत्रतया कीर्त्यते ।

त्रोटक-वृत्ते-

इम काम विलास उलासत ए,
रसरीति रुचे अनुभावत ए ।
जिम चन्दन अंग विलेपत ए,
हिय होय सदा सुख संपत ए ॥२३॥

इत्थं येषाञ्चेतसि मदनविलासोल्लासः प्रादुर्भवति । यथावत्तदास्वादयतां सरसानां पुंसां श्रीखण्डपङ्कद्रवानुलेपनमिवाङ्गेषु सदैव निःसीमसुखानुभूतिरुत्पद्यते ॥२३॥

इति सर्वहितेच्छुकेन पण्डित-श्रीकेसरविमलगणिना
भाषाकवितामयविरचितायां ततः
श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-साहित्यविशारद-विद्याभूषण-
श्रीमद्विजयभूपेन्द्र-सूरीश्वरेण सरलसरससंस्कृतसंकलितायां
सूक्तमुक्तावल्यां तृतीयः कामवर्गः समाप्तः ॥

अथ चतुर्थो मोक्षवर्गः प्रारभ्यते

इह संसारे प्राणिनां मोक्षाधिगमे ये हेतवः सन्ति तान् दर्शयति-

उपजाति-छन्दसि-

ग्राह्यः कियन्तः किल मोक्षवर्गे, कर्मक्षमासंयमभावनाद्याः ।
विवेकनिर्वेदनिजप्रबोधा, इत्येयमेते प्रवरप्रसङ्गाः ॥१॥

तत्र मोक्षः १, कर्म २, क्षमा ३, संयमः ४, अनित्याद्या द्वादशभावनाः ५, रागद्वेषौ ६, सन्तोषः ७, सदसद्विवेकः ८, निर्वेद-वैराग्यं ९, चाऽऽत्मबोधः १०, एते दश सद्विषया मोक्षहेतुभूता अस्मिन्मोक्षवर्गे क्रमेण वर्ण्यन्ते ॥१॥

अथ १-मोक्ष-विषये-

मालिनी-छंदसि-

इह भव सुख हेते के प्रवर्ते भलेरा,
परभव सुख हेते जे प्रवर्ते अनेरा ।
अवर अरथ छंडी मुक्ति पंथा अराधे,
परम पुरुष सोई जेह मोक्षार्थ साधे ॥२॥

इह जगति लौकिकं सुखजातं प्रायशः सर्व एव समीहन्ते, कियन्तः सन्तो जीवाः पारमार्थिकस्याऽपि सुखस्य कामयितारः सन्ति, परन्तु ये प्राणिनो लौकिकलौकिकोत्तरं सुखद्वयमपि त्यक्त्वा मोक्षमेव वाञ्छन्ति, तदर्थमेव यतन्ते, त एव धन्यतमाः कथ्यन्ते, जम्बूस्वामिशालिभद्रादिवत् ॥२॥

तजिय भरत भूमी जेण षट्खण्ड पामी,

शिव पथ जिण साध्यो सोलमे शांतिस्वामी ।
गजमुनि सुप्रसिद्धा जेम प्रत्येक बुद्धा,
अवर अरथ छंडी धन्य ते मोक्ष-लुद्धा ॥३॥

तदेव दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह-इहैव भरतक्षेत्रमध्ये पुरा किल षट्खण्डात्मिकामिमां वसुधां विहाय षोडशस्तीर्थङ्करः श्रीशान्तिनाथ-स्तथाऽन्ये तीर्थङ्करा, भरतादिचक्रवर्तिनो, मोक्षमार्गमसाधयन्नेवं गजसुकुमालप्रमुखा, जगति सुप्रसिद्धाः करकण्डुनम्यादयः प्रत्येकबुद्धा, भव्याः प्राणिनः सर्वमिदं पुत्रमित्रकलत्रधनादिकं त्यक्त्वा मोक्षायैवा-ऽयतन्त ॥३॥

अथ २-कर्म-विषये-

करम नृपति कोपे दुःख आपे घणेरा,
नरय तिरिय केरा जन्म जन्मे अनेरा ।
शुभ परिणति होवे जीवने कर्म ते वे,
सुर नरपति केरी संपदा सोइ देवे ॥४॥

अस्मिन् लोके यस्मै जीवाय कर्मरूपोऽसौ राजा प्रकुप्यति तस्मै प्राणिने नारकीं तिर्यग्योन्युद्भूतां यातनां नानाविधां पृथक् पृथगेव प्रयच्छति । यदा पुनः शुभपरिणामिकर्मोदेति तदा तस्मै जीवाय दैवीं मानुषीं चेन्द्रनरेन्द्रश्रियं प्रदत्ते । अतो जीवस्य सुखदुःखादिभोक्तृत्वे कर्मण एव प्राधान्यमस्ति ॥४॥

करम शशि कलंकी कर्म भिक्षू पिनाकी,
करम बलि नरेन्द्रा प्रार्थना विष्णु राँकी ।
करम वश विधाता इन्द्रसूर्यादि होई,

सबल करम सोई कर्म जेवो न कोई ॥५॥

कर्मयोगादेव शशी कलङ्की कीर्त्यते, कर्मप्राबल्यादेव पिनाकी-शम्भुर्भिक्षुर्गीयते, कर्मयोगादेव रङ्कीभूय विष्णुना वामनीभूतेन बलिनृपः प्रार्थितः-याचितः, तद्योगादेव कदाचिद्रङ्कतां, कदाचिच्छ्रीमत्त्वं, एवं कियन्तो बलिनः, केचन निर्बलाः, एके नरेन्द्राः, अपरे रङ्काः, अन्ये मूर्खाः, पुनरपरे विद्वांसः, सर्वमेतत्कर्मयोगादेव सुखदुःखादि बहुविधं फलं जीवोऽनुभवन् संसाररङ्गमण्डपे नटवन्नृत्यति। अतः प्रायेण कर्मणः षड्दर्शनेऽपि सर्वतो मुख्यत्वं सिद्ध्यति।

अथ ३-क्षमागुण-विषये-

दुरित भर निवारे जे क्षमा कर्म वारे,
सकल सुख सुधारे पुण्यलक्ष्मी वधारे।
श्रुत सकल आराधे जे क्षमा मोक्ष साधे,
जिण निज गुण वाधे ते क्षमा कां न साधे ? ॥६॥

अहो ! या क्षमा कृतदुरितजालं विलोपयति, किञ्चाग्रेतन-कर्मसन्ततिं निरोधयति, सकलसुखसम्पच्छ्रियमनुभावयति, शुक्लपक्षे शशिनः कलामिव गुणश्रियं वर्द्धयति, तथा जीवान् श्रुतज्ञानाराधने प्रवर्तयति, भव्यान्मोक्षपथे समारोपयति, पुनरसौ निजगुणान् ज्ञानदर्शनचारित्ररूपान् भासयति, तामेनां क्षान्तिं लोकाः विशेषतः सहर्षं कथं न धरन्ति ? अवश्यमेव तां सर्वार्थसाधनीं क्षमां धृत्वा सुखिनो जायन्तां सर्वे भव्यजनाः ॥६॥

अथ क्षमागुणमाद्रियमाणजनतोपरि यथा-

सुगति लहि क्षमाये खंधसूरीस सीसा,

मुगति दृढप्रहारी कूरगण्डू मुनीसा ।
गजमुनिस खमाए मुक्तिपंथा आराधे,
तिम सुगति खमाए साधु मेतार्य साधे ॥७॥

पुरा कस्यचित्खन्धकसूरेः शिष्याणां पञ्चशती क्षमयैव मोक्षमाप्तवती। स्वयन्तु क्षमागुणं त्यजन् दुःखसन्ततिमगात्। पुनर्दृढ-प्रहारी कूरगडुनामा मुनिश्च क्षान्त्यैव कैवल्यज्ञानमाप्य मुक्तावभूताम्। एवं गजसुकुमालमेतार्यमुनिवरौ क्षमागुणप्रयोगादन्तकृत्कैवल्यवन्तौ शिवसुखास्वादकावभवतां, एतद्गजसुकुमालमुनेः कथा धर्मवर्गे त्रयोविंशतितमे प्रबन्धे दर्शिताऽस्ति शेषाश्च ताः कथा अत्रैव क्रमशः दर्श्यन्ते-

१-क्षमया मुक्तिमधिगतानां पञ्चशतशिष्याणामक्षमया दुःखपारम्पर्यमाप्तस्य स्कन्धकसूरेश्च कथा-

पुरा कान्तिपुरनामनगरे जितशत्रोः क्षोणिपालस्य खन्धकाभिधः कुमारः पुरन्दरयशाभिधाना कन्यैका चासीत्। राज्ञा सा पुत्री दण्डकेन तदनुरूपेण राज्ञा परिणायिता।

अथैकदा दण्डकनृपेण कस्मैचित्कार्याय प्रेषितो महानास्तिकः पालकनामा मन्त्री जितशत्रुनृपस्य सभामागत्य राजानं प्राणमत्। तत्रावसरे प्रसङ्गवशात्प्रस्तुतायां धर्मचर्चायां खन्धकराजकुमारेण स पालको विजिग्ये, तेन पालको मनसि नितान्तमखिद्यत, परं तदानीं किमपि प्रतिकर्तुं नाऽशक्नोत्। अथ राजकार्यं संपाद्य स पालकः स्वनृपान्तिकमाययौ।

ततः कतिपयसमयानन्तरं तत्रोद्याने विंशतितमतीर्थङ्करो मुनिसुव्रतस्वामी समवससार। तदैवागत्य वनपालो राज्ञे गुर्वागमन-वर्धापनं ददौ। तस्मै तुष्टो राजा घनं धनमदात्ततः सचतुरङ्गसैन्यो परिवारपरिवृतो नृपालः खन्धककुमारेण सह महामहेन गुरुवन्दनार्थं तत्रागात्। यथावत्तमभिवन्द्य तदाज्ञप्तः स्वोचितस्थाने न्यषीदत्। भगवन्मुखारविन्दतो धर्मदेशनां श्रुत्वा खन्धककुमारः प्रत्यबुध्यत। पुनस्तत आलयमागत्य मातापित्रोराज्ञया कुमारः पञ्चशतराजकुमारेण सह प्रवव्राज।

अथ गुर्वन्तिके निवसन्निरतिचारं चारित्रं पालयन् खन्धकमुनि-र्दण्डकादिदेशेषु विहर्तुं गुरुमयाचत। गुरुणोक्तम्- मुने! तत्र मा गाः यतस्ते प्रबलरिपुस्तत्र वर्तते, स प्राणान्तिकं कष्टं ते दास्यति। स पुनर्गुरुमपृच्छत्-हे भगवन्! अहमाराधको विराधको वाऽस्मि? गुरुरवदत्- भो मुने! त्वां विना सकला मुनय आराधकाः सन्ति।

तथापि बलवद्भवितव्य-प्रेरितः खन्धकः साधुः पञ्चशतमुनि-गणानुगतः प्रतस्थे स साधुः सपरिवारः क्रमशस्तन्नगरमागतवान्। तच्छ्रुत्वा प्रागेव तत्रोद्याने पालको मन्त्री प्रच्छन्नतया बहुस्थलेषु नानाविधशस्त्रास्त्रजालं न्यासितवान्। सोऽपि मुनिस्तत्रैवोद्याने समायातस्तदागमनं श्रुत्वा वन्दितुं सपौरः सकुटुम्बो राजा तत्रागत्य भक्त्या तान्सर्वान्साधून् विधिवदभिवन्द्य धर्मदेशनामाकर्ण्य स्वस्थान-मायायौ।

अथ स दुष्टात्मा पालको राजानमेवमवदत्- हे स्वामिन्! एतान् साधून् माऽवेहि, यदमी तत्रोद्याने भूमितले नानाविधानि शस्त्रा-

स्त्राण्यसङ्ख्यानि गोपयामासुः । अतोऽनुमीयते लक्ष्यते च यदसौ खन्धकस्ते श्यालो मुनिवेषोऽत्रागतः सङ्ग्रामे त्वां विजित्य तावकं राज्यं ग्रहीष्यति । अत्र संशयश्चेत्तत्र गत्वा सङ्ग्रामोपयोगीनि शस्त्राऽस्त्राणि भूमौ गुप्तरूपेण संस्थापितानि पश्य ।

ततो राजाऽवक्- भोः प्रधान ! यथा त्वं भाषसे, तथा तत्र गत्वा मां दर्शय, ततोऽहं तवोक्तं सर्वं सत्यं वेदिष्यामि । तेनोक्तम्- तर्हि विलम्बं मा कुरु, द्रुतं व्रज । ततो राजानं तत्र नीत्वा तान्मुनीनन्यत्र कृत्वा स्वनिहितशस्त्राऽस्त्राणि समदर्शयत् । तदालोकनतो भीतिमापन्नो राजा तमेवमवादीत्-एतद्विषये यथेच्छसि, तथा कुरु मां मा पृच्छ ।

ततो मुदितः स दुष्टस्तदैव तत्रागत्य पीलनयन्त्रमानाय्य सर्वान् साधूंस्तत्राकार्य क्रमश एकैकं तत्र यन्त्रे नवनवत्यधिकचतुःशत-मुनीनपिनट् । सर्वेऽमी मुनयश्चतुर्विधमाहारं प्रत्याख्याय समाधिना क्षान्तिं वहन्तोऽन्तकृत्केवलिनो भवन्तो मोक्षमीयुः । यदा स पापीयान् जीव एकमेवाऽवशिष्टं लघुसाधुं पीलितमैच्छत्तदा खन्धको मुनिः क्षान्तिमत्यजत्कथितञ्च- रे पापिष्ठ ! प्रथमं मामेव यन्त्रेऽत्र निष्पीलय, पश्चात्स्वेच्छानुकूलं विधातव्यम् । तेनोक्तम्- नहि नहि प्रथममेनमेव क्षुल्लकं निष्पील्य पश्चात्त्वां पीलयिष्यामि । तदा तं क्षुल्लकमुनिं पील्यमानमालोक्य सर्वथा क्षमां त्यजन् स्कन्धकसूरिर्गुरूदितं वचः स्वभवितव्यञ्च सत्यतां नयन्नहं मृत्वा दण्डकदेशदाही स्यामिति निदानमकरोत् । पीलनसमये लघुरपि साधुः क्षमयाऽन्तकृत्केवली-भूतोऽक्षय्यं शिवसुखमाप्तवान् । कृतनिदानः खन्धकाचार्योऽपि क्षमा-त्यागतः पालकेन यन्त्रे पीलितो दुर्ध्यानेन मृत्वाऽग्निकुमारोऽभवत् ।

अत्रान्तरे पलभ्रान्त्या शोणिताऽऽर्द्ररजोहरणमादाय गृध्र उदडीयत। तच्चाकस्मात्पुरन्दरयशाराज्ञ्या अग्रेऽपतत्। तदालोक्य सा राजानमपृच्छत् हे नाथः ! ईदृशो मरणान्तोपसर्गः साधूनां केन पापिना कृतः परं राजा किमपि नोवाच। ततः पौरजनमुखात्पालकेन पापीयसा पञ्चशतमुनिमण्डलसहितः खन्धकाचार्यो यन्त्रे पिष्ट इति ज्ञात्वा भृशं शोचन्ती सा राज्ञी दण्डकनृपमवोचत्-भोः पापिष्ठ ! येन त्वया पञ्चशतमुनिघातः कारितस्तेन संजातमहापापस्य तव मुखावलोकनमपि न युज्यते। ततः संसारमसारं जानाना पुरन्दरयशामहिषी चारित्रमादाय श्रुतमधीत्य ततो विजह्रे।

अथ कृतनिदानस्कन्धकाचार्यजीवोऽग्निकुमारो भूत्वाऽवधिना समुद्भूतमत्सरस्तदैव दण्डकनृपतिदेशं समस्तं भस्मसाच्चक्रे। यदद्यापि दण्डकारण्यमित्युच्यते लोकैः। एतच्च वनं सम्मेतशिखरस्य मार्गे तिष्ठति। अहो ! स्कन्धकाचार्यस्य पञ्चशती शिष्यमण्डली क्षमया मोक्षमाप, स्वयन्तु तेषां गुरुर्भूत्वाऽपि क्षमात्यागान्महतीं दुःखसन्ततिमसहत। अतः सर्वैरपि श्रेयोऽर्थिभिः क्षमागुणः सादरं धार्य एव।

२-अथ क्षान्त्या मोक्षमधिगतस्य दृढप्रहारिणः कथा-

पुरा कस्यचिद् ब्राह्मणस्य पुत्रः सप्तव्यसनसमासक्तो दृढप्रहारिनामा मातापितृभ्यां गृहान्निष्कासितोऽभवत्। ततश्चौरग्राम-मागतस्तत्र चापुत्रश्चौरनायकस्तं योग्यं मत्वा पुत्रत्वेन स्वान्तिके

स्थापयामास । अथ कतिपय-समयानन्तरं पितर्युपरते स एव सकलतस्कराऽऽधिपत्यं लेभे । स कठोरहृदयः क्रूरकर्मकारी च जन्मत एवासीत्, अतोऽनन्तजीवानप्यवधीत् ।

अथैकदा सपरिवारः स कुशस्थलपुरं लुण्टितुमगात् । तत्पुरं लुण्टयित्वा कस्यचिद् ब्राह्मणस्य गृहं प्राविशत्तत्र च महता मनोरथेन क्षीरपाकं पक्त्वा चुल्ल्युपरि निधाय तत्पत्नी ब्राह्मणी पुत्रं लालयन्ती किञ्चिद्दूरमुपविष्टाऽऽसीत् । तत्रावसरे सा तद्भाण्डं स्प्रष्टुं यान्तं दृढप्रहारिणमवादीत्- अरे ! कस्त्वं ? मदीयं पाकभाण्डं मा स्पृश, यदि स्प्रक्ष्यसि तर्हि ममोपयुक्तं न स्यात्तदाकर्ण्य कुपितः स तच्छिरोऽसिना चिच्छेद । तद्वीक्ष्य स्नानं विदधद् ब्राह्मणोऽस्त्रमादाय तं हन्तुमनुपदमेव दधाव, दृढप्रहारी तस्याऽपि शिरोऽच्छैत्सीत् । पुनस्ततोऽपसरन्मार्गे गर्भवतीमेकां गामपि जिहिंस ।

तत्रावसरे गोरुदरतो बहिर्भूतमतिदीनं वत्समालोक्य तस्य हृदये दया प्रादुर्भूता तेन स भृशं पश्चात्तापमकरोत्तथाहि-धिङ् मां यदहं ब्राह्मणो भूत्वाऽपीदृशं घोरकर्म कृतवान् । हा ! हा !! मम नरके कीदृशी यातना सोढव्या भविष्यतीति ? आसाञ्चतसृणां ब्रह्म-स्त्री-गो-बालहत्यानां किं फलं भोक्ष्ये ? अथवाऽसह्यवेदनमवश्यमेवैतत्फलं भोक्ताऽस्मि, एतानि महापातकानि कदापि मां न हास्यन्ति ।

इत्थं कृतानुतापः स तदैव कृतपञ्चमुष्टिलुञ्चनः प्रथमं पुरद्वारमेत्य कायोत्सर्गध्याने तस्थौ । तदानीं तत्र तं तथावस्थं पश्यन्तः सर्वे लोकाः स एव लुण्टाकः क्रूरकर्मेदानीं पाखण्डी जात इत्युच्चरन्तस्तदुपरि केचन नरास्तु लोष्टेष्टिकोपलादिकानि क्षिपन्ति । अन्ये च महापापी-

यानिति मत्वा कृपाणादिशस्त्रास्त्रैस्तं घातयन्ति, तथापि स ध्यानं न त्यजति । इत्थमुपसर्गान् सहमानः स सार्द्धमासं तत्रैवाऽतिष्ठत्ततः स्वत एव लोकास्तदुपसर्गकरणाद्विरेमुः ।

अथ स दृढप्रहारी ततोऽप्यन्यस्मिन्पुरद्वारे समेत्य ध्यानारूढस्तस्थौ । तत्राऽपि सार्द्धमासं लोककृतपरीषहानसहत, ध्यानान्न चचाल । पुनरसौ क्रमशः तृतीयद्वारे च चतुर्थद्वारि च समागत्य ध्यानलीनोऽभवत्तत्राऽपि सार्द्धमासं लोकैस्तथैवोपद्रुतः, परमित्थं षण्मासीं क्षमागुणमाश्रित्य बहुविधपरीषहं सेहे । ततोऽस्य षष्ठे मासि केवलज्ञानमुत्पेदे ।

अहो !! कीदृशः क्षान्तिगुणो यदसौ दृढप्रहारी जगदद्वितीयक्रूरकर्मा महापापिष्ठो भूत्वाऽपि केवलं क्षमागुणयोगतोऽष्टविधकर्मक्षयं विधाय केवलज्ञानमासाद्य दुरापां मोक्षश्रियमभजत् । अन्येऽपि ये केचन क्षमागुणं धरिष्यन्ति, तेऽपीत्थमेव मोक्षसुखं शाश्वतमवश्यमेवाऽनुभविष्यति, अतो हे भव्या ! यूयमवश्यमेव क्षमागुणं धरत । यतः-

यस्य क्षान्तिमयं शस्त्रं, क्रोधाग्नेरुपशामकम् ।
नित्यमेव जयस्तस्य, शत्रूणामुदयः कुतः ? ॥१॥
श्रूयते श्रीमहावीरः, क्षान्त्यै म्लेच्छेषु जग्मिवान् ।
अयत्नेनागतां क्षान्तिं, वोढुं किमिति नेश्वरः ? ॥२॥

३-अथ क्षमागुणेन मोक्षमितस्य कूरगडुमनेः कथा-

यथा-पुरा कश्चित्कूरगडुनामा साधुर्निरन्तरमुदरपूरमाहारमोदनमभुङ्क्त । कदापि तत्त्यागं न करोति स्म, तमन्ये मुनयः

कथयन्ति- भोः ! तपसो महाफलमस्तीति सर्वे सहर्षं तपस्यन्ति । त्वन्तु कदापि न करोषि परं स शक्त्यभाववशात्तपस्यामकुर्वाणोऽप्यन्येषां तपस्विनामनुमोदनात्तत्फलमधिकमाप ।

अथैकदा संवत्सरीतः प्राग्दिन एव सर्वे साधवः द्व्यहीनमुपवासं प्रारेभिरे । तत्रावसर शासनदेवी श्राविकारूपेण तत्रागत्य प्रथमं कूरगडुमुनिमवन्दत । तदालोक्य साधव ऊचुः- हे श्राविके ! तव विवेको नास्ति । यत्त्वया तपस्विन एतान्साधून् विहाय प्रथममुदरम्भरिः कूरगडुसाधुरभिवाद्यते । तयोक्तम्- भो मुनयः ! तपस्यतां भवतामीदृशो मत्सरो न युज्यते, यतोऽस्य प्रभाते समुज्ज्वलं केवलज्ञानमुत्पत्स्यते । तस्मिन्नवसरे किलैतद्-वन्दनाय समागतेषु सुरासुरकिन्नरविद्याधरादिषु ममैतद्वन्दनाऽवसरो न मिलिष्यति । अतोऽहमद्यैव महान्तमेनं वन्दितुमागताऽस्मि ।

तन्निशम्य मत्सरी कश्चिन् मुनिरभाषत-सत्यमस्यैव केवलज्ञानमुत्पत्स्यते ? तयोक्तम्- तर्हि कस्याप्यन्यस्य तदुदेष्यति ? इति निगद्य तमभिवन्द्य सा शासनदेवी स्वस्थानमागात् ।

ततः सञ्जाते प्रभाते संवत्सरीदिवसे सत्यवसरे स कूरगडुमुनिः श्रावकागारमागत्य निजोदरपूरमोदनं प्रतिलभ्योपाश्रयमाययौ, तत्र च सर्वान्मुनीन्यमन्त्रयत् । अस्मिन्नवसरे स मत्सरी मुनिस्तत्राऽऽगत्य तस्मिन्नोदने ष्ठीवनमकरोत् । परमनेन कूरगडुसाधुना व्यचिन्ति- अद्य मया घृतं न लब्धमतोऽनेन मुनिना मदीयाहारे घृतमेव ष्ठीवितमित्थं सुभावनां भावयतस्तस्य केवलज्ञानमुदपद्यत ।

तस्मिन्नवसरे तं वन्दितुमिन्द्रादयो देवा आजगमुस्तैश्च

महामहश्चक्रे। इत्यद्भुतवृत्तमालोक्य स मत्सरी मुनिर्दध्यौ–गतेऽहनि याऽत्र श्राविका समागता सा मानुषी न किन्तु देव्यासीत्। तदनु सर्वे मुनयस्तं कूरगडुमुनिं ववन्दिरे, स्वापराधमपि क्षामितं पश्चात्तापं च वितेनुः। तेन सर्वेषामपि साधूनां केवलज्ञानमुदपद्यत।

भो लोका ! इयं कथा युष्मानिदमुपदिशति, यल्लोकैः सदैव क्षमा धार्या कदापि द्वेषभावो न विधातव्यः। किञ्च–यदि स्वस्य व्रतोपवासादितपस्यामाचरितुं शक्तिर्न भवेत्तर्हि तदनुष्ठातृणाम–नुमोदनादिभावनाऽपि विधेया, तथा तपस्विनां साधूनां च वचनं शिरसा सदैव धार्यम्। तेषामवगुणा न द्रष्टव्यास्तथा सति कूरगडुमुनिरिव भवन्तोऽपि शिवसुखमधिगमिष्यन्ति। क्षमागुणादधिकः श्रेयस्करः कोऽप्यन्यो गुणो नैवाऽस्ति।



४– अथ क्षमया कर्ममुक्तस्य मेतार्यमुनेः कथानकम्–

यथा–भवान्तरे द्वौ गोपबालकौ गाश्चारयन्तौ कुत्रचित्तरोस्तले समुपविष्टावास्ताम्। तत्रावसरे तेन मार्गेण गच्छतस्तृषातुरस्य कस्यचिन्मुनेस्तौ गोपौ पयः पाययित्वा तृषामशीशमताम्। सोऽपि मुनिस्तयोर्धर्मदेशनामदात्तेन प्रबुद्धौ तौ दीक्षां ललतुः। चारित्रं पालयतोस्तयोर्मध्ये चैकस्य साध्वाचारे घृणा जाता, यत्स्नानहस्त–पादमुखप्रक्षालनमकुर्वन्त एव मुनयो भुञ्जत इति नैष सदाचारः। एवं मनस्येव संकल्पो जातः, परं क्रियान्तु साधूनामेवाऽकरोत्। अथैकदा तौ मिथ एवं निश्चयं चक्राते यदावयोर्देवगतिमापन्नयोर्यः पूर्वं ततश्च्युत्वाऽत्र

लोके यत्र कुत्र जायेत, स देवलोकस्थेनाऽवश्यमेव प्रतिबोधनीयः ।

अथायुःक्षये कालं कृत्वा तौ देवलोके दिव्यसुखं भोक्तुं लग्नौ । तत्राऽपि दिव्यं सुखं भुक्त्वा ततश्च्युत्वा यः साधुजीवः साधुचारित्रे घृणामकरोत्, स साधुजीवो राजगृहनगरे कस्यचन मेहरनाम्न-श्चाण्डालस्य गृहे तद्भार्यामेतीकुक्षौ पुत्रत्वेन समुदपद्यत । तद्गृहसमीप-वर्तिनी काचिदेका व्यवहारिस्त्री मृतवत्साऽऽसीत् । तस्याश्चाण्डाल-भार्यया सह भगिनीवन्मिथः सख्यमासीत्ते द्वे समकालिकमेव गर्भं धृतवत्यौ । ते उभे अप्येकदा मिथो गर्भविषये समालेपतुस्तदानीं तां चाण्डालभार्याह- हे भगिनि ! त्वं मा निःश्वसिहि । प्राक्तनकर्मदोषतस्तव सन्ततिर्म्रियते, अलमत्र शोकसन्तापकरणेन । मम तु बहवः पुत्राः पुत्र्यश्च विलसन्ति । साम्प्रतमेष गर्भो मां क्लेशयत्येवातोऽहं सत्यं वच्मि, यद्यावामेकदिने पुत्रं प्रसोष्यावहे तर्हि मत्प्रसूतं चिरजीविनं पुत्रं ते दास्यामि, त्वत्प्रसूतं मृतं शिशुमहं ग्रहीष्यामि । आवामेवैतत्स्वरूपं ज्ञास्यावोऽन्यः कोऽपि न बोधिष्यति । केवलं तन्नाममात्रं मया धृतं त्वया व्याहार्यं, तदनु ते व्यवहारिस्त्रीचाण्डाल्यावेकस्मिन्नेव दिने सुतं सुषुवाते ।

अथ चाण्डालस्त्री युक्त्या प्रच्छन्नतया निजपुत्रं तस्या अदात्त-दीयकं मृतं सुतं स्वयं जग्राह । अथ पुत्रजननमाकर्ण्य व्यवहारी महोत्सवमकरोन्मेतार्य इति नाम चक्रे, पञ्चमे वर्षे च लेखशालायां प्रैषीत् । यदा स सकलकलाकुशलोऽभूत्तदा द्वादशवार्षिकं तं पुत्रमष्टाभिः स्वजातीयाभिः सुरूपाभिः सुकन्याभिः परिणाययितुं स्थिरीचक्रे । प्रवर्तितश्च तदर्थमुत्सवः स्त्रियश्च द्विसन्ध्यं धवलमङ्गलगीतं गातुं लग्नाः ।

अत्रावसरे पुराकृतसङ्केतो देवस्तत्रागत्य दध्यौ-यद्यसौ एताः कन्याः परिणेष्यति तर्हि भवाब्धेर्न तरिष्यति । अतः प्रागेवासौ मया प्रतिबोधनीय इति निश्चित्य प्रकटीभूय तं बहुधा प्रत्यबोधत, परन्तु तस्मै किमपि न रुरुचे ।

ततः स देवो मेतीशरीरे प्राविशत् । इतश्च मेती चाण्डाली रोदितुं लग्ना । अथ रुदती मेती चाण्डाली व्यवहारिगृहमागत्य मेतार्यपुत्रं निजगृहमानीतवती, भर्तारं चाऽवदत्- हे स्वामिन् ! एष मे पुत्रोऽस्ति, अस्य विवाहं व्यवहारी कथं चिकीर्षति ? एतत्स्वरूपं सर्वत्र पप्रथे । ततस्तासामष्टानां कुमारीणां पितरश्चापि चिन्तामापुः ।

पुनः प्रकटीभूय स देवो मेतार्यं रहसि जगाद- भो मेतार्य ! जातं ते परिणयनं, किमभूत् ? मेतार्यस्तमाह- भो देव ! त्वयैतदयुक्तं कृतं, तथाकरणेन ममाऽपकीर्तिः प्रसरति सर्वत्र । देव आह- मदुक्तं कथं ना कृथाः ? मेतार्योऽवक्- भोः ! तवादेशमवश्यं करिष्यामि, परमिदानीं श्रेणिकराजस्य पुत्र्या सह यथा मे विवाहो जायेत तथा कुरुष्व, ततोऽहं चारित्रं ग्रहीष्यामि । तच्छ्रुत्वा स देवस्तस्मायेकमजमदाज्जगाद च- भो मेतार्य ! एनं गृहाण, एष रत्नानि हत्स्यति, तैः स्थालं भृत्वा राज्ञ उपायनं विधातव्यम्, कन्याऽपि च याचनीया, इत्थं ते समीहितं सेत्स्यति ।

अथैवं निगद्य देवे निजस्थानं गते मेतार्योऽजमादाय निजसदनमेत्य तत्सर्वं पितरमवदत् । अथ द्वितीयदिवसे तेनाजेन रत्नानि हदितानि तै रत्नैर्भृतं स्थालमादाय मेतार्यपिता नृपसदसि समागत्य समुपढौक्य कृतप्रणामोऽतिष्ठत् । नृपेण पृष्टम्- त्वं कोऽसि ? कुत

आगतः ? किञ्च समीहसे ? तद्वद ? अथ सोऽवदत्-अहं जात्या चाण्डालोऽस्मि, अत्रैव नगरे निवसामि । ममैकः सर्वकलाकुशलोऽतिप्रियतरः पुत्रोऽस्ति तस्मै त्वं स्वसुतां विवाहविधिना देहि । इतोऽन्यत्किमपि धनादिकं न कामये । तदाकर्ण्य मुख्यं मन्त्रिणं पुत्रमभयकुमारमपश्यद्राजा ।

नृपाशयमवगत्य मन्त्री चाण्डालमभाषिष्ट- भो चाण्डाल ! त्वया कुतः प्राप्तानि रत्नान्येतानि ? तत्सत्यं वद । चाण्डालोऽवक्-मम गृहे सदैवाजो रत्नान्येव पुरीषयति । अभयकुमारो जगाद- हे पृथ्वीपते ! इयं दैवी माया प्रतीयते मानुषी नैवं संभवति । भवतु, मयाऽपि तद् द्रष्टव्यमिति विमृश्य कुमार आह- भोश्चाण्डल ! एकवारं तमजमत्रानय । इति मन्त्रिण आदेशं लात्वा तमजं तत्राऽऽनीय बबन्ध । परमत्र तु दुर्गन्धिमयं पुरीषं कृतवान्, तद्विलोक्य मन्त्रिणोक्तम्- स्वामिन् ! देवमायेयम्, नो चेदीदृग्जनो भवन्तं कथं कन्यां याचेत !

परमथाप्यस्मै कन्यादानं श्रेयस्करं न रोचते । इत्यवधार्य तमाख्यत्-भोश्चाण्डाल ! शृणु, तव पुत्राय राजा तदैव कन्यां दास्यति यर्ह्यद्यतन्यामेव रात्रौ वैभारगिरौ मूलतः शिखरपर्यन्तं सोपानावलीं तथा कुरु, यथाऽऽबालवृद्धानां गतिसौकर्यं भवेत् । तथा राजगृहनगरे योऽभितः प्राकारोऽस्ति, तं सुवर्णमयं विधेहि । तृतीयं क्षीरसागरस्य पयोऽत्र समानय । चतुर्थं गङ्गासरस्वत्योर्जलमत्रानीय तव पुत्रं स्नापय । एतत्कार्यचतुष्टयं यदि करिष्यसि तर्हि भवत्पुत्राय नृपोऽसौ कन्यां दास्यति । तदाकर्ण्य चाण्डालो गृहमागत्य तत्सर्वं पुत्रमवादीत्तस्यामेव रात्रौ स देवस्तदुदितकार्यचतुष्टयमकरोत्, गङ्गासरस्वत्यो-

र्जलेन मेतार्यं च स्नपयामास ।

द्वितीये दिवसे महता महेन स मेतार्यो राजपुत्रीं ता अष्टौ व्यवहारिपुत्रीश्च विवाहितवान् । तस्मिन्नवसरे स देवस्तत्रागत्या-ऽतिष्ठदवदच्च- किं भो ! विवाहो जातः ? अतःपरं किं विधित्ससि ? तदवसरे मेतार्योऽवदत्- भो देव ! त्वं नमस्करोमि साञ्जलिः प्रार्थये च यदहमधुना नवपरिणीतोऽस्मि । ताभिः सहेदानीं कियन्तमपि कालं सुखानि भोक्तुमनुकम्पय । देवो न्यगदत्- भो मित्र ! द्वादशवर्षाणि सुखं भुङ्क्ष्व, तदन्ते तु ग्राह्यैव दीक्षेति निगद्य देवः स्वस्थानमगमत् ।

अथाऽवध्यन्ते स देवः पुनरागात्तदापि नवभिः कन्याभिः प्रार्थितो देवस्तस्य पुनर्द्वादशवर्षाणि यावत्समयं दत्तवान् । तस्याऽप्यवसाने स देवस्तत्रागत्य मेतार्यमवोचत- भो मेतार्य ! अद्य मा विलम्बं कुरु, एतास्त्यज, चारित्रं च पालय । तदाकर्ण्य नवपत्नीः परिपृच्छ्य श्रीमहावीरप्रभोः पार्श्वमेत्य दीक्षामग्रहीत् ।

अथ स एव मेतार्यमुनिर्जिनकल्पीयमासक्षपणं विदधदेकदा पारणाकृते तत्र राजगृहनगरे कस्यचन स्वर्णकारस्य द्वारि समा-यातः । तत्रावसरे स सुवर्णकारः स्वर्णमयानष्टोत्तरशतयवान् कृत्वा तत्रैव संस्थाप्य स्वयं गृहान्तरागात् । स मुनिस्तत्रैवाऽतिष्ठत्तावदेकः क्रौञ्चपक्षी तत्राऽऽगत्य तान् सकलानपि यवान् जग्रास । पुनरुड्डीय कुक्षिभूरिभारतो दूरं गन्तुमशक्तस्तत्समीपदेश एव वृक्षोपरि तस्थौ । तत्रस्थो मेतार्यमुनिः सर्वमेतदपश्यत् ।

अथ गृहादागत्य तत्र स्थापितान् यवानपश्यन् स मुनिमाख्यत्- भोः साधो ! मयाऽत्र यवाः स्थापितास्ते न दृश्यन्ते केन गृहीताः ? अत्र

तु त्वमेवासीः, कोऽप्यन्यो नागतोऽतस्त्वयैव गृहीता नान्येन, प्रत्यर्पय। एते श्रेणिकस्य राज्ञः सन्ति, कस्याऽप्यन्यस्य नेत्थं मार्गितो मेतार्यमुनिर्दध्यौ- अहो ! यदि वक्ष्यामि तर्हि तं पक्षिणमसौ नूनं हनिष्यति, अतो मया किमपि न वाच्यम्। यद्भावि तद्भविष्यतीत्यवधार्य क्षान्त्या मौनमालम्ब्य स तत्रैव तस्थौ।

अथ बहुधा पृष्टो मार्गितो मुनिर्यदा किमपि नोत्ततार न वा तानार्पयत्तदा पुनर्भणितस्तेन- भोः पाखण्डिन् ! धर्मधूर्त्तराड् ! अहं शान्त्या मुहुस्त्वां कथयामि, त्वं मौनमाश्रित्य कथं तिष्ठसि, सत्वरं देहि नो चेद्धनिष्यामि। परं स क्षान्तशिरोमणिर्दध्यौ-यत्सत्यं वदानि तर्हि जीवो हिंसितो भवति। अतो मया परजीवजीवातवे नश्वरमेत-च्छरीरमपि देयमेवेत्थं विचिन्त्य तूष्णीं स्थितस्य मेतार्यमुनेः शिरः प्रकुपितः पश्यतोहर आर्द्रचर्मणा दृढं बद्ध्वाऽसह्याऽऽतपे चिरं समतिष्ठिपत्। किञ्चिद्विरम्य समाकृष्टे चर्मणि तद्वेदनातो मेतार्य-मुनेर्नयने युगपदेव निपेततुः। तदापि समतां भावयन् क्षान्त्या तद्वेदनां सहमानो मेतार्यमुनिरन्तकृत्केवलीभूत्वा मोक्षमधिजगाम।

तदैव कोऽप्येकः काष्ठभारवाही तद्वृक्षमूलमवष्टम्भ्य काष्ठभारं दधार। तदाघातभीत्या स क्रौञ्चपक्षी पुरा निगीर्णान् यवान् सर्वानवमत्, तदालोक्यातिभीतः स दध्यौ-अहो ! मम कीदृशं दुर्दैवमागतमेष मुनिः श्रेणिकनरेन्द्रस्य जामाताऽस्ति। यं वीक्ष्य प्रधानादयः सर्वे प्रणमन्ति, स एव मया निहतः। महाननर्थो जात। एतद् घोरकर्म सपरिवारं मां विनाशयिष्यति। इदानीं साधुवेष एव त्राता भविष्यति नान्यः कोऽपीति विमृश्य सकुटुम्बः स स्वर्णकारः साधुवेशं विधाय तत्रोपाविशत्।

कियत्कालानन्तरं तन्मुनेस्तादृशवधादिवृत्तमाकर्ण्य कुपितो राजा भटानेवमादिशत्- भो भो भटा ! यूयं तत्र गत्वा स्वर्णकारं बद्ध्वा तमत्राऽऽनयत । तेऽपि तत्रागत्य सर्वान्मुनीनेवाऽपश्यन् । पुनस्ते नृपान्तिकमागत्य जगदुः- स्वामिन् ! तत्र तु सर्वे साधव एव दृश्यन्ते, स स्वर्णकारस्तु कुत्रापि न दृश्यते ।

अथ स्वमेव श्रेणिको राजा भटैः सह तत्रागत्य तानखिलान्मुनिवेषेणोपविष्टानालोक्य जगाद- अरे पश्यतोहर ! त्वया साधु कृतम्, यदीदृशं कुकृत्यं कृत्वाऽपि चारित्रं जग्राह । अन्यथैतदन्यायफलभोगं विना तव मुक्तिः कथं स्यात् ? पुनर्नृपादयस्तान् धृतसाधुवेषानभिवन्द्य स्वालयमीयुस्तेऽपि चारित्रं पालयन्तः सुखिनोऽभूवन् । इत्थं मेतार्यमुनिवर्यस्याऽधिकारः क्षमोपरि निगदितः । उक्तञ्चोपदेशमालायाम्-

जो कोंचगावराहे, पाणिदया कोंचगे तु णाइक्खे ।
जीवियमणपेहंतं, मेयज्जरिसिं णमंसामि ॥१॥
णिप्फेडियाणि दोण्णि वि, सीसावेढेण जस्स अच्छीणि ।
ण य संजमाउ चलिओ, मेयज्जो मंदरगिरि व्व ॥२॥

अहो ! पूर्वभवे साधुवेशे यद्गोपालसाधुर्मनस्यपि साध्वाचारघृणामकरोत्तेन हेतुना तस्याऽत्र जन्मनि चाण्डालगृहे जन्माऽभूत् । अतो वच्मि कैश्चिदपि कदाचिदपि चारित्रे घृणा नैव विधातव्या, किञ्चमेतार्यमुनिः पक्षिजीवानुकम्पोदयात्स्वप्राणातिपातेऽपि क्षमां न जहौ तेन स मोक्षमाप । इत्थमन्यैरपि क्षमाधर्मं विधातव्यं तेन मेतार्यमुनीश्वरवदक्षय्यं सुख प्राप्तव्यं सर्वैर्भव्यवर्यैरिति ।



अथ ४-संयम-विषये स्वागता-छन्दः-

पूर्व कर्म सवि संयम वारे,
जन्म-वारिनिधि पार उतारे ।
तेह संयम न केम धरीजे ?,
जेण मुक्ति-रमणी वश कीजे ॥८॥

अथ चारित्रशब्दस्य कोऽर्थ इति जिज्ञासायामाह-यच्चितं-सञ्चितमष्टविधं जन्मजन्मान्तरीयमशुभं कर्म नाशयति तथा भव-सागरतस्तारयति तदिदं चारित्रं सर्वैरेव सादरं कथं न ग्राह्यं ? येन शाश्वतसुखदायिनी शिवसुन्दर्यपि वश्या भवेत् ॥८॥

तुङ्ग शैल बलदेव सुहायो,
जेण सिंह मृग बोध बतायो ।
तेम संयम लहीय अरायो,
जेण पंचम सुरालय पायो ॥९॥

पुरा संयमादधिगतलब्धियोगाद्योऽत्र बलदेवमुनिस्तुङ्गनाम-गिरेरुपरि तिष्ठन् सिंहमृगादिकान् कियतो जीवान् प्रतिबोध्य पुनरेतादृशैः पशु-पक्ष्यादिभिर्विवेकविकलैस्तथा घातुकैर्व्याघ्रसिंहादिभिश्च मांसा-दिकमसदाहारमत्याजयत्, पुनरेतादृशान् जीवानपि सम्यक्त्व-लसितान् धर्माराधकान् कुर्वन् स्वयञ्चापि सम्यक् संयममाराध्य पञ्चमब्रह्मदेवलोकसुखं सुचिरमन्वभूत् ॥९॥

५-अथ सिंहादिपशूनपि प्रतिबोधयतस्तस्य बलदेवमुनेः कथानकम्-

यथैकदा वने कृष्णे कालं गते सद्वैराग्येण सह बलदेवश्चारित्रं ललौ, परमेतस्य तनुश्रियाऽनुपमयैकदा मध्याह्नसमये गोचर्यै नगरमागच्छतः कूपान्तिके स्थिता काचित्कान्ता तद्रूपमोहमुपगता तेनान्यमनस्का घटभ्रान्त्या निजशिशोः कण्ठे रज्जुं दृढं बद्ध्वा यावदधः पातयितुमुद्यताऽभूत्। तावत्तदद्भुतमकार्यं विलोक्य बलदेवमुनिस्तामवोचत- अरे ! एतत्किं करोषि ? ततस्तया तदबोधि। ततः सा शिशोर्गलाद्रज्जुमपनीय घटमबध्नात्।

स मुनिरपि "मद्रूपावलोकनादियं स्त्रीदमकृत्यमकरोत्, अतो मया नगरे नागन्तव्यं, वन एव यदा यल्लप्स्यते, तदा तेनाहारेण पारणं विधातव्यमन्यथा तप एव कर्तव्यमिति" निश्चित्य वन एव ततःप्रभृत्यतिष्ठत्। अथातुलतपोबलप्रभावतः शशक-हरिण-सूकर-गज-व्याघ्र-सिंहादयोऽपि तदीयदेशनां प्रत्यहमाकर्णयन्तो मांसादिभक्षणं प्रत्याचख्युः।

अथैकदा तत्र कश्चित्काष्ठच्छेदी समुपागत्य सत्काष्ठानि छेत्तुं लग्नः। सञ्जाते च मध्याह्नेऽर्द्धच्छिन्नमेकमहातरुं समाश्रित्य तदधः खाद्यं पक्तुं लग्नः। तत्र पाकधूम्रमालोक्य कश्चन शुभोत्तरसमयः सुश्राद्ध इव मृगो मुनेरग्रे पुच्छमकम्पयत्। तदा मुनिरपि पात्रमादाय तेन सह तत्राऽऽगात्।

सोऽपि मुनिमायान्तमालोक्य सहसोत्थाय मुनेरभिमुखमागत्य तं प्रणम्य समभ्यार्थयत- स्वामिन् ! एहि, अद्य मे जन्म सफलं जातं,

भवद्दर्शनात्पूतोऽभवम्, अद्य मया महत्पुण्यं लब्धम् । तत्रावसरे मृगो दध्यौ-यद्यहमद्य मनुष्योऽभविष्यं तर्हि ममाऽपीदृशो लाभोऽभविष्यत् । संसारे मानुषं जन्म धन्यमस्ति मया किं पापं कृतं भवान्तरे यत्तिर्यक्त्वमवाप्तम् । इत्थं स भावयन्नेवासीत्तावत्तत्र महावातोद्गमादकस्मादर्धच्छिन्नो महातरुस्त्रयाणां मुनिसूत्रधारमृगाणामुपरि पपात । ततस्ते त्रयोऽपि सद्ध्यानेन मृत्वा पञ्चमब्रह्मदेवलोके देवत्वेनोत्पेदिरे ।

अथ ५-द्वादशभावनासु प्रथममनित्यभावनामाह-

धन कण तनु जीवी बीज-झात्कार जेवी,
सुजन तरुण मैत्री स्वप्न जेवी गणेवी ।
अहव मगनताए मूढता कांई माचे ?,
अथिर अरथ जाणी एणसुं कोन राचे ? ॥१०॥

अहो भव्यप्राणिन ! कीदृशः संसारो वर्तते यत्र प्रतिपलमायुः क्षयति । तडिदिव लोकानामायुश्चञ्चलं प्रतिभाति । एवं पुत्रकलत्रपितृमातृसुहृदादिकुटुम्बवर्गोऽपि सर्वः स्वप्नोपमो भाति । तथाऽप्यज्ञा जीवा अस्थिरमपि जगत्सुस्थिरं मन्यन्ते । धनजीवनयौवनादिस्थैर्यं जानाना भ्रान्ता एतान् विषयान् सेवन्ते । ज्ञाततत्त्वास्तु तत्सर्वं स्वप्नवत्पश्यन्ति, अतो नैतेषु सज्जन्ते ॥१०॥



६-अथ संसारमनित्यं स्वप्नवत्तत्र भिक्षोः कथानकम्-

यथा-कस्यचदेकस्य कौटुम्बिकस्य गृहे रात्रौ दधिभाजनमना-वृतमासीदिति प्रभाते भोक्तुं त्यक्तुं वाऽनिच्छन् कञ्चन् भिक्षुमालोक्य तस्मै तद्दधि दत्तवान्, सोऽपि तदादाय तडाकपाल्यां घनच्छायातरुतले काममभुङ्क्त । तद्भक्षणात्तत्रैव स चिरं गाढनिद्रामभजत् ।

अथ सुषुप्तिसमये राज्यसुखमन्वभूत्, यथाऽहं नृपोऽभवम् । अप्सरस इव दिव्याङ्गना मामुपासते । मन्त्रिप्रमुखाः सर्वे सदसि तिष्ठन्ति, चतुरङ्गीसेना च महती लब्धाऽस्ति, गजतुरगरथपत्तिसमूहा-दिकमनेकमस्ति, इत्थं स्वप्ने मनोराज्यं कुर्वन् स भृशममोदत । तावत्तत्र मेघो जगर्ज, तेन तदैव तस्य जागृतिर्जाता, ततः कामपि राज्यसमृद्धिं नाद्राक्षीत् केवलं खर्परं दण्डं जीर्णकन्थां चैतत्त्रयमेव स्वाग्रे व्यलोकत । यथा स भिक्षुर्मुधा स्वप्नप्राप्तया राज्यसमृद्ध्या मुमुदे । तथैवाऽज्ञा अपि जीवाः पुत्रकलत्रधनादौ मुधैव मोदन्ते ।

धरणि तरु गिरिन्दा देखिए भाव जेई,
सुरधनुष परे ते भंगुरा भाव तेई ।
इम हृदय विमासी कारमी देह माया,
तजिय भरतराया चित्त योगे लगाया ॥११॥

किञ्च-संसारेऽत्र ये ये जीवादितरुभूधरप्रमुखचराचरा भावा दृश्यन्ते, ते सर्वे जलबुद्बुदोपमाः क्षणभङ्गुरा एव प्रतीयन्ते, इति विचारयता विदुषा जनेन देहमायां विहाय चित्तं समाधौ योज्यम् । यथा भरतचक्रवर्तिना शारीरिकीं मोहमायां षट्खण्डभूमिं सर्वराज्य-

समृद्धिञ्च सुवैराग्येण त्यक्त्वा मनो योगे योजितम् ।।११।।



७- अथाऽनित्यभावनया त्यक्तदेहाभिमानस्य भरतचक्रवर्तिनः कथा-

यथा राज्यसुखं भुञ्जानस्य भरतचक्रवर्तिनश्चक्ररत्नमुदपद्यत तथाऽऽदीश्वरभगवतः केवलज्ञानमजायत। एकदैव कार्यद्वयस्य वर्धापनं भरताय समागतमिति मुदितो राजा ताभ्यां नराभ्यां प्रचुरं दानमदत। ततो मनसि दध्यौ- यदिदं चक्ररत्नमुत्पेदे तदत्रैव फलदम् । तात ऋषभदेवस्वामी तु लोकद्वयेऽपि निःसीम-फलदायी, ततो मया प्रथमं तद्भक्तिरेव विधातव्येति विचार्य मरुदेवीमातरं गजोपर्युपावेश्य भरतचक्रवर्ती प्रभोर्वन्दनायै चचाल।

या मरुदेवी माता पुरा पुत्रस्य ऋषभदेवस्य विरहादनिशं रुदती वर्षमेकं व्यतीयाय। सैव तस्य वन्दनायै यान्ती देवदुन्दुभिस्वन-माकर्ण्य भरतमपृच्छत्- हे भरत ! वाद्यानामीदृग्मधुरध्वनिः कुत्र जायते ? किमस्ति तत्र ? येनेदृशोऽश्रुतपूर्वोऽपूर्वो वाद्यध्वनिः श्रूयते ?

तदा भरतोऽवदत्- हे मातः ! यत्त्वं पुरा ममोपालम्भं ददानाऽऽसीः, यथा- हे भरत ! त्वं नूनं राज्यसुखलुब्धोऽभूः । यदृषभस्य शुद्धिं न कुरुषे तस्यैव त्वत्पुत्रस्यैषा सम्पत्तिरस्ति। नयनयुगलमुन्मील्य पश्य-पश्य, इत्याकर्ण्य हर्षोत्फुल्लोचना मरुदेवी माता रत्नमयं स्वर्णमयं रौप्यमयं चेति प्राकारत्रयमत्युज्ज्वलं विलोकयन्ती विस्मिता व्यमृशत्-

अहो ! कः पुत्रः का वा जननी ? सर्वमिदं क्षणिकमेवास्ति। यत्कृते रुदती-रुदती अन्धाऽभूवम् । स तु सुपुत्रो भूत्वापि मे

संदेशमात्रमपि न प्रैषीदत एनमसारं संसारं धिगस्तु । एकपक्षस्य रागेणाऽप्यलमित्थं सद्भावनां भावयन्ती सा मरुदेवी गजारूढैवाऽन्तकृत्केवलज्ञानमासाद्य मोक्षमध्यगच्छत् । तदैवेन्द्रस्तत्रागत्य मरुदेवीतनुं क्षीरसागरे स्नापयित्वा संश्चक्रे । पुनर्भरतचक्रिणा सहेन्द्रस्तत्र समवसरणे समागात्तत्र च प्रभुमभिवन्द्य तदीयदेशनामृतं निपीय भरतचक्री वीतशोकोऽभवत् । अथ देशनान्ते श्रावकीयं सम्यक्त्वव्रतं प्रतिपद्य निजालयमागतवान् ।

तदनु चक्रस्याऽष्टाह्निकं महोत्सवं प्रावर्तयत, पूजान्ते च तच्चक्रं व्योम्नि पूर्वस्यां दिशि चचाल । ततश्चतुरङ्गबलमादाय प्रस्थितो भरतचक्री प्राच्यसागरतीरमागत्य तस्थिवाँस्तत्राऽप्यष्टमं तपो विदधे मागधतीर्थेशदेवं च भृशं ध्यातवान् । अथ रथारूढश्चक्री समुद्रे रथनेमिनाभिपर्यन्तं रथं स्थापयित्वा स्वनामाङ्कितं बाणमेकं मुमोच । स चाऽष्टचत्वारिंशत्क्रोशपर्यन्तं गत्वा सिंहासनेऽलगत्तमभितोऽग्निमुद्गिरन्तमालोक्य देवश्चुकोप ।

तदा प्रधानोऽवदत्- स्वामिन् ! अलमिदानीं कोपाटोपेन, प्रथममेनं नामाङ्कितं बाणं पश्य त्वत्तोऽपि बलीयस एष प्रतिभाति । ततो देवो नाम वाचयित्वा भरतश्चक्रवानभूदिति विवेद । अथ शान्तकोपो देवोऽतिसारभूतरत्नजातमुपायनमादाय तत्रागतो भरतचक्रिणं नमश्चक्रे प्राभृतवांश्च तत्सारभूतं रत्नजातम् । तदनु स एवमवदत्- हे स्वामिन्! एतावद्दिनमहमनाथ आसं परमद्यप्रभृति सनाथोऽभूवम् । अथ चक्रवर्तिना तत्पृष्ठे हस्तो दत्तस्तेनातिप्रीणितो देवः स्वस्थानमगमत् । चक्री ततोऽष्टमतपसः पारणमकरोत् ।

अथोत्तरदक्षिणदिक्षु तमिस्रागह्वरद्वारमुद्घाट्य म्लेच्छैः सह द्वादशवर्षाणि घोरं समरं विधाय तांश्च जित्वा षट्खण्डां महीं संसाध्य गङ्गातीरमागत्य तस्थौ । तत्र च वर्षसहस्रं स्थित्वा परावर्तमानस्य तस्य चक्रिणो नवनिधयः प्रकटीबभूवुः । तदर्थं चक्री तत्र महोत्सवं वितनान तानि च नवनिधानानि द्वादशयोजनलम्बितानि, नवयोजनोच्छ्रितानि भूमौ चलन्ति तानि च पेटिकाकारेण चक्रवर्तिगृहद्वारे तिष्ठन्ति । परं तेषु पुरापि केचन चक्रिनिधाने न प्रविविशुर्न वा प्रवेष्टारः सन्ति ।

इत्थं तस्य चक्रिणः कनकरजतरत्नाकराणां विंशति-विंशति-सहस्रं विद्यते । षट्खण्डानां साम्राज्यस्येश्वरः । पञ्चविंशतिसहस्र-देवसेवकाः । तादृशी प्रभुता तु कस्याऽपि न भवति । अष्टचत्वारिंशत्सहस्र पत्तनं, महानगराणि च द्विसप्ततिसहस्राणि, सहस्राणां विंशतिः खेटक एवं कर्बट-मण्डप-द्रोण-प्रमुखग्रामाणां षण्णवतिकोटिरासीत् । तथा चतुरशीति-चतुरशीति लक्षप्रमाणं गजतुरगरथं, षण्णवतिकोटिः पदातीनां, पण्डितानां षष्टिसहस्रं, ध्वजिनां दशकोटिरभूत् । पञ्चलक्षाणि महादीपकधरा, लक्षाधिकद्विनवतिसहस्रं दाराणामासन् । देशानां द्वात्रिंशत्सहस्रं बभूव चैवं द्वात्रिंशत्सहस्रं मुकुटबद्धानां माण्डलिक-भूपालानामादेशकारिणां, ईदृशीं महतीमनन्यसाधारणां समृद्धिमापन्नो भरतचक्रवर्ती सोऽयोध्यामागतवाँस्तत्र च द्वादशवर्षाणि महामहं प्रावर्तयत चिरं षट्खण्डामिमां महीमन्वशात् ।

अथैकदा स चाऽऽदर्शभवने सुखासीनो दिव्याम्बराभरण-मण्डितात्मा तनुच्छविं पश्यन् भूषणविहीनामङ्गुलीमशोभनामवे-

दीत्। तदनु सर्वाभरणानि शरीरतोऽपनीय सर्वामपि पौद्गलीं मायामर्थात्-शरीरमिदं यद्-भूषणवसनादिना शोभते, तदनित्यमेवेति भावनां भावयामास । इत्थं भावयतस्तस्य कैवल्यमुदपद्यत, तत्रावसरे शासनदेवता तस्मै साधुवेषमशेषं दत्तवती ।

तदनु स चक्री त्यक्तराज्यो दशसहस्रराजन्यैः सह विजहार । अथ महीं पावयन् भव्यजीवान् प्रतिबोधयन् पूर्णे चायुषि शाश्वतसुखप्रदां मुक्तिस्त्रियं भेजे । अहो ! भरतचक्रवर्ती त्वनित्यत्वभावनाबलादेव स्वेष्टमसाधयत् । तथैवान्येऽप्यनित्यमसारञ्च संसारं भावयन्तु, यस्मादात्महितं जायेत ।

६-अथाऽशरण २ भावना-विषये-

परम पुरुष जेवा संहरे जे कृतान्ते,
अवर शरण केनूं लीजिये तेह अन्ते ।
प्रिय सुहृद कुटुम्बा पास बैठा जिकोई,
मरण समय राखे जीवने ते न कोई ॥१२॥

यदि महापुरुषास्तीर्थङ्करचक्रवर्तिप्रभृतयोऽपि यमराजेन संहृतास्तर्हीदृशः को द्वितीयो योऽन्तकालेऽस्माकं शरणप्रदो भवेत् ? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः । अपरञ्चाऽन्तसमये भ्रातृ-पितृ-भ्रातृ-मित्रादीनां संबन्धिनां पुरत एवाऽयं संसारी जीवो गच्छत्येव भवभ्रमणार्थम्, परं तत्काले न कोऽपि तस्य त्राता भवति । अतः सर्वानुगो धर्म एवाऽऽश्रयणीयस्तं मुक्त्वा शरणभूता नाऽन्या कापि गतिः ॥१२॥

सुर-गण नर कोडी जे करे जास सेवा,
मरण भय न छूटा तेह इन्द्रादि देवा ।

जगत जन हरंतो एम जाणी अनाथी,
व्रत ग्रहिय विछूटो जेह संसारमां थी ॥१३॥

कोटिसङ्ख्याकाः सुरगणाः नराश्च यानिन्द्रादिदेवान् सेवन्ते। तेऽपि मृत्योर्भयादमुक्ता एव विद्यन्ते। एष मृत्युर्जगतो जीवानवश्यमेव संहरतीति विचिन्त्याऽनाथिमुनिः पञ्चमहाव्रतानि गृहीत्वा पालयित्वा चान्ते संसारसमुद्रान्निस्ततार ॥१३॥



८-अथाऽशरणभावनोपरि-अनाथिमुनेः कथा-

यथा-कौशाम्ब्यां पुर्यां राज्ञस्तरुणः पुत्रो महारोगेण पीडितो जातः। महावैद्यास्तस्य चिकित्सां चिरमकुर्वन्, परं मनागपि तदुपशमो नाऽभवत्। तथावस्थे तस्मिंस्तस्य माता पत्नी च भृशं दुःखार्ता रुदती शोचति। समीपस्था भगिनी जल्पति- हे भ्रातः ! निजवेदनां मे देहि, त्वं सुखी भव। परं मातृकलत्र-मित्रादयोऽपि सर्वे विफलप्रयत्ना जाताः, कोऽपि तं नीरोगं विधातुं न शशाक।

अथैकदा तन्मनसीदृग्विचार उत्पेदे, यथा-धर्म एव सर्वेषां विपत्तौ शरणं भवति, धर्मं विना कोऽपि न त्रायते। अतो मयाऽपि स एव शरणीकर्त्तव्यः, इति सुनिश्चित्य निशि स सुष्वाप, प्रभाते चोत्थितः स रोगमुक्तमात्मानं विलोक्य जहर्ष। राजकुमारं स्वस्थं विलोकयन्तः सर्वेऽपि जनाः प्रमोदमेदुरा अभूवन्। प्रवर्तमाने च मङ्गलवाद्ये स राजकुमारः पञ्चमुष्टिलुञ्चनं विधाय कलत्रादिपरिवारैर्निवारितोऽपि जगाद-

भोः परिवार ! समाकर्णय-समाकर्णय, भवत्सु सर्वेषु सत्स्वपि

रोगार्तं मां सुखयितुं कोऽपि नैव प्रबभूव । तर्हि एतावद्दिनानि भवत्सु कृतेन स्नेहेन किमभूत् ? धर्मे तु निशामेकामेव रागो जज्ञे, तत्फलमिदं जातम्, यच्चिरोद्भूतोऽपि रोगः क्षणादेव व्यलीयत । अतोऽहमद्यप्रभृति कृतधर्मशरण एनमसारसंसारं तरीतुकामो विहरामीति निगद्य ततो निजात्मसाधनार्थं निरगात् । कियन्तं पन्थानमतिक्राम्य क्वचित्तरुमूले निषसाद, तावत्तत्र वीरप्रभुं वन्दित्वा तेनैव मार्गेण परावर्तमानः श्रेणिको राजा तमालोक्य गजादवतीर्य तं प्रणनाम जगाद च-

हे मुने ! त्वमिदानीमनवसरे तारुण्यवयस्कः कथं प्रवव्रजिथ? यतो यो हि भुक्तभोगः प्रव्रजति स निर्विघ्नं संयमं पालयति । तन्निशम्य मुनिरूचे- हे मगधेश ! अहमनाथतया साधुरभूवम् । तच्छ्रुत्वा राजा दध्यौ-नूनमेष कश्चिद्रङ्ककुलजातोऽस्ति, तत्राऽपि मातापित्रादिविहीनः, यदुक्तमनाथतयेति । पुनस्तमूचे राजा- मुने ! अहं ते नाथोऽस्मि, त्वं चिन्तां त्यज, चेत्संसाररिरंसा तर्ह्योतद्वेषं त्यज, सांसारिकं सुखं भज । पुनः साधुर्जगाद- राजन् ! त्वन्तु कथमपि मम नाथो भवितुं नाऽर्हसि, यत्स्वयमनाथोऽसि । राजाऽवक्- भो मुने ! मगधाधीशं श्रेणिकनामानं राजानं मामपि त्वमनाथं कथं भाषसे ? एवं ते मृषावाददोषः किं न लगति ? लगत्येव ।

साधुर्निगदति- राजन्! ईदृशी सनाथता ममाप्यासीदेव, यतः कौशाम्बीनगरीपतेः पुत्रोऽस्मि विलसति च मे मातापित्रादिपरिवारः कलत्रमप्यस्ति । इतोऽन्या सकलाऽपि राज्यसमृद्धिर्विद्योतते । परमहं चिरं दीर्घरोगी जातः, सद्वैद्यैश्चिकित्सितः स नाऽशमन्न वा कलत्रा-दिर्ममदीयवेदनां व्यभजत । ततोऽसारसंसारविरक्तोऽहं धर्मशरण-

मादाय निशि सुप्तः प्रभाते च रोगमुक्तो जागृतवान्। ततश्चारित्रं लात्वा गृहान्निर्गतोऽस्मि।

अथैतन्मुनिगदितं सत्यवृत्तमाकर्ण्याऽज्ञातकृतं निजागसं भृशं क्षमयित्वा तमभिवन्द्य तत्पार्श्वे सम्यक्त्वमासाद्य पुनः स वीरप्रभोरन्तिकमेत्य भक्त्या त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य सम्यक्त्वदार्ढ्यमलभत। ततश्चाऽनाथिमुनिः क्षीणकर्मा प्रान्ते मोक्षमाप। अनाथिमुनिवदन्योऽपि योऽशरणभावनां भावयन् धर्मशरणं विधास्यति, सोऽपि तद्वदेव क्षीणकर्मा भूत्वा शिवसुखं प्राप्स्यति॥

५-अथ ३-संसारभावनां विवृण्वन्नाह

शार्दूलविक्रीडित-छन्दसि-

तिर्यंचादि निगोद नारक तणी जे योनी रह्यां,
जीवे दुःख अनेक दुर्गतितणा कर्म प्रभावे लह्यां।
ज्यां संयोग वियोग रोग बहुधा ज्यां जन्म जन्मे दुखी,
ते संसार असार जाणि इहयो जे ए तजे ते सुखी ॥१४॥

यथा-अमी जीवाः कर्मयोगादनन्तसमयं दुःखपारम्पर्यमसहन्त। तिर्यक्त्वनारकित्वादि बहुशो लेभिरे। अहो! किमधिकं वदामि? यत्र यत्र योनावुत्पेदिरेऽमी जीवास्तत्रतत्र नानाविधसंचिताऽशुभकर्मविलासात्संयोगवियोगादिबहुविधां दुःखसंततिमनुभवन्ति स्मेति विचार्य यः संसारमसारं त्यजति, धर्मञ्चाश्रयति स इह सर्वं सुखमश्नुते चान्ते मोक्षादिकमपि लभते॥१४॥

इन्द्रवज्रा-छन्दसि-

जे हीन ते उत्तम जाति जाए,

जे उच्च ते मध्यम जाति थाए ।
ज्यूं मोक्ष मेतार्य मुनींद्र जाए,
त्यूं मंगुसूरी पुरयक्ष थाए ॥१५॥

अहो ! कर्मवैचित्र्यं येऽत्र हीनयोनावुत्पन्ना दृश्यन्ते, ते भवान्तरे किलोत्तमजातिमधिगच्छन्ति। एवमुत्तजातीया अपि मृत्वा नीचजातौ जायन्ते मेतार्यवन्मङ्गुसूरिवच्च ।



९-अथ संसारभावनोपरि मङ्गुसूरेः प्रबन्धः-

पुरा कश्चिन्मङ्गुनामा सूरिः पञ्चशतशिष्यैः सेवितो ज्ञानसागरः शुद्धसाध्वाचारप्रतिपालकः पञ्चसमितिसुमण्डितः त्रिगुप्तिगुप्तः कदाचि-देकदा मथुरानगरीमगात्तत्रत्यसङ्घस्तं वन्दितुमाययौ। तदीयदेशनामृतं निपीय समुल्लसितमनाः श्रीसङ्घः सपरिवारं तमाचार्यं महामहेन नगरान्तरानीय निर्बाध उपाश्रये स्थापयामास । प्रत्यहं द्विसन्ध्यं भक्त्या सरसमाहारमभोजयत् ।

ततः क्रमेण स सूरी रसलोलुपो जातो निजात्मानञ्च धन्यम-मन्यत । तथाहि- अहमिवाऽन्यः कोऽपि सरसमाहारमीदृशं न लभते । यथा मृदुस्थलास्तरणप्रावरणचन्द्रकवितानपाटपाटलादिसमृद्धिमानहं तथा नान्यः कोऽप्यस्त्येवमिन्द्रियजं सुखमपि स बहुशो विवेद । अथ रस-शाता-समृद्धि-गौरवमितः स गुरुः कुत्राप्यन्यत्र विहर्तुं नैच्छत् । तत्रैव तिष्ठन् पूर्णे चायुषि कालं कृत्वा तस्मिन्नेव पुरे नदीतीरे यक्षो जज्ञे ।

अथ तेन यक्षेनाऽवधिज्ञानं प्रयुक्तं, तेन पूर्वभवजातमशेषं

वृत्तान्तं विदितम् । यदहं मङ्ग्वाचार्यः संयमविराधनमकार्षं, तत्पापेन दुर्गतिमीदृशीमनुभवामि । देवगतिमनवाप्य हीनयक्षयोनाववतीर्णोऽस्मि । ततः स दध्यौ- अहो ! मदीयशिष्याणामपीदृश्येव गतिरुदेष्यति, इति हेतोस्ते प्रतिबोधनीयाः ।

अथैवं ध्यात्वा स्थण्डिलभूमिं गच्छतां साधूनामग्रे स यक्षो दीर्घजिह्वामदर्शयत् । ते जगदुः- भो ! एवं किं करोषि ? यक्षेणोक्तम्- भो मुनयः ! एतत्करणकारणं निशम्यताम् । भवतामाचार्यो मङ्गुनामाऽहं जिह्वालौल्याद्यक्षजातौ समुत्पन्नोऽस्मि । अतोऽहं हितं वच्मि यत्सत्वरमितो विहरन्तु भवन्तः । उपदेशमालायां यदुक्तम्-

पुरनिद्धमणे जक्खो, महुरा मंगू तहेव सुअनिहसो ।
बोहेइ सुविहियजणं, विसोअइ बहुं च हियएण ॥१॥
निग्गंतूण घराओ, न कओ धम्मो मए जिणक्खाओ ।
इड्ढिरससायगरुअ-त्तणेण न य चेइओ अप्पा ॥२॥

अथ तेऽपीदृशं स्वधर्माचार्यसदुपदेशं सन्धृत्य पञ्चशतसाधवस्तदैव ततो विजह्रुः ।

५-अथ ४ एकत्वभावनोपर्याह-

पुण्ये अकेलो जीव स्वर्ग जाये,
पापे अकेलो जीव नर्क जाए ।
ए जीव जा आव करे अकेलो,
ए जाणिने ते ममता महेलो ॥१६॥

एक एव जीवः पुण्यानि विदधदत्र सुखानि भङ्क्ते प्रान्ते च समाधिना मृत्वा दैवीं संपत्तिमनुभवति । पुनरयमेव जीवः पापानि

कर्माणि समाचरन् दुःखमनुभवति मृत्वा चाऽधोगितिं लभते । अयमाशयः-पुण्यवानात्माऽत्र सुखी भवन्नेकाक्येव स्वर्गं याति । पापीयांस्तु यावज्जीवमत्र यथा दुःखी जायते, तथा मृत्वाऽपि नारकीं यातनामनेकविधां चिरं सहते । एष जीवोऽष्टपञ्चाशदुत्तरशत-प्रकृतिकानि कर्माणि सञ्चिन्वन् सुखदुःखे भुङ्क्ते । अतो हे जीवा ! धर्मेऽवज्ञां मा कुरुत, सादरं च धर्मं सेवध्वम् । यत्सेवनतः क्षीण-सकलकर्मोपाधिका यूयं मोक्षमाप्स्यथ । एवमनन्तचतुष्टय-मर्थात्ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याऽऽनन्त्यं सुखेन लप्स्यध्वे । असौ जीव एक एव याति, पुनरेकाक्येवायाति चेति विदित्वा मोहं त्यजत धर्मे च निश्चलां मतिं कुरुत ।।१६।।

ए एकलो जीव कुटुम्बयोगे,
सुखी दुःखी ते तस विप्रयोगे ।
स्त्री हाथ देखी वलयो अकेलो,
नमी प्रबुद्धो तिण थी वहेलो ।।१७।।

अहो ! चेतनोऽसौ धनकलत्रपुत्रमित्रादिसंयोगे सुखी भवति, विप्रयोगे च तेषां बहुदुःखमुपैति । नमिराजो यथा-निजप्राण-गरीयसीप्रेयसीकरपल्लवकङ्कणनिमित्तात्सद्य एव प्रतिबुद्धोऽभूत्पुरा तत्संयोगात्क्लेशमप्यन्वभूत् ।।१७।।

१०-अथैकत्वभावनोपरि नमिराजस्य प्रबन्धः-

पुरा विदेहदेशे सुदर्शनपुरनगरे मणिरथनामा राजाऽभूत्तस्य च कनीयान् युगबाहुनामा बन्धुरासीत् । अस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी

प्रेयसी महारूपलावण्यवती शीलवती गुणवती मदनरेखानाम्नी भार्याऽऽसीत् । तस्यामनुरागी भवन् मणिरथो राजा तस्या दास्या अन्तिके प्रत्यहं सारसारवस्तूनि प्रेषितुं लग्नः, तानि च पूज्यप्रेषितानि मत्वा सादरमाददानाऽऽसीन्मदनरेखाऽपि, तेन निजोद्योगं सफलं मन्यमानो नृपो मोदमावहन् दासीमुखेन स्वाशयं तस्यै सूचितवान् ।

तदाकर्ण्य प्रकुपिता सा तां दासीं भृशं भर्त्सयन्ती जगाद- अरे दासि ! राजा मे पूज्यो ज्येष्ठो लगति । अहं हि तस्य भ्रातृवधूः पुत्रीकल्पाऽस्मि, स कदाचिदपि गर्हितमीदृशं मां नैव भाषेत । सत्यमेतन्न प्रत्येमि, अन्यदप्याकर्णय- यथा सूर्यः प्राचीं हित्वा प्रतीच्यां नोदेति, यथा वा शीतांशुरग्निकणान्न वर्षति, सागरो वा यथा मर्यादां न त्यजति, तथा शीलशालिनी कामिनी परं नरं स्वप्नेऽपि नैव वाञ्छति । इति मदनरेखोदितं सा दासी मणिरथज्येष्ठमवादीत् ।

ततो दुर्धीः स एवं दध्यौ-यदियं युगबाहौ जीवति सति मय्यनुरागिणी न भवितुमर्हति, अतोऽयं बन्धुर्येन केनोपायेन हन्तव्य इति निर्णीतवान् । पुनरेकदा रात्रौ सभार्यो युगबाहुः केलिवने समागत्य सुष्वाप ।

अथैतत्स्वरूपं चरमुखादवगत्य स दुर्धीरवसरं प्रतीक्षमाण एकाकी गाढान्धकारवत्यां रात्रौ तत्राऽऽगतवान् । तत्र रक्षकेण पृष्टः- कस्त्वम् ? कुत इदानीमवसरेऽत्रागतोऽसि ? तेनोक्तम्- अहं मणिरथो राजाऽस्मि । कुतोऽप्यागतं भयमालोक्याऽत्र बन्धोरन्तिकमागतोऽस्मि । तदुक्तं सत्यं मन्यमानेन रक्षकेण मुक्तः स तत्समीपमागत्य तस्थौ । तदानीं मदनरेखा तमागतं ज्येष्ठं विलोक्य

पल्यङ्कादुत्तीर्य दूरमागत्य तस्थौ ।

तदैव दुरात्मा खड्गं कोषादाकृष्य निजबन्धोः शिरोऽच्छैत्सीत् आक्रुष्टवांश्च- भो भोः सेवका ! उत्तिष्ठतोत्तिष्ठत, मम पाणेरकस्मात्पतितेन खड्गेन बन्धुर्हिंसितः । इति निशम्य तत्रागताः सर्वे लोका एवं विदितवन्तो यदनेनैव दुरात्मना विषय-लुब्धेन बन्धुरसौ निहतः । अथ सेवकेन निष्कासितो मणिरथो मार्गे गच्छन् कृष्णसर्पेण संदष्टो मृत्वा नरकमवाप । *अहो ! अत्युत्कटं पापं तत्कालमेव फलितं* तस्य दुर्धियो मणिरथस्य । प्रभाते तत्सर्वं नगरवासिनो विविदुः ।

अथ पितरं तथावस्थमाकलय्य तत्पुत्रश्चन्द्रयशराजकुमारस्तत्कालमेव भिषग्वरानाकार्य तच्चिकित्सां प्रारेभे । परं सहस्रशः विहितेष्वप्युपचारेषु मनागपि फलं नाऽभूत् ।

अथ तदासन्नं मृत्युं ज्ञात्वा तस्य श्रेयसे धर्मकृत्यमेव कर्तुं युज्यत इति विमृशन्ती मदनरेखा कथञ्चिद्धैर्यमालम्ब्य तत्कर्णे मुखं निधाय पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमन्त्रादिपुण्यगाथाः श्रावयामास, कथितञ्च- स्वामिन् ! कुत्राऽपि द्वेषभावं मा गाः, यदत्र संसारे कोऽपि कस्याऽपि नास्ति । न त्वमसि कस्याऽपि तथा न तेऽस्ति कोऽपि, इति स्वान्ते भूयो भूयो विभावय । अथार्हन्तः सिद्धाः साधवो धर्मश्चैते चत्वारस्ते शरणं भवन्तु, तथा पञ्चपरमेष्ठिनां ध्यानं विधेहि, व्रतादिकं प्रत्याख्याहि । इत्थं मदनरेखासद्वचनेन समाधिना मृतो युगबाहुः पञ्चमं ब्रह्मदेवलोकमाप ।

तदा मदनरेखा शुशोच-अहो ! मदर्थमेव मत्पत्युर्मरणमभवदतो मे गृहवासः श्रेयस्करो न प्रतिभाति । मयि सति कदाचिन्मत्पुत्रस्य

चन्द्रयशसोऽपि कष्टमापत्स्यते इति विमृशन्ती गर्भवत्यपि सा मदनरेखा निजसदनं नाऽऽगच्छत्। ततः कदलीभवनादेकाकिन्येव धर्ममात्रसहाया काननं प्रस्थितवती मार्गे च कस्यचिद्रम्यसरसस्तीरे कदलीवनं सघनमद्राक्षीत्, तावत्तस्याः कुक्षौ प्रसववेदना समुदपद्यत, ततस्तत्रैव सा पुत्रजीजनत्।

तदनु पुत्रपाणौ मुद्रिकां दत्त्वा स्वीयरत्नकम्बले शाययित्वा सरस्तीरे गात्रशोधनार्थमागता। तत्राऽवसरे कश्चिद्दन्ती शुण्डादण्डेन सहसा तामाकृष्योन्निन्ये। परं शीलप्रभावादुपर्येव कश्चिद्विद्याधरः स्वीयविमानमारोहयत्। तामतिसुन्दरीमालोक्य कामुकीभूय तां रतिमयाचत। तत्र समये सत्या पृष्टम्- भो महापुरुष! कुत्र गच्छति भवान्, तेनोक्तम्- मम पिता विद्याधरो गृहीतचारित्रो नन्दीश्वरद्वीपे वर्तते तद्वन्दनायै तत्रैव गच्छामि।

तच्छ्रुत्वा तया चिन्तितम्-यदनेन सह गमनेन शाश्वतं चैत्यमपि द्रक्ष्यामीति मे परं लाभ एव महानिति विचिन्त्य साऽवक्- भो! ममैकदा पुत्रदिदृक्षा जागर्ति। अथ विद्याधरोऽवक्- हे सुभगे! मिथिलानगर्याः पद्मरथो नाम राजाऽस्ति परमस्य पुत्रो नास्ति, सोऽधुना जविना तुरगेणाऽत्रानीतस्तं शिशुं जातमात्रमालोक्य हृष्टस्तमुत्थाप्य गृहमागत्य पत्न्यै समार्पयत्। तौ च पुत्रवत्पालयत इत्याकर्ण्य सा जहर्ष यत्पुत्रो मे कुशलीवर्तते।

अथ विद्याधरस्तामवदत्- हे सुभ्रू! मम चेतस्त्वयि नितरां रागि जातमतो मदभ्यर्थनं स्वीकुरु। तयोक्तम्- प्रथमं नन्दीश्वरद्वीपं मां नय। तत्र गत्वा त्वदुदितं श्रोष्यामि ते कथनं करिष्यामि च।

तस्या एतद्वचनमाकर्ण्य मनसि स दध्यौ–इयमधुना मम करतलतो न मोक्ष्यते। इत्यवधार्य वेगेन विमानं नन्दीश्वरद्वीपे समानयत्। तत्रागता मदनरेखा प्रथमं चैत्यमध्ये सकलं शाश्वतबिम्बं समर्चितवती। यथा–मति सच्चैत्यवन्दनस्तवनस्तुत्यादि विधाय बहिरुपविष्टं विद्याधरमुनि–मभिवन्द्य स्वोचितस्थानके निषसाद।

अथावधिज्ञानेन साधुर्बुबुधे यदियं शीलवती दुर्धियाऽनेनात्रा–ऽऽनीताऽस्ति। अतो मया तथोपदेष्टव्यं यथासौ दुर्धीः प्रबुध्येत। अथ साधुस्तथैवोपदिष्टवान् तं श्रुत्वा विद्याधरः प्रतिबोधमाप। तदनु सा तमपृच्छत्– भगवन्! मम पुत्रं केन हेतुना पद्मरथो राजा निन्ये। तेन सह तस्य जन्मान्तरीयोऽस्ति कोऽपि संबन्धः? साधुर्जगाद– हे वत्से! पद्मरथो हि जन्मान्तरीयमोहात्तव पुत्रं गृहीत्वा पुत्रचकार।

इतश्च मदनरेखापतिर्युगबाहुः पञ्चमे ब्रह्मदेवलोके समुत्पेदे। तत्र च देव्यो जयजयारावं विदधत्यस्तमप्राक्षुः– भोः! त्वया कीदृशं सुकृतं कृतं, यदस्मिन्देवलोके समुत्पेदिषे। अथैतत्प्रसङ्गे स पूर्वभवजातवृत्तमशेषमवबुद्ध्य तां मदनरेखां निजस्त्रीं नन्दीश्वरद्वीपे समागतामबोधत्।

इति तदैव युगबाहुर्देवस्तत्रागत्य प्रथमं मदनरेखामवन्दत, ततः साधुम्। अत्रावसरे विपरीतं विलोकयन् स विद्याधरोऽवक्– भो देव! त्वयैतदयुक्तं कथमाचरितं? यद्गुरोः प्रथममियं स्त्री वन्दिता। देवेनोक्तम्– इयं मे धर्मगुरुरस्ति, अत एनामभिवन्द्य गुरुवन्दनाम–कार्षम्। अथ देवस्तामवदत्– अहं त्वया बहूपकृतोऽस्मि, अतोऽहं कथयामि किमप्यादिशतु भवती। साऽवक्– भो देव! अन्यस्य

कस्यापीच्छा मे नास्ति, किन्तु यत्र मे पुत्रोऽस्ति तत्र मां नय।

अथ सा गुरुवन्दनं विधाय तेनाऽऽज्ञप्ता विद्याधरस्याऽनुज्ञामयाचत। तदनु स देवस्तामुत्पाट्य तत्र मिथिलापुरे समागतस्तत्र च तामापृच्छ्य देवो निजस्थानमागात्। मदनरेखा च तत्र साध्वीसमीपे दीक्षां ललौ, पञ्चमहाव्रतानि यथावत्पालयति। इतश्च पद्मरथो राजा पुत्रस्य तस्य नमिकुमार इति नाम चक्रे। अथ युवानं सकलकलावन्तं नमिकुमारं राज्येऽभिषिच्य स्वयं धर्मध्याने लग्नः।

अथैकदा तस्य नमिराजस्य पट्टहस्ती सहसाऽऽलानस्तम्भमुन्मूल्य यत्र तत्र धावन् सुदर्शनपुरमागात्। तं महागजं विलोक्य मणिरथराजसिंहासनासीनो मदनरेखातनयश्चन्द्रयशा नृपः स्वीयाऽऽलानस्तम्भेऽबध्नात्। तच्छ्रुत्वा नमिराजस्तदन्तिके दूतं प्राहिणोत्तन्मुखेनाचीकथच्च- भोश्चन्द्रयशो राजन्! मम हस्तिनं देहि। अथ दूत आगत्य तस्मै सर्वमवोचत। परं चन्द्रयशसोक्तम्-भो दूत! अहं तद्गृहान्नानीतवान्, किन्त्वत्रागतमेवाऽगृह्णाम्। अत्र को मे दोषः? अतस्त्वं गत्वा कथय, यद्वीरभोग्या वसुन्धरेति।

अथ ततः समागतो दूतस्तदुक्तं सर्वं नमिनृपं व्यजिज्ञपत्। तच्छ्रुत्वा कोपोद्भूतभ्रुकुटिभीषणश्चतुरङ्गसैन्यमादाय सुदर्शनपुरपरिसरमागत्य स तस्थिवान्। चन्द्रयशा अपि निजचमूसहितस्तदभिमुखमागतः, दलद्वयसैन्यमेकत्र योद्धुं तस्थौ, तदनु मिथो युद्धं प्रववृते। अत्रान्तरे तदेतत्सर्वं ज्ञानेन ज्ञात्वा मदनरेखा साध्वी चिचिन्त[1]- अहो! उभौ भ्रातरौ युयुधाते, अत उभौ प्रतिबोध्य यदि वारयामि तर्हि

1. अन्यव्याकरणमतेन 'चिन्त्' धातुः भ्वादिगणेऽपि अस्ति, तत्परोक्षरूपम्।

वरं, नो चेदसङ्ख्यजीवनाशो भविष्यति ।

अथ सा निजगुर्वीं साध्वीं तत्र स्वगन्तुमभ्यार्थयत् । सावक्- त्वं तत्र गत्वा तौ कथं वारयिष्यसि ? तयोक्तम्- हे गुर्वि ! उभावपि ममैव पुत्रौ स्तस्ततस्तां तत्र गन्तुमनुज्ञां ददौ ।

तदनु मदनरेखा साध्वी नमिराजान्तिकमागत्य तस्थौ । तां विलोक्य नृपोऽवदत्- अयि गुरुवर्ये ! अद्य ते महती कृपा जाता यदत्राऽऽगत्य दर्शनं दत्तवती । तयोक्तम्- राजन् ! केन सह युद्धयसे? तेनोक्तम्-वैरिणा । पुनः साऽवक्- हे वत्स ! स ते वैरी नास्ति किन्तु सोदरोऽस्ति । अत्रान्तरे सकलमामूलं वृत्तान्तं सा तं राजानं निबोधयामास । अथैतच्छ्रुत्वा नमिनोक्तम्- मातः ! तवादेशं चिकीर्षामि परमेतत्स्वरूपं तमपि ज्ञापय । यतो मानिनो नृपा मानं प्राणतोऽप्यधिकं मन्यन्ते ।

अथ तत उत्थाय सा नगरमागच्छन्ती सर्वैरभिवन्दिता, समुपलक्षिता सती चन्द्रयशसमवादीत्- हे पुत्र ! पुराऽहमासन्नप्रसवा तव पितर्युपरते काननमगाम् । तत्र मे पुत्रो जातः, स एवायं नमिनामा राजाऽभूत् । अतस्तेन सहोदरेण सह वैरं त्यज । भवतोः सोदर्ययो- र्मिथो वैरमोचनायैवाऽत्रागतास्मि ।

अथ तदैव समुत्थाय प्रेम्णा सह निजबन्धुं मिलितुं चचाल, तदुदन्तं निशम्य नमिरपि ज्येष्ठबन्धुं मत्वा ततोऽप्यधिकवेगेन तदभिमुख- मागत्य चन्द्रयशसं राजानं प्राणमत्, क्षमयामास च निजकृता- गसम् । अथ तौ मिथो बन्धुभावमापन्नौ सुखिनावभूताम् ।

ततश्च सोत्सवं नमिराजानं स नगरं प्रावेशयत्, पुनस्तदानीमेव

तं नमिनृपं निजराज्य-सिंहासने समारोप्य सर्वं राज्यादिकमदात्। ततश्चन्द्रयशा नृपस्तं सहस्रकन्याः परिणाययाञ्चक्रे।

अथ कियत्समयानन्तरं नमिनृपस्य दाहज्वरः प्रादुरासीत्। तच्छान्त्यै कृतोपचाराः सर्वेऽपि भिषग्वरा विफला अभूवन्। ततस्ते मलयजचन्दनमुपचारितवन्तः। तदनु सहस्रस्त्रियस्तदर्थं चन्दनं घर्षितुमलगन्। परमासां घर्षणकाले समुत्पन्नो यः कङ्कणध्वनिस्तेन विदूयमानो राजा ता अवोचत्- हे स्त्रिय ! भवत्यस्तु ममोपकाराय चेष्टन्ते, परमनेन कङ्कणरवेण केवलमुत्ताप एव मे जायते। तच्छ्रुत्वा ता वलयानि निरास्यन्। केवलमेकैकमेव वलयं दधानाश्चन्दनं जघृषुः। तत्रावसरे वलयध्वनिमशृण्वन् पुनरूचे नमिः- हे स्त्रियः ? चन्दनं कुतो न घृष्यते ? ता ऊचिरे- हे नाथ ! वयन्तु घर्षाम एव। सोऽवक् तर्हि कङ्कणारवः किमिति न श्रूयते ? ता जगदुः- नाथ ! तेन ध्वनिना भवतः क्लेशमालोक्याऽस्माभिस्तदेकैकमेव ध्रियते, इतराणि च बहिश्चक्रिरे।

तदाकर्ण्य नमिरचिन्तयत्-यदेकाक्येव सुखी भवति बहुत्वे तु नूनमुपाधिरेव जायते। इत्थमेकत्वं विभावयतस्तस्य नमिराजस्य रोगो व्यलीयत। प्रभाते नदत्सु मङ्गलवाद्येषु सहर्षं चारित्रं गृहीत्वा नमिराजा काननमगात्। तत्र च सौधर्मेन्द्रो द्विजरूपेण समागत्य बहुधा तस्य परीक्षां विधाय भावनाशुद्धिमालोक्य निजस्थानमागात्। अथ नमिराजर्षिश्चारित्रं परिपालयन् भव्यान् प्रतिबोधयन् स्वायुः पूर्णीकृत्य मोक्षमीयिवान्। एवमन्येऽपि भव्यजीवा एकत्वभावनया प्रतिबुद्ध्य नमिराजवच्छिवसुखं यान्तु।

५-अथ ५-अन्यत्वभावनां विशिनष्टि-

जो आपणो देह ज ए न होई,
तो अन्य क्युं आपण मित्त कोई ?।
जे सर्व ते अन्य इहां भणीजे,
केहो तिहां हर्ष विषाद कीजे ? ॥१८॥

भो भव्यजीवाः ! यदिदं शरीरं स्वीयधिया सरसाहारादिना परिपुष्णीथ, तदपि पर्यवसाने भवतो मुञ्चत्येव, अत्रैव च भस्मीभवति । त्वया सह नैव याति तर्हि कथमितरे स्वीया भवितुमर्हन्ति । ये पुनः पुत्रमित्रकलत्रादयः परिवारास्ते तु सुतरामन्य एव दृश्यन्ते । एवं यथार्थतत्त्वविमर्शे तव कोऽप्यात्मीयो नास्ति । त्वमपि कस्याऽप्यात्मीयो नैव भवसि । इत्थमुदासीनतया संसारे तिष्ठतस्ते कस्यापि कृते हर्षशोकौ न विधेयौ ॥१८॥

देहादि जे जीव थकी अनेरा,
श्यां दुःख कीजे तस नाश केरां ?।
ते जाणिने वाघणि सुप्रबोधी,
सुकोशले स्वांग न सार कीधी ॥१९॥

किञ्चेदं शरीरमपि जीवाद्भिन्नमेवास्ति, शरीरनाशे जीवोऽन्यत्र याति । तर्हि तस्मिन् वियुक्ते सति कथं त्वं विषीदसि ? इति निश्चिन्वन् व्याघ्रीं प्रतिबोध्य सुकोशलमुनिरात्महितं व्यधत्त ॥१९॥

५-अथ ६-अशुचिभावनायामाह-

काया महा एह अशूचिताई, जिहां नवद्वार वहे सदाई ।
कस्तूरि कर्पूर सुद्रव्य सोई, ते काय-संयोग मलीन होई॥२०॥

भोः प्राणिनः ! यदिदं शरीरं बहिः सुन्दराकारं दृश्यते, तदशुद्धं वित्त । तथाहि-पुंसां शरीरेषु नवद्वारेभ्यः सदैव कफपित्तादिमलानि क्षरन्ति । स्त्रीणान्तु द्वादशच्छिद्राणि सन्ति तेभ्यः सर्वदाऽशुचिमलानि स्रवन्ति । किञ्चैतच्छरीरयोगादुत्तमाः सुरभिपदार्थाः कस्तूर्यादयोऽपि मालिन्यमशुचित्वञ्च लभन्ते । अहो ! यत्संसर्गवशान्निर्मला अपि मलतां यान्ति । ततोऽधिकमशुचि किं स्यात् ? शरीरमेवेदं तादृगस्ति ॥२०॥

अशुचि देही नर नारि केरी,
म राचजे ए मलमूत्र सेरी ।
ए कारमी देह असार देखी,
चतुर्थ चक्री पण ते उवेखी ॥२१॥

अन्यच्च-स्त्रीपुंसयोः शरीरं मलमूत्राद्याकीर्णतया तत्त्वविदां मनःप्रीतिकरं न भवति । किन्तु य अज्ञास्त एवाऽत्र शरीरे रज्यन्ति । इदमसारं ज्ञात्वा सनत्कुमारश्चक्री, धनगृहशरीरादिममतां विहाय संसारं त्यक्तवान् ॥२१॥



११-एतच्छरीरमशुचि मत्वा तन्ममत्वं विहाय प्रव्रजितस्य सनत्कुमारचक्रिणः कथा-

पुरा चतुर्थः सनत्कुमारचक्रवर्ती महारूपवान् बभूव । स च प्राग्जन्मनि धर्मनामा श्रेष्ठी निरतिचारं संयमं परिपाल्य प्रान्ते दैवीं संपत्तिमाप्तवान् । तत्र सुचिरं सुखमनुभूय ततश्च्युत्वा चक्रवर्तित्व-मापन्नोऽस्ति ।

अथैकदा सभासीनः सौधर्मेन्द्र एतद्रूपातिशयं प्रशशंस । यथा–सनत्कुमारचक्री निरुपमरूपवानस्ति, तथाऽन्यः कोऽपि नास्तीति तदसहमानौ द्वौ देवौ तदैवोत्थाय विचार्य च ब्राह्मणरूपेण तदन्ति-कमाजग्मतुः । तत्रावसरे स्नानागारे स्नानपीठिकोपर्युपविष्टं वेषेण तं साधारणं विलोक्यापि तौ देवौ शिरो दुधुवतुः ।

तदद्भुतरूपावलोकनेन विचारसागरे पतितौ तौ चक्री जगाद–भो विप्रौ ! युवां किं पश्यथः ? तावूचतुः–भवदद्भुतं रूपम् । राजाऽवक्–भो ! इदानीममण्डितस्य मम रूपं किमीक्षेथे । यदाहं स्नानानुलिप्तो दिव्यैराभरणैर्वस्त्रैश्च विभूषितच्छत्रचामरादिसहितः सिंहासनासीनो भवानि तदा मे रूपं विलोकनीयम् । तच्छ्रुत्वा तौ मनसि जगदतुः–अहो ! वैपरीत्यं कथं दृश्यते ? यदसौ स्वमुखेनैव स्वस्य रूपं वर्णयति, महतान्तु नेयं रीतिः । ततस्तौ जगदतुः–चक्रिन् ? इदानीमावां व्रजावः, पुनरागत्य द्रक्ष्यावस्ते शरीरशोभामित्युदीर्य तौ जग्मतुः ।

चक्रवर्त्यपि कृतनित्यक्रियो वस्त्राभरणादिसज्जिततनुः सिंहासनासीनोऽभवत् । तत्रावसरे पुनस्तौ देवौ समागत्य चक्रवर्ति-रूपं वीक्ष्य शिरः कम्पनं विदधाते । राजा वक्ति– किं भोः ! प्रागिवा-ऽधुनाऽपि युवाभ्यां शिरः कम्पितम् । तत्र को हेतुः ? तत्तथ्यं ब्रूतम् । तौ कथयतः– महाराज ! तदा ते रूपममृतमय विलोकितम्, अधुना तु विषमयं दृश्यते । राजा वक्ति– कथं ? कोऽत्र प्रत्ययः ? तौ वदतः– यदि न प्रत्येषि तर्हि ताम्बूलं चर्वयित्वा ष्ठीवतु । तत्रोपविष्टा मक्षिका तदशनेन तत्कालं यदि म्रियेत तर्हि मदुक्तं सत्यमवगन्तव्यम् । राजन् ! मादृशां ज्योतिर्विदां देवानाञ्च गीः कदापि मुधा न भवति । तथ्यं वच्मि

तवाङ्गे वैकृत्यमागतम् ।

अथ चक्री तदैव ताम्बूलं ष्ठीवित्वा तद्भक्षणान्मक्षिकामरणमालोक्य तद्भाषितं तथ्यममंस्त । इत्थं संजातप्रतिबोधः स चक्री षट्खण्डामिमां महीं विहाय सर्पः कञ्चुकमिव राज्यादिकं सकलं परित्यज्य चारित्रमादाय द्वात्रिंशत्सहस्रराजभिस्तथा सुनन्दाप्रमुखप्रमदाभिश्च बहुधा निवारितोऽपि सर्वमप्युपेक्ष्य गृहान्निरगात् । षण्मासपर्यन्तं ते सर्वे लोकास्तमन्वगुः । पश्चात्तं विरागिणं मत्वा निराशाः परावर्तन्त ।

अथास्य साधोः सप्तशतवर्षाणि यावन्महारोगस्तस्थिवान्, तमपि स शान्तमनाः सेहे । तस्मिन्समये देवास्तत्परीक्षाकृते वैद्यरूपेण तदन्तिकमगुः । साधुना पृष्टम्- भवन्तः के सन्ति ? किमर्थञ्चात्रागताः सन्ति । ते जगदुः-वयं वैद्याः, भवत ईदृशं जातं रोगं श्रुत्वा तच्चिकित्सार्थमत्राऽऽगताः स्मः । साधुरवदत्- भो ! भवन्तः कर्मरोगमपि चिकित्सितुं जानन्ति ? उत शारीरिकं रोगमेव । तैरुक्तम्- महाराज ! कर्मरोगं प्रतिकर्तुमस्माकं शक्तिर्नास्ति । तत्रावसरे स मुनिरङ्गुल्या कफं निःसार्य तेभ्यो दर्शितवान् । तत्तु ते साक्षात्कुन्दनमिव निर्मलं सुरभिसुवर्णमपश्यन् ।

पुनरुक्तं मुनिना- भोः ! ममेदृशी शक्तिर्विद्यते तथापि शरीरेऽस्मिन्नश्वरेऽशुचिमये समुत्पन्नेन नानाविधरोगेण जीवस्य मनागपि दुःखं न जायते । किञ्च- येन यादृशं कर्मसंचितं, तत्फलं तेन भोक्तव्यमेव । तत्र का परिवेदना ? अन्यच्च बाह्योपचारैरान्तरो रोगो नैव शाम्यति । एवं तदीयां दृढभावनां चारित्रस्थैर्यञ्च विदित्वा तं

संस्तुत्य वन्दित्वा ते देवा निजस्थानं ययुः ।

स मुनिस्तु चारित्रं परिपाल्य स्वेष्टमसाधयत् । इत्थं सनत्कुमारमुनिरिव यःकोऽप्यन्यःशरीरमशुचिमयं भावयन् संसारमसारं हास्यति । सोऽपि सनत्कुमार इव शिवपदमवश्यमेष्यति ।।

५-अथ ७-आश्रवभावनायामाह-

इह अविरति मिथ्या योग पापादि साधे,
इण उण भव जीवा आश्रवे कर्म बांधे ।
करम जनक जे ते आश्रवा जे न रुंधे,
समर समय आत्मा संवरी सो प्रबुद्धे ॥२२॥

अविरतिर्द्वादशधा, षोडशधा कषायः, पञ्चधा मिथ्यात्वं, पञ्चदशधा योगः, एतान्याश्रवद्वाराणि भवन्ति । तैरसौ जीवः कर्माणि बध्नाति, तानि जित्वा पुनरसौ कर्माण्यनर्जयन् समत्ववान् संवृतो भवति ज्ञानादियुतं बोधिबीजञ्चाभ्युपैति ।।२२।।

इन्द्रवज्रा-छन्दसि-

जे कुंडरीके व्रत छांडि दीधुं,
भाई तणुं ते वलि राज्य लीधुं ।
ते दुःख पाम्या नरके घणेरा,
ते हेतु ए आश्रव दोष केरा ॥२३॥

पुरा कश्चन कुण्डरीकनामा राजर्षिर्व्रतं त्यक्त्वा भ्रातू राज्यमगृह्णात्तेन नारकीं यातनां महतीं स प्राप्तवान् । अतः श्रेयोऽर्थिभिराश्रवस्त्याज्यः ।।२३।।

१२-आश्रवदोषान्नरकमितस्य कुण्डरीकस्य प्रबन्धः-

यथा-महाविदेहक्षेत्रे पुण्डरीकिणीपुर्यां पुण्डरीक- कुण्डरीक-नामानौ भ्रातरौ राज्यं बुभुजाते। अत्रान्तरे तत्र कश्चन ज्ञानी गुरुरागात्तदीयदेशनां निशम्य संजातप्रतिबोधः कुण्डरीको राज्यं पुण्डरीकाय दत्त्वा दीक्षां ललौ। स सरसनीरसमाहारं कुर्वन् महारोगग्रस्तोऽभूत्। ततः परिणाममपश्यन् वर्षसहस्रं चारित्रं परिपाल्याऽपि कर्मप्राबल्यतः स संयमं जहौ।

अथ गृहे स्थातुमिच्छया गृहान्तिकेऽशोकवाटिकायां धर्मध्वजं मुखवस्त्रञ्चालम्ब्य शोचितुं लग्नो यदसौ बन्धुर्मे राज्यं दास्यति न वेति विमृशंस्तस्थौ। तावत्तत्र कुतोऽपि कार्यप्रसङ्गात्समागतः पुण्डरीकस्तमुपलक्ष्य प्रणम्य चागमनकारणमपृच्छत्। तत्र समये कुण्डरीकः सर्वं मनोगतमुदन्तं तमवदत्तदाकर्ण्य पुण्डरीकस्तस्मै राज्यं दत्त्वा गृहमानयत्परं सामन्तादयः केऽपि तं नोपासत। किन्तु धिगेनं यो हि सहस्रवर्षाणि संयमे स्थित्वा पुना राज्यं बुभुक्षते, ततः केनाप्यस्यान्तिकं न गन्तव्यं नासौ सेवनीय इति सर्वैर्निश्चितम्।

अथैकदा कुण्डरीको यथेच्छसरसं गरिष्ठाहारं विधाय रात्रौ कतिवारमवमद्विसूचिका च जाता, इत्थं नानादुःखैर्भृशमाकुलमपि तं कोऽपि किञ्चिदपि नोपचचार। तत्रावसरे मनसि दुर्ध्यायति यद्यहं शुभस्वास्थ्यं लप्स्ये तर्हि प्रगे सर्वानेव भृत्यान् प्रधानादींश्च शिक्षयिष्ये। इत्थं दुर्ध्यानेन चाऽसमाधिना मृत्वा स कुण्डरीकः सप्तमं नरकमगमत्। तत्र चाऽप्रतिष्ठाननामकं नरकावासमासाद्य त्रयस्त्रिंश-

त्कोटिसागरोपमायुष्कोऽभूत्, इत्थं कुण्डरीकस्याश्रवद्वारप्रभावत ईदृशी दुर्गतिर्जाता । अतः श्रेयोऽर्थिभिः सर्वैराश्रवद्वारो रोद्धव्यः, संवरश्चैषामाश्रवाणां यत्नेन विधातव्यः ।

६-अथ ८-संवरभावनामाह-

जे सर्वथा आश्रवने हटावे,
ते संवरी संवर भाव पावे ।
ते भाव वन्दो गुरु वज्रस्वामी,
जेणे त्रिया कंचन कोडि वामी ॥२४॥

यो हि सर्वथा तान्याश्रवस्थानानि निवारयति संवरञ्च समाश्रयति स एव प्राणी सदैव सुखी जायते । वज्रस्वामीव । यथा-स मुनिवर्यः कोटिदीनारान् महारूपवतीं तरुणीमनुरागिणीमीदृशीं कामिनीञ्च त्यक्तवान् समादत्तवांश्च परं संवरम् । तेन स सर्वैर्वन्दनीयो मूर्द्धन्यश्चाभूत्सर्वेषामिति ॥२४॥

१३-संवरं भजमानस्य वज्रस्वामिनः प्रबन्धः-

यथा-पाटलीपुरनगरे निवसतो धनावहमहेभ्यस्य महारूपवती रुक्मिणीनाम्नी कन्या वज्रस्वामिनो देशनामाकर्ण्य तद्रूपेण विमोहिता निजसदनमागत्य मातापितरावेवमवादीत्- हे पितरौ ! अहमनेन देहेन वज्रस्वामिनमेव वरिष्ये, नान्यं भर्तारं विधित्सामि । ताभ्यामुक्तम्- हे वत्से ! स त्यागी वर्तते, तस्मात्त्वां न परिणेष्यति । अनेनाश्रवद्वारं सकलं प्रत्याख्यातमतः कोऽप्यन्यो गुणवान् वरो वरणीयः । इत्थं बहुधा प्रतिबोधिताऽपि यदा सा न बुबुधे, तदा धनावहः श्रेष्ठी

कोटिदीनाराँल्लात्वा रुक्मिणीं पुरस्कृत्योपाश्रयमागत्य वज्रस्वामिनमवदत्- महाराज ! एतान् कोटिदीनारान् गृहाण मम पुत्रीमिमां परिणीयाऽनुगृहाण चेत्युदीर्य कन्यां दीनारांश्च तत्रैव मुक्त्वा निजसदनमाययौ । तदनु तथा कन्यया वज्रस्वामिनं चालयितुं कृतेष्वपि शतश उपायेषु मेरुशिखरमिवाऽचलमवगत्य प्रतिबुद्धा सती पितृदत्तं दीनारादिसर्वं सप्तक्षेत्रेषु विभज्य प्रव्रजिता सा कन्याऽऽत्मसाधनतत्परा जाता ।

१४-अथ पुनः संवरद्वारमाद्रियमाणस्य पुण्डरीकस्य प्रबन्धः-

पुरा संयममार्गात्परिभ्रष्टः कुण्डरीको मुनी रजोहरणमुखवसनादि कुत्रचित्तरावाललम्बे । पुनः कुण्डरीके राज्यासनमापन्ने पुण्डरीकस्तदा धर्मध्वजादि तदुपकरणमादाय गुर्वन्तिकं गत्वैव मयाऽन्नोदकं ग्राह्यमिति नियममङ्गीकृत्य ततश्चचाल मार्गे च पादचारिणस्तस्य कङ्टकादिविद्धाभ्यां पद्भ्यां रक्ते निर्गच्छत्यपि मनागपि संवरमत्यजन्नग्रे गच्छंस्तृतीये दिवसे कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धविमाने त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्को देवोऽभूत् । अतो वच्मिसंवरे महाँल्लाभोऽस्ति, अतोऽसौ सर्वैरादर्तव्यः ।।

५-अथ ९-निर्जराभावनामाह-

दुअदश तप भेदे कर्म ए निर्जराए,
उतपति थिति नाशे लोक भावा भराए ।
दुरलभ जग बोधी दुर्लभा धर्म बुद्धि,
भव हरणि विभावो भावना एह शुद्धि ॥२५॥

कस्य निर्जरा समुदेति ? यो हि षड्धा बाह्यं, तावदेवाऽऽभ्यन्तरञ्च तपः करोति, इत्थं द्वादशविधतपः करणेन यः सञ्चितानि कर्माणि क्षपयति यस्याग्रे च कर्माणि नोत्पद्यन्ते तस्य पुंसो निर्जरा जायते । अनयैव भव्याः सद्बोधिबीजं लभन्ते, भवञ्च निस्तरन्ति ॥२५॥ उपजाति-वृत्तम्-

बे निर्जराऽकाम सकाम तेही,
अकाम जे ते मरुदेवि जेही ।
जे ज्ञान थी कर्म ज निर्जरीजे,
दृढप्रहारी परि ते तरीजे ॥२६॥

सेयं निर्जरा सकामाऽकामाभ्यां द्विविधा वर्तते । मरुदेवी माता पूर्वभवे यदज्ञानेन परवशत्वेन च कर्माणि क्षायितवती, साऽकामा निर्जरा कीर्त्यते । यथा दृढप्रहारी ज्ञानेन स्वाधीनत्वेन च कर्माणि क्षपयामास, सा सकामनिर्जरा भावना विज्ञेया ॥२६॥

५-अथ १०-लोकस्वरूपभावनामाह-

जिम पुरुष विलोये ए अधोलोक तेवो,
तिरिय पण विराजे थाल स्यो वृत्त जेवो ।
उरधमुरज जेवो लोकनालि प्रकास्यो,
तिम त्रिभुवन भानु केवली ज्ञान भास्यो ॥२७॥

यथा कश्चित्पुरुषः कटितटसमारोपितकरः प्रसारितचरणः स्थितो भवेत्तथेयं लोकस्थितिरप्यवगन्तव्या । मध्यलोकस्तु स्थालवद्वर्तुला । ऊर्ध्वभूमौ रक्षितमर्दलवत्प्रतिभाति । अधश्च भुवनपति-व्यन्तर-सप्तनरक-सार्द्धद्वयद्वीपा वर्तन्ते चोपरि द्वादशदेवलोक-

नवग्रैवेयकपञ्चाऽनुत्तरविमानानि सन्ति, तदुपरि सिद्धशिला विद्यते। तत्सर्वं त्रिभुवनदिवाकरकेवलिजिनेश्वरैः प्रकाशितमस्ति ।।२७।।

५-अथ ११-बोधिदुर्लभभावनां १२-धर्मभावनाश्चाऽऽह-स्वागता-छन्दसि-

बोधिबीज लहि जेह अराधे,
ते इलासुत परे शिव साधे ।
धर्म भावना लही भवि भावो,
राय संप्रति परे सुख पावो ।।२८।।

इह हि बोधिबीजं-'सम्यक्त्वं' समासाद्य यो हि तदाराधयति स इलाचीकुमारवन्मोक्षमुपैति। एवं धर्मभावनावन्तोऽपि भव्याः सम्प्रति राजवत्सुखिनो भवन्ति । यथा पूर्वभवं सम्प्रतिनृपो महारङ्कोऽपि धर्मभावनयाऽत्र जन्मनि राज्यसुखमन्वभूत्। अतो हे भव्याः ! यूयमपि सम्यक्त्वमाराधयत तथा धर्मं भावयत । यथाऽत्र सुखमनुभूय परत्र शिवसुखमधिगमिष्यथ। तदुपरि-इलाची-कुमारकथा, परं सा पुराऽत्र धर्मवर्गे सप्तत्रिंशत्तमे ३७ प्रबन्धे निर्दिष्टा, ततोऽत्र नो लिखितास्ति ।



१५-धर्मभावनाया सुखमधिगतस्य सम्प्रतिराजस्य कथा-

यथाऽसौ भवान्तरे द्रुमकनामा भिक्षुरभूत्तस्य मुखे शरीरे च सदैव मक्षिकाः पतन्ति स्म । कोऽपि गृही स्वाऽन्तिके स्थातुं तस्य घृणास्पदत्वादवकाशं न प्रयच्छति । तं विलोक्य सर्वोऽपि जनस्तं तिरस्करोति मुखं पिधत्ते घ्राणं संकोचयति स्म ।

अथैकस्मिन्दिने स द्रुमकः कस्यचिद्धनवतो गृहाद्गोचरीं लात्वा बहिर्यान्तमेकं मुनिं भोजनमयाचत । सोऽवक्- भो ! मयाऽन्यस्मै कस्मैचिदपि न दीयते कमपि गृहिणं याचस्व । इत्थं वारितोऽपि स तदनुगच्छन्नुपाश्रयमाययौ, तत्रापि गुरुं भोक्तुमयाचत । तेनोक्तम्- साधुना समानीत आहारः साधुभ्यो दीयतेऽन्यस्मै दातुं न शक्यते । सोऽवक्- भो गुरो ! यदीदृगाचारो वर्तते तर्हि मामपि दीक्षय तदनु भोजय । तत्रावसरे चिकित्सया नीरोगो भविष्यतीति मत्वा तदैव तमदीक्षयत् ।

तदनु सरसं विविधमाहारं यथेच्छं स भुक्तवानिति निशि तस्य विसूचिकां संजाता । नवीनं तं साधुं तदवस्थमालोक्याऽनेके धनिनो जनास्तमुपचरितुं सेवितुञ्चाऽऽजग्मुः। तान्विलोक्य स एवं व्यमृशत्- यथा-धन्योऽयं वेषो यत्प्रभावादद्यैतेऽपीदानीं निर्विकारं मां सेवन्ते ये पुरा मां तिरस्कुर्वन्ति स्मः । मामागतं विलोक्य महतीं घृणामकुर्वन्त, इदृशीं धर्मभावनां विदधत्स आयुषः पूर्णत्वे समाधिना कालं कृत्वा धर्मभावनया सम्प्रतिनामा राजाऽभवत् ।

सोऽन्यदा निजगवाक्षजालस्थित आर्यसुहस्तिसूरिं चतुष्पथे व्रजन्तं विलोक्य पूर्वभवं सस्मार । तदैव सौधादवतीर्य तत्रागत्य कृताञ्जलिनृपो गुरुं प्रणम्य जगाद- भोः स्वामिन् ! मां विजानासि, गुरुणोक्तम्- सर्वे जानन्ति, त्वं राजासीति । तदा पुनरवदद्राजा- स्वामिन् ! अहं ते शिष्यक्षुल्लकोऽस्मि द्रुमकनामा । त्वं मे परमोपकार्यसि, इदं राज्यं तवैव गृहाण, इतोऽन्यत्किमुपहरामि । तत्रावसरे श्रुतज्ञान- प्रयोगेण गुरुणापि सर्वमवेदि निगदितञ्च-भो राजन् ! त्वदुदितं सर्वं

सत्यमस्ति । त्वं धर्मेण राज्यं पालय, मम गतस्पृहस्य राज्येन किं ? इत्युदीर्य गुरुरन्यत्र विजहार ।

राजा धर्मे मतिदार्ढ्यं नयन्ननेकानि नूतनजिनचैत्यानि जीर्ण-चैत्योद्धारांश्च नानाधर्मशालादि धर्मकृत्यमकरोत् । निजराज्ये सर्वत्र जिनधर्मं प्रचारितवान् । इत्थं धर्मभावनया राज्यसुखं चिरमनुभूय प्रान्ते देवगतिमाप्तवान् । अतो धर्मभावना सर्वैर्भव्यैः सदैव सादर-मनुभाव्या ।

अथ ६-राग-विषये इन्द्रवज्रा-छन्दसि-

रागे न राचे भवबन्ध जाणी,
जे जाण ते राग वशे अनाणी ।
गौरी तणे राग महेश रागी,
अर्द्धांग देवा निज बुद्धि जागी ॥२९॥

यः खल्वात्मानं प्रेमद्वेषादिना रज्यति रूपान्तरमापादयति विकारिणं च विधत्ते तञ्च विभाववाहित्वं विरच्य तत्रात्मनि नानाविधं क्लेशमुत्पादयत्यसौ रागः । ईदृशं रागं भवभ्रमणकारिणं कर्मबन्धन-स्यादिकारणं ज्ञात्वा भो भव्या ! यूयं तत्र नैव पतन्तु, तन्निवारणार्थं यथाशक्ति प्रयतध्वम् । तज्जयार्थं यैः सर्वथा तज्जयः कृतोऽस्ति तादृक्परमकृपालुसर्वशक्तिमत्श्रीमत्तीर्थङ्कराणां शरणं गृह्णीत, वीतरागदेवानां दृढालम्बनाद्यूयमपि दुष्टरागस्य जये समर्था भवेयुः । पश्यत-तज्जयं विना रागादेव लौकिकज्ञानवतां हरिहरादि-देवानामप्यङ्गवन्निजार्द्धाङ्गं निजनिजप्रेयस्यै दातव्यमभूत् । अतो बहुभवभ्रमणात्मको रागः सर्वैर्भव्यैः सर्वथा त्याज्य एव ॥२६॥

अथ ६-द्वेषोपरि-

रे जीव तूं ! द्वेष मने न आणे,
विद्वेष संसार निदान जाणे ।
अद्वेष थी तो सुख होय जेतुं,
विद्वेष थी तो दुःख होय तेतुं । (पाठान्तर)
रे जीव तूं द्वेष मने न आणे,
विद्वेष संसार निदान जाणे ।
सासू नणंदे मिलि कूड कीधूं,
झूँठु सुभद्रा शिर आळ दीधूं ॥३०॥

व्याख्या- हे जीव ! त्वया मनसाऽपि कस्यचिदुपरि द्वेषो न कर्तव्यः, यदसौ संसारस्य निदानमस्ति । तत्त्यागेन जीवः सदा सुखी तिष्ठति । अद्वेषिणां यादृशं सुखं जायते, तत्तु वक्तुमपि न शक्यते । किञ्च- यः कस्मैचिद् द्वेष्टि, सोऽनन्तसंसारी जायते । यथा-पुरा श्वश्रूर्ननान्दा च मिथो मन्त्रयित्वा द्वेषेण सुभद्रायै कलङ्कं ददतुः । परं सत्यशीला साऽऽमतन्तुना चालन्या कूपाज्जलं समानीय चम्पापुर्या द्वाःस्थकपाटं सकलैरनुद्घाट्यं तज्जलसेकादुद्घाटितवती । सकलजनसमक्षं तत्कपाटोद्घाटनेन मुधा जातकलङ्कान्मुक्ताऽभवत्ततश्च सा सुखं लेभे । तस्याः श्वश्रूननान्दारौ च सर्वे लोका निनिन्दुस्तेन तयोर्भृशं दुःखमजायत । किञ्च- रागद्वेषाभ्यामिह केवलं दुःखमेव भवति, शुभफलन्तु मनागपि न जायते । इति विजानता केनचिदपि रागद्वेषौ न कर्तव्यौ । यदाह-

रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ? ।
तावेव यदि न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ? ॥१॥

यस्य पुंसो रागद्वेषौ विद्येते, तस्य पुंसस्तपसाऽनुष्ठितेनाऽपि किमपि न सिद्ध्यति, तयोः सद्भावे तत्कृततपसो व्यर्थत्वात्। पुनर्यस्य चित्ते तौ रागद्वेषौ मनागपि न स्तस्तस्याऽपि तपःकरणं वृथैव, यत्तस्य तपो विनैव मनःशुद्ध्या कृतार्थत्वात् ॥३०॥

अथ ७-सन्तोष-विषये वसन्ततिलका-वृत्तम्-

सन्तोष-तृप्त जनने सुख होय जेवुं,
ते द्रव्यलुब्ध जनने सुख नाहि तेवुं।
सन्तोषवन्त जनने सहु लोक सेवे,
राजेन्द्र रंक सरिखा करि तेह केवे ॥३१॥

इह सन्तोषिणो जना यत्सुखं विन्दन्ति तत्तु लुब्धजनैः स्वप्नेऽपि नानुभूयते। सन्तुष्टाः प्राणिनः सर्वैः प्रशस्यन्ते। सन्तोषिणो जना रङ्कान् धनिनश्च समभावेन पश्यन्ति। बहुलोभिनस्तु सदैव भृशं दुःखीभवन्ति। किमधिकं कनकरजतगिरी प्राप्याऽपि लुब्धो नरो न तृप्यति। यदाह-

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं,
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ॥१॥

तनकी तृष्णा तृप्त है, अन्न सवा के सेर।
मन की तृष्णा नहि मिटे, आय मेरु जो घेर ॥१॥

अतः सन्तोष एव सुखस्य निदानमवगन्तव्यम्। नीतिशास्त्रेऽप्युक्तम्-

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।

कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं,
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥१॥

यद्यपि फणिनः पवनमेव पिबन्ति तथापि बलवन्तो भवन्ति, एवं वनगजास्तृणान्यश्नन्ति, मुनिवरा-वनवासिनो योगिनोऽपि कन्दैः फलैश्च दिनानि यापयन्ति । अतः सन्तोषो नरस्य निधानमिव सुखदो भवति, ततः सन्तोषः सर्वैरेव विधेयः ॥३१॥



अथ ८-सदसद्विवेक-विषये उपजाति-वृत्तम्-

जो जेह चित्ते सुविवेक भासे,
तो मोह अन्धार विकार नासे ।
विवेक विज्ञान तणे प्रमाणे,
जीवादि जे वस्तु स्वभाव जाणे ॥३२॥

विवेकिनः प्राणिनो मोहतमोऽज्ञानान्धकारो नश्यति । ततश्च तस्य विज्ञानचातुर्यादिकं सर्वमपि प्रामाण्यमुपैति । जीवाऽजीवादिसकलतत्त्वस्वरूपं जानाति ॥३२॥

बालपणे संयम योगधारी,
वर्षासमे कांचलि जेण तारी ।
श्रीवीरकेरो अइमुत्त तेई,
सुज्ञान पाम्यो सुविवेक लेई ॥३३॥

किञ्च-भगवतो महावीरस्य प्रभोः कश्चनाऽतिमुक्ताभिधानः शिष्यक्षुल्लकः शैशव एव गृहीतचारित्रश्चातुर्मासे जलोपरि श्रीफलकाङ्चलिमतारयत् । उत्तमविवेकोदयादीर्यापथिविधिं प्रतिक्रामन्

'पणगदगमट्टिमक्कडा' इति पदं सम्यग्विभावयन् मिथ्यादुष्कृतमिति मुहुर्निगदन् त्वरितमेव केवलज्ञानमाप ।।३३।।

अथ ९-निर्वेद-वैराग्यविषये शार्दूलविक्रीडित-छन्दसि-

जे बन्धूजन कर्मबन्धन जिसा भोगा भुजंगा गणे,
जाणन्तो विष सारिखी विषयता संसारता ते हणे ।
जे संसार असार हेतु जनने संसारभावे हुवे,
भावो तेह विरागवन्त जनने वैराग्यता दाखवे ।।३४।।

यो हि कुटुम्बवर्गं कर्मबन्धनमवैति तथा सांसारिकं सुखमपि सर्पमिव भयङ्करमसारं रोगजनकञ्च पश्यति, वैराग्यवान् स पुमान् संसारं सुखेन तरति । यश्च संसारे रज्यति, स पुनःपुनः अत्रैव निपतति । अतो विषयेषु वैराग्यं विधातव्यम् ।।३४।।

वसन्ततिलका-वृत्तम्-

निर्वेद ते प्रबल दुर्भर बन्दिखानो,
जे छोडवा मन घरे बुध तेह जानो ।
निर्वेद थी तजिय राज विवेक लीधो,
योगीन्द्र भर्तृहरि संयमयोग सीधो ।।३५।।

किञ्च-निर्वेदो नाम विषयवासनाराहित्यं, अत एव निर्वेदी पुमान् संसारममुं कारागारं जानाति । यथा-कश्चित्प्राणी दैवादेकदा कारागारान्मुक्तो भवति, पुनस्तत्कर्म कदापि नैव कुरुते, येन तत्र पुनः स न गच्छेत् । तथैवायं प्राणी विवेकप्राप्त्या सद्य एव संसारं मुञ्चति, तेन पुनः स भवं नो भ्राम्यति भर्तृहरिरिव । अयं हि

संजातवैराग्याद्राज्यं विहाय योगमार्गमशिश्रियत् ।।३५।।



१६- अथ निर्वेदाद् गृहीतसंयमस्य भर्तृहरेः प्रबन्धः-

यथा-पुरा राज्ञो भर्तृहरेः कश्चिद्वैदेशिको विप्रः फलमेकम-मृतमुपाहरत् कथितञ्च- राजन् ! य एतद् भोक्ष्यते नरो नारी वा स यावज्जीवं यौवनं लप्स्यते । ततः स तद् गृहीत्वातिप्रेम्णा निजप्रेयस्यै राज्ञ्यै ददौ जगाद च- प्रिये ! त्वयैतदवश्यं भोक्तव्यं, यदेतदशनेन यौवनं ते सदैव स्थास्यति ।

अथ तत्फलमादाय सा निजप्रेयसे कस्मैचन हस्तिपकाय जाराय दत्तवती । सोऽपि तादृग्गुणशालि फलं लात्वा निजप्रियायै गणिकायै दत्तवान् । सा तल्लात्वा दध्यौ-अहमेतदशित्वा यावज्जीवं स्थिरयौवनमागत्य किं साधयिष्ये ? प्रत्युताधिकं पापमेव विधास्ये । अत एतत्फलं सुखेन प्रजापालकाय राज्ञे दातव्यं येन तुष्टो भर्तृहरिः प्रचुरं धनं दास्यति बहु सत्करिष्यति चेति विमृश्य सा गणिका तत्फलं सदसि समागत्य नृपस्योपायनमकरोत् ।

नृपस्तदुपलक्ष्य तदैव राज्ञ्याः पार्श्वमेत्य तामपृच्छत्- अयि प्रिये ! तत्फलं त्वया भुक्तं न वा ? तयोक्तम्- हे प्राणेश्वर ! त्वदग्रे मृषावादेन किम् ? अतोऽहं सत्यं निगदामि । परमेषोऽपराधस्त्वया क्षाम्य एव । नृपोऽवदत्- सत्यं ब्रूहि क्षान्तस्तवापराधो मया । अत्रावसरे राज्ञी जगाद- स्वामिन् ! मया त्वत्प्रदत्तं तदमृतफलं हस्तिपकाय दत्तम् ।

ततो नृपः सभामागत्य तमाकार्य पर्यपृच्छत्- भो ! यत्ते फलं

राज्ञी ददौ तत्किं कृतम्, भुक्तं वा कस्याऽपि प्रदत्तं ? तत्सर्वं सत्यं वद। तेनोक्तम्- स्वामिन् ! मया तत्फलं गणिकायै दत्तम्।

ततस्तां वेश्यामपृच्छत्- अयि गणिके ! त्वया मे कथमेतदुपहृतम्। स्वयं किन्न भुक्तम् ? साऽवक्- नाथ ! अहमाजन्म यदि यौवनं लप्स्ये तर्हि महन्मेऽवद्यमुत्पत्स्यतेऽतो मयैतन्न भुक्तम्। श्रीमान् भवांस्तु राजा, बहूनां पालकोऽस्ति अत एतत्फलमशित्वा चिरं लोकानुपकरिष्यति। अथैतदाकर्ण्य सञ्जातवैराग्यो भर्तुहरिस्तदेमं श्लोकमपठत्। यथा-

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥१॥

अथ तदैव निर्विण्णो राजा योगी भूत्वा गृहमत्यजत्। यतः संसारं विहायैव प्राणी सुखमुपैति नान्यथा।

अथ १०-आत्मबोध-विषये-

जे मोह-निंद तजि केवल बोधि हेते,
ते ध्यान शुद्धि हृदि भावना एक चित्ते।
ज्यूं निष्प्रपञ्च निज ज्योतिस्वरूप पावे,
निर्बोध थी अव्यय मोक्ष सुखार्थ आवे ॥३६॥

इह यो हि मोहनिद्रां त्यजति, तस्य केवलज्ञानबीजमुदेति। तदनु स शुद्धध्यानेन निर्मलीकृतचेतसि परां भावनां भावयन् मुक्तभवप्रपञ्चजालो ज्योतिःस्वरूपममुमात्मानं साक्षात्करोति। पुनरत्र संसारे निर्विण्णतामापन्नः प्राणी मोक्षं प्रति यतमानो भवति।

इत्थमात्मचिन्तनेनासौ जीवः संसारसागरं तरीत्वा मुक्तिपुरीमुपैति ॥३६॥

मालिनी-छन्दसि-

भव विषय तणा जे चंचला सौख्य जाणी,
प्रियतम प्रिय भोगा भंगुरा चित्त आणी ।
करम दल खपेई केवलज्ञान लेई,
धन धन नर तेई मोक्ष साधे जिकेई ॥३७॥

किञ्चाऽत्र संसारे यानि गन्धस्पर्शरूपरसशब्दात्मकानां पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिविषयसुखानि समुपलभ्यन्ते तानि चपलेव चञ्चलानि सन्ति । तथा कामिनीभ्रूविलासमृदुहासादिसमुद्भूतमदनविलासोऽपि क्षणिकः प्रतीयते । इति विजानता प्राणिना मोक्षसुखमधिगम्यते । अयमभिप्रायो यः संसारासारतां जानाति, विषयसुखं सर्वमशाश्वतं पश्यति, पुत्रकलत्रादिसंयोगजं सुखमपि नश्वरं परिणामदारुणं वेक्षते, इत्थं निर्विण्णः सन् बोधिबीजमासाद्य संसारं त्यजति संयमं समाश्रयति, स मोक्षश्रियं सेवते । धन्यस्तादृशो विशिष्टो जनः सद्बुधैरुच्यते ॥३७॥

इति सर्वजीवहितेच्छुकेन पण्डितश्रीमत्केसरविमलगणिना
भाषाकवितामयविरचितायां ततः
श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-साहित्यविशारद-विद्याभूषण-
श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरेण सरलसंस्कृते
संकलितायां सूक्तमुक्तावल्यां चतुर्थो मोक्षवर्गः समाप्तः ॥

अथ धर्माऽर्थकाममोक्षानिति पुमर्थचतुष्टयान् प्रत्येकं विस्तरतः संवर्ण्य सम्प्रति तानेव संक्षेपतो वर्णयन्नाह-

तत्र १ प्रथमो धर्मवर्गः-द्रुतविलम्बित-छन्दसि-

दुरगतिं पडतां सब जन्तुने,
धरणथी धरमी भण तेहने ।
संयम आदि कहे दशधा भलो,
सुगुरुथी वह धर्म ज सांभलो ॥३८॥

यथा-दुर्गतौ पतन्तोऽमी जीवा यन्धृत्वा समुद्धृता भवन्ति, स एव धर्म उच्यते । सोऽयं धर्मः संयमादि-भेदेन दशधा विद्यते । स धर्मः सदा गुरुमुखैः श्रोतव्यो भव्यैर्यथा मनसि सन्तोषः समुद्गच्छेत् ॥३८॥

अथ दशधा धर्मभेदानाह-

खंती मद्दव अज्जव, मुत्ति तव संजमे य बोद्धव्वे ।
सच्चं सोयं अकिंचणं च, बंभं च होइ जइधम्मो ॥१॥

यथा-क्षान्तिः- क्षमा १, मार्दवं- कोमलता २, आर्जवं- सरलता ३, मुक्तिः- निस्संगता ४, बाह्याभ्यन्तराभ्यां तपः ५, संयमं सप्तदशधा ६, सत्यं सत्य-हितप्रिययुक्तं वक्तव्यं ७, शौचमन्तःशुद्धिः- रागद्वेषादिकषायराहित्यं तथा व्रतादौ निर्दोषः ८, अलोभि-बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहराहित्यम् ९, ब्रह्मचर्यम् १०, एते दश यतिधर्मा गुरुमुखाच्छ्रुत्वा सर्वैः सेवनीयाः ॥१॥

अथ २-द्वितीयोऽर्थवर्गः-

अरथ अरथ जेनी धर्म थी सिद्धि थावे,
धरम करम सिद्धी अर्थ थी सर्व पावे ।

सकल सुख ज गेहो सप्तखेत्रो सुजाणी,
भविक ! स्वधन सारो वावरो सौख्य खाणी ॥३९॥

इह ये पुरा धर्ममाराधयामासुस्तैरेव सुकृतिभिरत्र लोके महती संपल्लभ्यते। पुनः पुण्यवन्तो जीवाः सुकृतिलभ्यामिमां लक्ष्मीमासाद्य तां जिनभवन १ प्रभुबिम्ब २ पुस्तक ३ साधु ४ साध्वी ५ श्रावक ६ श्राविका ७ ऽऽत्मकसप्तसु धर्मक्षेत्रेषु सुवपन्ति येनाऽत्र भवे परमं सुखमनुभूय प्रान्ते च निश्चलं शिवपदं यान्ति ॥३६॥

अथ ३-तृतीयः कामवर्गः-

धरम अर्थ थि काम न वेगलो,
धरम काम करे सब ते भलो ।
सकल जीवन सौख्य सुकाम छे,
परम अर्थ ज काम निदान छे ॥४०॥

यथा-धर्मार्थाभ्यां कामस्य पार्थक्यं नास्ति किन्तु यो हि धर्मकार्यं वितनोति, स प्राणी जगति सर्वैः प्रशस्यते। येन सर्वजगतां प्राणिनां सुखमुत्पद्यते, तदेव कामो निगद्यते। किञ्चोत्कृष्टार्थस्य निदानं काम एवाऽस्ति, अस्यां गाथायां कामशब्देन कार्यं निगद्यते, अर्थात्सदुपार्जितस्य धनस्य धर्मकार्ये विनियोगकरणेनैव साफल्यमुपैति ॥४०॥

अथ ४ चतुर्थो मोक्षवर्गः-

वसन्ततिलका-छन्दसि-

ध्यायन्तु शाश्वतपदं निखिलात्मसेव्यं,
यस्योपदेशनपराः सुजना भवन्तु ।

मोक्षार्थसाधनफलं प्रवरं वदन्ति,
सन्तः स्वतो जगति तेऽपि चिरं जयन्तु ॥४१॥

हे भव्यजीवाः ! सर्वतः श्रेष्ठं शाश्वतममुं मोक्षं भजत । येन भवन्तोऽसारसंसारान्मुच्येयुः । पुरुषोत्तमस्तीर्थङ्करः प्रभुर्मोक्षसाधनमेव साधीयः फलं सर्वत्र निगदति । ये पुनस्तं साधयन्ति, त एव धन्या मान्या भव्याः प्राणिनो जगति चिरं जयन्तु, चिरायुषो विजयन्ते नेतरे । अतो मोक्षार्थं यतितव्यं श्रेयोऽर्थिभिः सर्वैरिति ॥४१॥

अथ ग्रन्थं समापयन्नुपसंहरति ग्रन्थकर्ता-

धर्मार्थकामवरनिर्वृतिसत्यमार्गे,
किञ्चिन्मया प्रकटितोऽत्र हितोपदेशः ।
सन्मार्गगामिसुनरैः शुभबुद्धिवर्यै-
स्तस्य स्वरूपमवगम्य सुधारणीयम् ॥४२॥

इह हि-धर्मार्थकाममोक्षचतुर्वर्गेषु मया यत्किञ्चिदुपदेशलेशः प्रकटितः-स्फुटीकृतः स सन्मार्गगामिभिर्मोक्षपथ-पथिकैर्भव्यैः स्व-चेतसि सदैव भावनीयः । भावयित्वा च तत्तत्त्वमधिगन्तव्यं तथैवा-ऽऽत्मनि धारणीयं स्वीकर्त्तव्यं इति शेषः ॥४२॥

उपजाति-वृत्ते-

इत्येवमुक्ता किल सूक्तमाला,
विभूषिता वर्गचतुष्टयेन ।
तनोतु शोभामधिकं जनानां,
कण्ठस्थिता मौक्तिकमालिकेव ॥१॥

धर्मार्थकाममोक्षवर्गैश्चतुर्भिः खण्डैर्विभूषिता-सुमण्डिता मयेत्थं

विरचिता सूक्तमाला-सूक्तानां=सुभाषितानां मालेव माला सैवेयं लोकानां हृदये स्थिता- मनसि सम्यगवधारिता सती मुक्ताहार इवाधिकां शोभां तनोतु- विस्तारयतु ।।१।।

अथ मूलग्रन्थव्याख्याकर्त्रीः प्रशस्तिः

शार्दूलविक्रीडित-वृत्ते-

आसीत्सद्गुणसिन्धुपार्वणशशी श्रीमत्तपागच्छपः,
सूरिश्रीविजयप्रभाभिधगुरुर्बुद्ध्या जितस्वर्गुरुः ।
तत्पट्टोदयभूधरे विजयते भास्वानिवोद्यत्प्रभः,
सूरिश्रीविजयादिरत्नसुगुरुर्विद्वज्जनाऽऽनन्दभूः ॥२॥

आर्यावृत्ते-

विख्यातास्तद्राज्ये, प्राज्ञाः श्रीशान्तिविमलनामानः ।
तत्सोदरा बभूवुः, प्राज्ञाः श्रीकनकविमलाख्याः ॥३॥
तेषामुभौ विनेयौ, विद्वान् कल्याणविमल इत्याख्यः ।
तत्सोदरो द्वितीयः, केसरविमलाभिधोऽवरजः ॥४॥
तेन चतुर्भिर्वर्गैः, रचिता भाषातिबद्धरुचिरेयम् ।
सूक्तानामिह माला, मनोविनोदाय बालानाम् ॥५॥
वेदेन्द्रियर्षिचन्द्रे(१७५४), संवत्प्रमिते श्रीवैक्रमे वर्षे ।
अग्रन्थि सूक्तमाला, केसरविमलेन विबुधेन ॥६॥



अक्षीणमहानसीया-द्यष्टाविंशतिसुलब्धिमापन्नम् ।
समचतुरस्रं देहं, वीरशिष्यं चतुर्ज्ञानयुतम् ॥१॥
प्रथमगणधरश्रीमद्-गौतमस्वामिनमद्भुतं वन्दे ।

यत्करदीक्षावन्तः, सर्व एव शिवपदं प्रापुः ॥२॥ (युग्मम्)

वसन्ततिलका-वृत्ते-

तीर्थङ्करस्य चरमस्य परात्परस्य,
शिष्याग्रणीः, सुगणधारकपञ्चमो यः ।
लोकत्रयीप्रथितशुभ्रयशाः सुधर्मा,
तन्नामगच्छगुरुपट्टपरम्परायाम् ॥३॥
श्रीविक्रमक्षितिपतिप्रतिबोधदातृ-
न्नानाऽनवद्यगुरुहृद्यनिबन्धकर्तॄन् ।
श्रीसिद्धसेनदिनकृन्निरवद्यविद्यो,-
मास्वातिवाचकमुनिप्रमुखानशेषान् ॥४॥

उपजाति-वृत्ते-

कुमारपालक्षितिपालबोध,-
कृद्धेमचन्द्राभिधसूरिमुख्यान् ।
नमामि चैताञ्जगदद्वितीय,-
कीर्तिव्रजान् सूरिगुणप्रशस्यान् ॥५॥
जजाप कोटिं वरसूरिमन्त्रं,
वियद्धमाम्लव्रतमाततान ।
वेदाष्टगच्छीयविवादिनश्च,
जिगाय सर्वान् सदसि प्रवाग्मी ॥६॥

शिखरिणी-वृत्ते-

जगच्चन्द्रः सूरिर्विमलगुणधामोदयपुरे,
प्रजापालात्तुष्टाद् बिरुदमिति लेभे गुरुतपाः।

ततः स्वच्छो गच्छोऽभवदिह तदीयो बहुतपाः,
तमेनं संस्तौमि प्रबलबहुविधं युगवरम् ॥७॥

इन्द्रवज्रा-वृत्ते-

प्रौढप्रतापी यशसा गरीयान्,
सन्मार्गगामी श्रुतपारदृश्वा ।
सौधर्मपट्टीयपरम्परासु,
श्रीरत्नसूरिः समभून्महीयान् ॥८॥

शालिनी-वृत्ते-

चित्रावल्ली सुप्रसन्ना सुरक्ता,
पादग्राहं संस्थिता येन मुक्ता ।
आचाम्लाख्या सत्तपस्याप्यकारि,
स्तुत्यं तं वृद्धक्षमासूरिमीडे ॥९॥

नानाशास्त्रविचारदक्षमतिमान् वादीन्द्रजिष्णुर्महान्,
भूविख्यातयशस्करो युगवरः सत्यप्रतिज्ञाधरः ।
तत्पट्टं समलङ्करिष्णुरभवद् देवेन्द्रसूरीश्वरो,
विद्याचञ्चुममुं नमामि गणपं सद्बोधिबीजप्रदम् ॥१०॥

इन्द्रवज्रा-वृत्ते-

एतस्य पट्टं समलङ्करोद्यः,
कल्याणसूरिर्महिमाम्बुराशिः ।
विद्वज्जनाग्रेसर उग्रतेजा-
स्तं सादरं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥११॥

तत्पट्टवार्धेरुदितं प्रमोद-

सूरीश्वरश्चन्द्रमिवार्कभासम् ।
स्वाचारनिष्ठं बहुकीर्तिमन्त,-
मन्वर्थनामानमभिष्टुवेऽहम् ॥१२॥

मालिनी-वृत्ते-

व्यरचि विशदराजेन्द्राभिधानः सुकोशः,
शरयुगमितसूत्रप्रोक्ततत्त्वप्रकाशः ।
कतिपयजिनधर्मग्रन्थनिर्माणकर्ता,
तमतुलमभिवन्दे श्रीलराजेन्द्रसूरिम् ॥१३॥

इन्द्रवज्रा-वृत्ते-

वन्दामहे श्रीधनचन्द्रसूरिं,
वादीन्द्रकान्तारविहारिसिंहम् ।
प्रारीप्सितग्रन्थसमाप्तिविघ्ना-
नुत्सार्य सिद्धिं ददतां ममैते ॥१४॥

शालिनी-छन्दसि-

भाषाटीकासर्वसारं गृहीत्वा,
पूर्वाचार्यैः कीर्तितां सूक्तमालाम् ।
सद्दृष्टान्तैः सारभूतैर्वरार्थै-
र्वर्गैस्तुर्यैः शालिनीं श्रेयसीं ताम् ॥१५॥
व्याख्यामेनां संस्कृतैर्मञ्जुगद्यै,-
रल्पज्ञानामाशु बोधोपपत्यै ।
श्रीभूपेन्द्रः सूरिरल्पप्रयत्ना,-
च्छ्रीहर्षाद्यैः साधुवर्गैः प्रणुन्नः ॥१६॥

धियः कृशत्वान्मनसः प्रमादाद्,
यदागमोक्तिप्रतिकूलमस्मिन् ।
न्यगादिषं तस्य ददामि मिथ्या,-
सुदुष्कृतं स्वात्मविशोधनाय ॥१७॥

वर्षे भूवसुनन्दचन्द्रतुलिते(१९८१) ज्येष्ठे वलक्षे (शुक्ल)दले,
श्रीसिद्धार्थसुतं स्मरन् गुरुदिने भक्त्या तृतीयातिथौ ।
श्रीमद्राजगढाभिधाननगरे सर्वर्द्धिशोभास्पदे,
ह्येतद्ग्रन्थसमापनं सुकृतवान् भूपेन्द्रसूरिर्मुदा ॥१८॥



द्रव्य सहायक

श्री गौडी पार्श्वनाथ जैन पेढी

आहोर

श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय
त्रिस्तुतिक संघ, आहोर